# श्रावक-संबोध

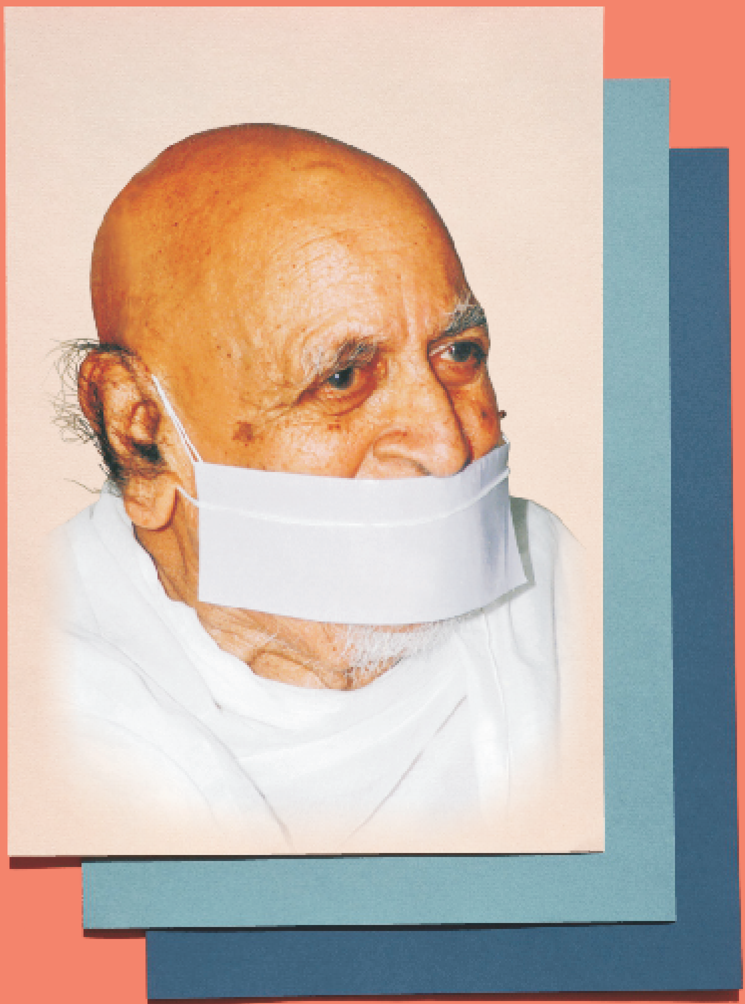

आचार्य तुलसी

# श्रावक-संबोध

आचार्य तुलसी

जैन विश्व भारती

**प्रकाशक :**
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080,224671
ई-मेल : books@jvbharati.org

**Books are available online at**
**http://books.jvbharati.org**

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

**द्वितीय संस्करण :** सितम्बर 2021 (3000 प्रतियां)

**मूल्य :** ₹ 150/- (एक सौ पचास रुपये मात्र)

**मुद्रक :** प्रिन्ट मैजिक, उदयपुर

**SHRAWAK SAMBODH by Acharya Tulsi** ₹ 150/-

# प्रस्तुति

जिनशासन में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका–इन चारों को धर्मतीर्थ का अंग माना गया है। साधु-साध्वियों की संख्या सीमित है। श्रावक-श्राविकाओं का विस्तार अधिक है। भगवान महावीर ने इन सबको धर्म की आराधना करने का अधिकार दिया। उन्होंने साधुवर्ग के लिए अनगार धर्म का निरूपण किया और श्रावकवर्ग के लिए अगार धर्म का। धर्माराधना के क्षेत्र में प्रमाद न हो, इस दृष्टि से समय-समय पर प्रेरणा और प्रतिबोध देने का उपक्रम चलता रहा है। उस उपक्रम को समय के प्रवाह में विलीन होने से बचाने के लिए साहित्य का आलम्बन लिया गया। जैन परंपरा के अनेक आचार्यों की रचनाएं इस दिशा में पथदर्शन दे रही हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्यों ने भी साधना और संगठन–दोनों क्षेत्रों में प्रशिक्षण देने के लिए साहित्य की संरचना की। उनकी रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य साधुवर्ग रहा। प्रासंगिक रूप में श्रावकों को भी प्रेरणा दी गई। मैंने भी साधु-साध्वियों के लिए अनेक रचनाएं कीं। साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का परामर्श रहा कि श्रावक-समाज को दिशादर्शन या प्रशिक्षण देने के लिए भी कुछ लिखा जाए। उनकी यह बात मुझे अच्छी लगी। मैंने 'श्रावक-संबोध' लिखना शुरू कर दिया।

श्रावकधर्म, श्रावक की चर्या, उपासना, व्रत, जीवनशैली आदि के विषय में बोध और प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से पद्य लिखने लगा तो आचार-बोध, संस्कार-बोध, व्यवहार-बोध, तेरापंथ-प्रबोध आदि रचनाओं से श्रावक-संबोध का आकार बड़ा हो गया। इस पर भी ऐसा लगता है कि बहुत बातें छूट गईं। फिर भी मूलभूत तत्त्वों और प्रसंगों को इसमें अन्तर्गर्भित करने की चेष्टा की गई है। श्रावक-संबोध में संगृहीत सूचनाओं पर भाष्य लिखना भी आवश्यक है। वह काम भी शीघ्र ही सम्पन्न किया जाएगा, ऐसा

चिन्तन है। प्रस्तुत पुस्तिका में पद्यमय मूलरचना के साथ उसका भावानुवाद भी है। श्रावक-श्राविकाएं यथाशक्ति इसे पढ़ें, समझें और कठस्थ करें। इसका प्रशिक्षण देने का दायित्व साधु-साध्वियों पर है। संभव हो तो वे भी 'श्रावक-संबोध' को कण्ठाग्र करें, गहराई से समझें और इसके शिक्षण-प्रशिक्षण से श्रावक-समाज को नई चेतना देने में सजग रहें।

जैन विश्व भारती **आचार्य तुलसी**
लाडनूं (राजस्थान)
23 मार्च, 1997

# प्रस्तावना

एक बार साहू शान्तिप्रसाद जैन ने कहा–'आप लोग प्रवचन में प्राय: साधु के आचार की चर्चा करते हैं। उसे जानना ठीक है, किन्तु हमें उससे अधिक लाभ नहीं मिलता। हमारे सामने गृहस्थ धर्म अथवा श्रावकाचार की चर्चा अधिक होनी चाहिए।' उनके इस अनुरोध से एक आवश्यकता का अनुभव हुआ। उस पर ध्यान केन्द्रित किया गया। प्रवचन में भी समय-समय पर गृहस्थ धर्म की चर्चा होती रही। इस सन्दर्भ में पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने एक ग्रन्थ भी तैयार किया, जो 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का'-इस शीर्षक से मुद्रित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रावकाचार का आधुनिकतम ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भ ऐतिहासिक घटना के साथ जुड़ा हुआ है। 'तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा-अगारधम्मं अणगारधम्मं च'[1]–भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्म-अगारधर्म (गृहस्थ धर्म) और अनगारधर्म (साधु धर्म) की प्ररूपणा की। यह सूत्र गृहस्थ धर्म की परम्परा में अद्‌भुत सूत्र है। गृहस्थ के लिए धर्म की आचार-संहिता जितनी स्पष्ट भगवान महावीर ने दी है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। गृहस्थ धर्म की आचार-संहिता बारह व्रतों के नाम से प्रसिद्ध है। ये बारह व्रत ही श्रावकाचार या श्रावकधर्म के रूप में प्रख्यात रहे हैं। श्रावकाचार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर–दोनों परम्पराओं में विपुल साहित्य रचा गया। 'उवासगदसाओ'[2] द्वादशांगी का सातवां अंग है। उसमें श्रावकधर्म का सांगोपांग वर्णन है।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रावकाचार का वर्णन इन ग्रन्थों में उपलब्ध है–

१. तत्त्वार्थ सूत्र — उमास्वाति

1. श्रावक-संबोध (पूर्वभाग) 1-5।
2. ओवाइयं सूत्र 75।

| | |
|---|---|
| २. आवश्यक निर्युक्ति | भद्रबाहु स्वामी |
| ३. आवश्यक चूर्णि | जिनदासगणी |
| ४. विशेषावश्यक भाष्य | जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण |

आर. विलियम्स ने अपने ग्रन्थ 'जैन योग' में श्रावकाचार सम्बन्धी २६ ग्रन्थों की तालिका प्रस्तुत की है[1]–

| **ग्रन्थ** | **ग्रन्थकार** | **काल** |
|---|---|---|
| 1. श्रावकप्रज्ञप्ति | उमास्वाति | 5वीं शताब्दी (?) |
| 2. पञ्चाशक प्रकरण | हरिभद्र विरहाङ्क | |
| 3. धर्मबिन्दु | हरिभद्र याकिनीपुत्र | |
| 4. ललितविस्तरा | हरिभद्र याकिनीपुत्र | |
| 5. आवश्यकवृत्ति | हरिभद्र याकिनीपुत्र | |
| 6. तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति | सिद्धसेनगणी | |
| 7. श्रावकविधि | धनपाल | |
| 8. नवपदप्रकरण वृत्ति सहित | देवगुप्त | |
| 9. धर्मरत्नप्रकरण | शान्ति सूरि | |
| 10. उपासकदशा वृत्ति | अभयदेव | |
| 11. पञ्चाशकवृत्ति | अभयदेव | |
| 12. प्रवचनसारोद्धार | नेमिचन्द्र | |
| 13. धर्मबिन्दुवृत्ति | मुनिचन्द्र | |
| 14. पञ्चाशकवृत्ति | यशोदेव | |
| 15. योगशास्त्र | हेमचन्द्र | |
| 16. प्रवचनसारोद्धारवृत्ति | सिद्धसेनसूरि | |
| 17. श्राद्धदिनकृत्य | देवेन्द्र | |
| 18. वन्दारुवृत्ति | देवेन्द्र | |
| 19. भाष्यत्रय | देवेन्द्र | |
| 20 श्राद्धजितकल्प | धर्मघोष | |

1. जैन योग (अंग्रेजी) पृष्ठ 1

| | |
|---|---|
| 21. संग्रहाचार | धर्मघोष |
| 22. चैत्यवन्दनाकुलक | जिनदत्त |
| 23. पूजाप्रकरण | |
| 24. विवेकविलास | जिनदत्त |
| 25. आचारदिनकर | वर्धमान |
| 26. आचारोपदेश | चारित्रसुन्दर |
| 27. श्राद्धगुणश्रेणिसंग्रह | जिनमण्डन |
| 28. श्राद्धविधि | रत्नशेखर |
| 29. धर्मसंग्रहवृत्ति | यशोविजय |

दिगम्बर परम्परा में भी श्रावकाचार के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। आर. विलियम्स ने अपनी पुस्तक में २७ ग्रन्थों का संकलन किया है। उनकी सूची निम्नलिखित है[1]–

| **ग्रन्थ** | **ग्रन्थकार** | **समय** |
|---|---|---|
| 1. चारित्रप्राभृत | कुन्दकुन्द | दूसरी शताब्दी (?) |
| 2. तत्त्वार्थसूत्र | उमास्वाति | तीसरी शताब्दी (?) |
| 3. द्वादशानुप्रेक्षा | कार्तिकेय | चौथी शताब्दी (?) |
| 4. रत्नकरण्डश्रावकाचार | समन्तभद्र | 450 (?) |
| 5. सर्वार्थसिद्धि | पूज्यपाद | छठी शताब्दी (?) |
| 6. रत्नसार | - | आठवीं शताब्दी (?) |
| 7. आदिपुराण | जिनसेन | नौवीं शताब्दी के अंत में |
| 8. भावसंग्रह | देवसेन | दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में |
| 9. यशस्तिलक चम्पू | सोमदेव | 959 |
| 10. सुभाषितरत्नसंदोह | अमितगति | 993 |
| 11. श्रावकाचार | अमितगति | 993 |
| 12. चरित्रसार | चामुण्डराय | 1000 |

१. जैन योग (अंग्रेजी) पृष्ठ १७

| | | |
|---|---|---|
| 13. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय | अमृतचन्द्र | ग्यारहवीं शताब्दी |
| 14. श्रावकधर्मदोहक | - | ग्यारहवीं शताब्दी |
| 15. श्रावकाचार | वसुनन्दि | 1100 |
| 16. धर्मरसायन | पद्मनन्दि | बारहवीं शताब्दी (?) |
| 17. सागारधर्मामृत | आशाधर | 1240 |
| 18. श्रावकाचार | माघनन्दि | 1260 |
| 19. श्रावकाचार | गुणभूषण | 1300 (?) |
| 20. श्रावकाचार | पद्मनन्दि | पन्द्रहवीं शताब्दी (?) |
| 21. भावसंग्रह | वामदेव | पन्द्रहवीं शताब्दी (?) |
| 22. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार | सकलकीर्ति | पन्द्रहवीं शताब्दी |
| 23. धर्मसंग्रहश्रावकाचार | मेधावी | 1504 |
| 24. धर्मपीयूषश्रावकाचार | ब्रह्मनेमिदत्त | 1530 |
| 25. लाटी संहिता | राजमल्ल | 1584 |
| 26. रत्नमाला | शिवकोटि | सतरहवीं शताब्दी (?) |
| 27. त्रयवर्णिकाचार | सोमसेन | 1610 |

आर. विलियम्स ने 'जैन योग' की बिब्लियोग्राफी में जिन ग्रन्थों की सूची दी है, उसमें कुछ ग्रन्थ ऊपर निर्दिष्ट दोनों तालिकाओं से अतिरिक्त भी हैं, जैसे–

| | |
|---|---|
| अनगारधर्मामृत | |
| श्रावकधर्मपञ्चाशक | हरिभद्र |
| धर्मसंग्रह | मानविजय |
| धर्मरत्नप्रकरण | शान्तिसूरि |
| सिद्धान्तसारादिसंग्रह | शिवकोटि |

श्रावकाचार की श्रृंखला में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों की जो तालिकाएं प्रस्तुत की गई हैं, वे ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं।[1] इस सन्दर्भ में राजस्थानी और हिन्दी की दो महत्त्वपूर्ण कृतियों का समावेश नहीं किया गया तो वह

1. श्रावक-संबोध (पूर्वभाग) 33-57

शृंखला अधूरी रहेगी। कालक्रम की दृष्टि से ये दोनों ग्रन्थ सद्यस्क हैं। इनका विवरण इस प्रकार है–

| | | |
|---|---|---|
| बारह व्रत की चौपई | आचार्य भिक्षु | अठारहवीं शताब्दी |
| श्रावक-संबोध | आचार्य तुलसी | बीसवीं शताब्दी |

आचार्य तुलसी का 'श्रावक-संबोध' वर्तमान परिप्रेक्ष्य और समस्याओं के सन्दर्भ में लिखा गया है। इसलिए श्रावकाचार के विकास क्रम की दृष्टि से इसका तुलनात्मक अध्ययन होना बहुत जरूरी है। प्रस्तुत ग्रन्थ संक्षिप्त है, किन्तु इसमें श्रावकाचार की पृष्ठभूमि और श्रावक के लिए चिन्तन की नई भूमिकाएं संदृब्ध हैं। इसलिए यह जितना सद्यस्क है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

**विषयवस्तु**

प्रस्तुत ग्रन्थ की विषयवस्तु अगार धर्म, गृहस्थ धर्म अथवा श्रावकाचार है। उवासगदसाओ में गृहस्थ धर्म का विशद वर्णन है।[1] दिगम्बर साहित्य में श्रावकाचार का प्रारम्भ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर किया गया है। उवासगदसाओ में बारह व्रतों की चर्चा के बाद आनन्द द्वारा प्रतिमा स्वीकार करने का उल्लेख है।[2] प्रतिमाओं का विस्तृत विवरण दशाश्रुतस्कन्ध में उपलब्ध है।[3] व्रत सम्यक्त्वमूलक होते हैं, इसलिए ग्रन्थ के प्रारंभ में पृष्ठभूमि की प्रस्तुति के बाद सम्यग् दर्शन का वर्णन है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इसका मूल प्रतिपाद्य विषय है। चारित्र के विस्तार में बारहव्रत, संलेखना, चार विश्राम, तीन मनोरथ और ग्यारह प्रतिमाओं का संकेत इसे आगम से संबद्ध करता है।[4]

समस्याओं में एक बड़ी समस्या है उपभोक्तावादी दृष्टिकोण की। इस दृष्टिकोण को बदलने के लिए पानी-बिजली के अपव्यय को रोकने का निर्देश है। प्रदूषण से बचने के लिए यात्रा को सीमित करने का संकेत है। विवेकपूर्ण स्वच्छता की ओर ईशारा आज कितना प्रासंगिक बना गया है। संग्रह की मनोवृत्ति को नई दिशा देने की दृष्टि से विसर्जन का सूत्र दिया गया है। इन सूत्रों के माध्यम से आचार्यश्री ने श्रावक के १४ नियमों का नवीनीकरण कर नौ नियम सुझाए हैं। वे वर्तमान युग के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं–

---

1. उवासगदसाओ, 1/24-44
2. वही, 1/61-63
3. दसाओ- 6/8-18
4. श्रावक-संबोध (पूर्वभाग) 33-57

खाद्यों की सीमा वस्त्रों का परिसीमन,
पानी-बिजली का हो न अपव्यय धीमन्!
यात्रा-परिमाण मौन प्रतिदिन स्वाध्यायी,
हर रोज विसर्जन अनासक्ति वरदायी।
हो सदा संघसेवा सविवेक सफाई,
प्रतिदिवस रहे इन नियमों की परछाई[1]।।

जीवनशैली के नौ सूत्रों का निदर्शन श्रावकाचार का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है, जितना बारह व्रतों का विधान है। जीवनशैली बदले बिना व्रतों की साधना सहज नहीं हो सकती। श्रावक की पहचान उसकी जीवनशैली के आधार पर हो, यह ग्रन्थकार को अभीष्ट है। उन्होंने यह भी अपेक्षा की है कि जैन जीवनशैली जन-जन की जीवनशैली बने।

जीवनशैली के नौ सूत्र निम्ननिर्दिष्ट हैं–

1. सम्यग् दर्शन
2. अनेकान्त
3. अहिंसा
4. समणसंस्कृति
5. इच्छापरिमाण
6. सम्यक् आजीविका
7. सम्यक् संस्कार
8. आहारशुद्धि व व्यसनमुक्ति
9. साधर्मिक वात्सल्य[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ के अपर भाग की तुलना आचारांग के प्रारंभिक भाग की शैली से की जा सकती है। वहां जिज्ञासु व्यक्ति अपने बारे में जिज्ञासा करता हैं–'मैं कौन था? इस शरीर को छोड़कर भविष्य में क्या बनूंगा?'[3] यहां श्रावक अपने आपसे पूछता है-मैं क्या हूं? मैं कौन हूं? क्या है मेरी पहचान[4]? इसी सन्दर्भ में गति, जाति आदि सम्बन्धी जिज्ञासाओं के साथ तीसरे स्वर्ग के इन्द्र सनत्कुमार के सम्बन्ध में प्रश्नसप्तक उपस्थित किया गया है[5]। इन प्रश्नों के आलोक में भी श्रावक के आत्मचिन्तन की मूल्यवत्ता है। सन्तुलन की दिशा, श्रावक का दायित्व आदि ऐसे विषय हैं, जो वर्तमान में निर्मीयमाण ग्रन्थ के लिए अनिवार्य माने जा सकते हैं[6]।

---

1. श्रावक-संबोध (पूर्व भाग) 62
२. वही, 65-75
3. आयारो 1/2
4. श्रावक-संबोध (अपर भाग) 1
5. श्रावक-संबोध (अपर भाग) 1
6. वही, 6-19

आगम युग के श्रावक और श्राविकाओं के जीवन का संग्रहण इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है[1]। श्रावक की चर्या का व्यवस्थित निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि का संकेत देकर इसमें श्रावकाचार के नवाचार का अन्तर्भाव किया है[2]। जैन संस्कार-विधि में व्यवहार-संपदा का एक सुन्दर चित्रण हुआ है[3]।

ग्रन्थ के अन्तिम भाग में आचार्यवर ने जिनशासन की परम्परा का संक्षिप्त, किन्तु तटस्थ निदर्शन प्रस्तुत किया है[4]। ग्रन्थकार तेरापन्थ के नवम आचार्य हैं, इसलिए ग्रन्थ-समाप्ति के परिपार्श्व में उन्होंने अपनी परम्परा के कुछ व्यक्तित्वों का भी नामोल्लेख किया है[5]।

श्रीमद् राजचन्द्र जैन परम्परा की श्रावक श्रृंखला में विशिष्ट श्रावक हुए हैं। आचार्यश्री ने उनका उल्लेख जिनमतमणि और अध्यात्म के परम प्रभावक के रूप में किया है। श्रावकत्व किसी सम्प्रदाय विशेष से जुड़ा नहीं होता। यह उल्लेख उदार मनोवृत्ति का एक स्फुलिंग है[6]।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ आकार में छोटा, किन्तु प्रकार में बड़ा है। यह कृश शरीर में स्थूल आत्मा के निवास जैसा लग रहा है।

आचार्यश्री की साहित्य-रचना के अलग-अलग युग रहे हैं। एक युग में उन्होंने तत्त्वविद्या 'जैन सिद्धान्त दीपिका' जैसे ग्रन्थों की रचना की। एक युग में मनोनुशासनम् जैसे योग ग्रन्थों का प्रणयन किया। एक युग में पंचसूत्रम् जैसे अनुशासन परक ग्रन्थों का निर्माण किया। एक युग में जीवनवृत्तों की संरचना की। 'श्री कालूयशोविलास' से शुरू हुई जीवनवृत्तों की यात्रा को 'सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति' तक पहुंचकर भी विराम नहीं मिला था। कुछ और जीवनवृत्त लिखने की कल्पना भी आकार लेने लगी थी।

आचार्यश्री ने अपने जीवन के आखिरी दशक में रचना का एक नया दौर शुरू किया। आचारबोध, संस्कारबोध, व्यवहारबोध, तेरापन्थप्रबोध और श्रावक-संबोध—इन पांच बोध, प्रबोध और संबोध ग्रन्थों का निर्माण हुआ। यहां यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इन लघुकाय ग्रन्थों में साठ वर्ष के अनुभवों तथा ज्ञानराशि का एक समुच्चय हुआ है। पर्वतों को अपना

---

1. वही, २०-३२
2. वही, ३३-४३
3. वही, ४४-४८
4. वही, ५१-५६
5. वही, ५७-६८
6. वही, ७३

समुच्चय करने में हजारों वर्ष लगते हैं। इस दशक में आचार्यवर द्वारा जो उच्चयन हुआ है, वह विद्वानों के लिए शोध का विषय है, विद्यार्थियों के लिए सम्बोध का विषय है और सामान्य जनता के लिए मानसिक आह्लाद का विषय है।

इन रचनाओं में श्रावक-संबोध की रचना का एक विशिष्ट मूल्य है। वर्तमान में बारह व्रतों, प्रतिमाओं अथवा समग्र श्रावकाचार के प्रति उदासीनता की जो मनोवृत्ति पनप रही है, उसे बदलने में यह ग्रन्थ नए प्राणवायु का काम करेगा। इसके सम्पादन और प्रस्तुतीकरण में साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा ने बहुत परिश्रम किया है। वह श्रम ग्रन्थ के हृदय को समझने में उपयोगी बनेगा।

जैन विश्व भारती **आचार्य महाप्रज्ञ**
लाडनूं (राजस्थान)
6 मार्च, 1998

# सम्पादकीय

बीसवीं सदी के महान शब्दशिल्पी आचार्यश्री तुलसी अपने युग के महान रचनाकार रहे हैं। उनकी सृजन-चेतना इतनी जागृत थी कि वे बारह वर्ष की अवस्था में कविता लिखने लगे। उम्र के एक पड़ाव पर पहुंचने के बाद व्यक्ति की रचनाधर्मिता कुछ कुंठित हो जाती है। किन्तु आचार्यश्री ने अपनी आयु के नौवें दशक में जो सृजन किया है, उस पर उनकी अनुभवप्रवणता का निखार स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी-तीनों भाषाओं में उन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा। गद्य और पद्य–दोनों विधाओं में उनकी इतनी रचनाएं उपलब्ध हैं कि जीवन के एक-एक वर्ष पर एक-एक रचना को सहजता से टांका जा सकता है। आत्मबोध को केन्द्र में रखकर चलने पर भी उनके सृजन में युगबोध के प्रतिबिम्ब पूरी गहराई से अंकित हैं। अध्यात्म, धर्म, दर्शन, परम्परा, संगठन आदि के बारे में उनका चिन्तन जितना बहुआयामी रहा है, युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में भी उतना ही मुखर हुआ है।

समाज को दृष्टि या दिशा देने वाले मुख्यतः दो वर्ग हैं–सन्त और साहित्यकार। आचार्यश्री के जीवन में सन्तता अधिक थी या साहित्यिकृता? इस प्रश्न पर विचार का कोई अवकाश ही नहीं रहता। उनके चरित्र में दोनों धाराएं साथ-साथ बही हैं। इस बात को यों भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि दोनों तत्त्व अहंपूर्विका-अहं प्रथमिका के उत्साह से आकण्ठ भरे रहे। इस स्थिति में भी शब्दशिल्पियों की आंखों में उनकी साहित्यिक छवि अधिक स्पष्टता के साथ प्रतिबिम्बित है। किन्तु उन्होंने स्वयं को साहित्यकार से पहले एक सन्त मानकर सन्तता के प्रति अपने समर्पण को अभिव्यक्ति दी है।

बात सन् १६७० की है। उस समय आचार्यश्री का चातुर्मासिक प्रवास 'रायपुर' (मध्य प्रदेश) था। वहां उनकी एक विशिष्ट साहित्यिक रचना

'अग्निपरीक्षा' को लेकर एक तूफान खड़ा हो गया। उसे खड़ा करने में कुछ पूर्वाग्रही और असहिष्णु व्यक्तियों का हाथ था। जनता उसके औचित्य पर विचार नहीं कर पाई, क्योंकि वह भेडचाल की भाषा ही समझती थी। मध्य प्रदेश सरकार उस स्थिति को संभालने में जटिलता का अनुभव करने लगी। फलतः उसने आलोच्य पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया। समाज के कुछ लोगों ने सरकारी निर्णय को उच्च न्यायालय, जबलपुर में चुनौती दी। अग्निपरीक्षा की अग्निपरीक्षा हुई। न्याय की कसौटी पर वह पूर्णरूप से खरी उतरी। न्यायालय ने उसको मुक्त कर दिया। एक कष्टप्रद अध्याय सुखान्तिका में परिणत हो गया।

लगभग डेढ़ वर्ष का समय शान्तिपूर्वक बीता। सन् १९७२ में चातुर्मास्य के लिए चूरू की ओर प्रस्थान हुआ। कुछ लोगों के अन्तःकरण में छिपी विरोध की चिनगारियों ने विस्फोट कर दिया। रतनगढ़ से चूरू तक की यात्रा अनेक विघ्नों से भरी रही। चूरू का वातावरण तनावपूर्ण था। तनाव की स्थिति में ही दिन और महीने बीतने लगे। आचार्यश्री की संवेदनशीलता आंखमिचौनी नहीं कर पाई। उन्होंने प्रसिद्ध सर्वोदयी नेता जयप्रकाशनारायण के साथ विचार-विमर्श किया। उनकी आग्रहमुक्त मनोदशा ने जे. पी. को प्रभावित कर लिया। आचार्यश्री तुलसी के उदार दृष्टिकोण ने विरोधी लोगों की उपस्थिति वाली एक बड़ी जनसभा को अभिभूत कर दिया। उन्होंने शान्ति और प्रसन्नता के साथ कहा–'मैं पहले सन्त हूं फिर साहित्यकार हूं। मेरी किसी साहित्यिक कृति को लेकर जनता हिंसक वारदातें करे, यह मुझे अभीष्ट नहीं है। जनता की शान्ति और सन्तोष के लिए मैं अपनी पुस्तक 'अग्निपरीक्षा' को वापस लेता हूं।'

आचार्यश्री के उक्त वक्तव्य से यह प्रमाणित होता है कि उनके व्यक्तित्व में सन्तता शिखर पर है और साहित्यकारिता नीचे। किन्तु उनके साहित्य को पढ़ने और उसकी समीक्षा करने वाले जानते हैं कि उन्होंने जो साहित्य-यात्रा की है, वह किसी साधारण साहित्यकार के लिए संभव नहीं है। उनका जो साहित्य प्रकाश में आया है, वह उनकी विलक्षण साहित्य-साधना का साक्षी बन रहा है।

आचार्यश्री की प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं में एक महत्त्वपूर्ण कृति है–'श्रावक-संबोध'। धर्म की आराधना के स्तर को ध्यान में रखकर जैन परम्परा में उसके दो रूप अधिक प्रसिद्ध हैं–साधुधर्म और गृहस्थधर्म। गृहस्थधर्म के

लिए श्रावकधर्म या श्रावकाचार शब्द भी प्रयोग में आता है। भगवान महावीर ने इनके लिए अनगारधर्म और अगारधर्म-इन शब्दों का उपयोग किया है। इन्हें महाव्रत और अणुव्रत के रूप में भी व्याख्यायित किया गया है। धर्म के इन दो रूपों की अवधारणा भगवान महावीर का मौलिक अवदान है, यह बात 'श्रावक-संबोध' के प्रारंभिक पद्यों से उजागर होती है।

श्रावक कौन होता है? श्रावक का आचार क्या है? श्रावक का जीवन कैसा होना चाहिए? अपने प्रति और समाज के प्रति श्रावक की क्या भूमिका होती है? समाज में श्रावक की छवि कैसी है? श्रावक के आचार, विचार और व्यवहार में एकसूत्रता है या नहीं? श्रावकाचार पर कभी कोई समीक्षा होती है या नहीं? श्रावक अपने आचार से नीचे उतर आए तो उस पर कोई अंगुलि-निर्देश करता है या नहीं? ऐसे कौन-से तत्त्व हैं, जो श्रावक की अस्मिता को सुरक्षा दे रहे हैं? महावीरकालीन श्रावक का जीवन कैसा होता था। और वर्तमान के श्रावक का जीवन कैसा है? श्रावक को श्रावकत्व का बोध है या नहीं? श्रावक के जीवन से श्रावकत्व को एक ओर कर लिया जाए तो उसकी छवि कैसी बनती है? इत्यादि अनेक प्रश्नों का सटीक उत्तर है श्रावक-संबोध। फिसलन पर खड़े श्रावकाचार को बचाने के लिए आचार्यश्री एक लम्बे अर्से से विचार कर रहे थे। अणुव्रत आन्दोलन, उपासक श्रेणी, ध्यान शिविर आदि माध्यमों से वे मानवीय मूल्यों के साथ श्रावकत्व को भी ठोस जमीन देने का प्रयत्न करते रहे।

श्रावक के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—सम्यग्दर्शन। इससे आध्यात्मिक विकास की भूमिका प्रशस्त होती है। उल्लेखनीय बात यह है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान बन जाता है। एक ही पानी को लाल, नीली, हरी आदि बोतलों में भरने से उसका रंग बदला हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के संपर्क से व्यक्ति का अज्ञान ज्ञान में परिणत हो जाता है। ग्रन्थकार के शब्दों में—

**बन जाए अज्ञान ज्ञान, यदि सम्यग्दर्शन।**
**महावीर का मूल्यवान यह जीवन-दर्शन।।**

नौ तत्त्व और षडद्रव्य जैनतत्त्वविद्या के मूल आधार हैं। इनको सम्यक् प्रकार से समझे बिना जैनदर्शन को समझना कठिन है। जब तक जैनत्व का बोध नहीं होगा, उसे जीने की बात पुष्ट नहीं होगी। इस सचाई को ध्यान

में रखकर ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कृति के माध्यम से श्रावक को तत्त्वविद्या का न्यूनतम ज्ञान करने के लिए प्रोत्साहित किया है। सम्यक्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान का योग होने पर भी आचरण का तापमान शून्य रहे तो जीवन में परिष्कार की दिशाएं नहीं खुल पातीं। व्यक्ति का चरित्र ही सामाजिक चरित्र की आधारशिला है। इन तीनों की युति ही मोक्ष का मार्ग है। श्रावक जीवन का प्रारंभ इसी बिन्दु से होता है–

**सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि रत्नत्रयी मोक्ष पथ है।**
**उमास्वाति के शब्दों में, श्रावकजीवन का यह अथ है।।**

अनुयायी और श्रावक–ये दो शब्द हैं। अनुयायी का अर्थ है अनुगमन करने वाला, पीछे चलने वाला। श्रावक या श्रमणोपासक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ शास्त्र सुनने या श्रमण की उपासना करने तक सीमित है। किन्तु इस शब्द की गरिमा का सम्बन्ध सीधा श्रावकाचार के साथ है। भगवान महावीर ने श्रावकाचार में मुख्य रूप से बारह व्रतों का समावेश किया है। स्वीकृत व्रत में दोष का आसेवन अतिचार कहलाता है। श्रावक के लिए व्रतों का बोध जितना आवश्यक है, अतिचारों का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। बिना ज्ञान उनके परिहार का मार्ग प्रशस्त नहीं बनता। 'श्रावक-संबोध' में प्रथम अणुव्रत के पांच अतिचारों का साक्षात् उल्लेख हुआ है। शेष व्रतों के अतिचारों का आकलन भाष्य में हुआ है। उन व्रतों और अतिचारों को सामने रखकर युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'श्रावकाचार' एक ऐसी जीवनशैली है, जो व्यक्ति को हिंसा, क्रूरता, उपभोगवाद, असन्तुलित पर्यावरण आदि खतरों से बचने के लिए संयम का सुरक्षाकवच प्रदान करती है।

श्रावक गृहस्थ होता है। उसका कार्य अर्थ के बिना नहीं चल सकता। पर वह अर्थप्राप्ति के लिए अनर्थ का आश्रय नहीं ले सकता। उसके लिए गरीबी और अमीरी–दोनों काम्य नहीं हैं। इस बात पर बल देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है–

**गरीबी गौरव गमाना, अमीरी अभिशाप है,**
**मांग खाना मान खोना मानसिक सन्ताप है।**
**भले कृषि वाणिज्य श्रम से अर्थ का अर्जन करें,**
**लोकगर्हित क्रूर कर्मादान का वर्जन करें।।**

बारह व्रतों की आराधना जैन श्रावक की जीवनशैली का एक रूप है। आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में जीवनशैली में कुछ नई बातों का योग अपेक्षित है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर आचार्यश्री तुलसी ने योगक्षेम वर्ष (सन् 1989) में जैन जीवनशैली का एक नया प्रायोगिक रूप प्रस्तुत किया। श्रावक-संबोध (पूर्व भाग) के 65 से 75 तक दस पद्यों में उसका आकलन है। कुछ चुने हुए परिवारों को इस जीवनशैली का प्रशिक्षण देकर इसे व्यावहारिक रूप दिया जाए तो जैन जीवनशैली को जन जीवनशैली के रूप में विकसित किया जा सकता है।

श्रावक-संबोध के दो विभाग हैं—पूर्व भाग में प्रारम्भिक दो संस्कृत श्लोकों के बाद 75 पद्य हैं। इसमें प्रमुख रूप से श्रावकाचार का विशद विवेचन है। अपर भाग में 73 पद्य हैं। इसका प्रारम्भ तात्त्विक ज्ञान से किया गया है। अग्रिम पद्यों में विविध विषयों की चर्चा है। उसका संकेत प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना में उपलब्ध है। कुल मिलाकर इसके 150 पद्य हैं। इस संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण कृति में श्रावकाचार की व्यवस्थित जानकारी प्राप्त हो जाती है।

आचार्यश्री ने 'श्रावक-संबोध' का प्रणयन एक विशेष उद्देश्य के साथ किया। श्रावक समाज में श्रावकाचार के प्रति जागरूकता बढ़े और जैनशासन की प्रभावना में अपनी संभागिता का उसे बोध भी हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का गंभीर अध्ययन किया जाए तो समाज की चेतना का रूपान्तरण हो सकता है। इस ग्रन्थ के दो संस्करण आचार्यश्री की उपस्थिति में प्रकाशित हो गए। प्रथम संस्करण में केवल मूल पाठ है और दूसरे संस्करण में पाठ के साथ उसका अनुवाद भी है। आचार्यश्री की यह इच्छा रही कि इस पर हिन्दी में भाष्य भी लिखा जाए। भाष्य-लेखन के प्रसंग में मैंने निवेदन किया—श्रावक-संबोध पर गुरुदेव का स्वोपज्ञ भाष्य हो, यह हमारी प्रार्थना है। प्रथम बार में उन्होंने यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की। लाडनूं से गंगाशहर जाते समय बीदासर में आचार्यश्री ने इसकी व्याख्या करने की स्वीकृति प्रदान की। वहां पांच दिन यह क्रम चला। 'अमृत वाणी' के दृश्य-श्रव्य उपकरणों के माध्यम से पांच दिनों के उस अपूर्व कार्यक्रम को सुरक्षित कर लिया गया। लक्ष्य यह था कि गंगाशहर में पुनः उस क्रम को आगे बढ़ाया जाएगा। किन्तु नियति का योग, वह कार्यक्रम पूरा नहीं हो पाया।

गंगाशहर पहुंचने के बाद मैंने आचार्यश्री से पुनः निवेदन किया—'एक

बार आप कुछ साधु-साध्वियों के बीच 'श्रावक-संबोध' की व्याख्या कर दें। उसके आधार पर भाष्य तैयार हो जाएगा।' स्वास्थ्य की पूरी अनुकूलता न होने पर भी आचार्यश्री ने हमारे निवेदन पर प्रातःकालीन प्रवचन से पहले व्याख्या का काम प्रारंभ कर दिया। संयोग ही कुछ ऐसा बना कि यह उपक्रम भी पांच-चार दिन से अधिक नहीं चल पाया। उस अवधि में केवल २५ पद्यों की व्याख्या हो सकी। उसके बाद पन्द्रह दिनों के एकान्तवास और अप्रत्याशित रूप में घटित घटना ने 'श्रावक-संबोध' के भाष्य को एक बार विराम दे दिया।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवन में अनेक विलक्षण काम किए। उनमें एक काम है उनके आचार्यपद का विसर्जन और युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ का आचार्यपद पर अभिषेक । आचार्यश्री की उपस्थिति में उनके उत्तराधिकारी ने अपना कार्यभार संभाल लिया। इस स्थिति में स्वोपज्ञ भाष्य लिखने की कल्पना को साकार करने का दायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी पर आ गया। उन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी भाष्य लिखाने का काम शुरू किया और एक दिन पूर्णता के बिन्दु तक पहुंचा दिया। आचार्यद्वय की असीम कृपा से उस काम को सम्पादित करने का सौभाग्य मुझे मिला। इसमें साध्वी जिनप्रभाजी, कल्पलताजी, चित्रलेखाजी और शुभप्रभाजी ने अपना समय और श्रम लगाकर मेरे काम को हल्का कर दिया।

लेखन मेरी रुचि का विषय है। आचार्यश्री ने प्रारंभ से ही मुझे लेखन और सम्पादन के काम में नियोजित कर मेरी रुचि को परिष्कृत होने का अवसर दिया। यह उनके आशीर्वाद का ही सुफल है कि मैं अपने लेखन को उनकी पसन्द के अनुरूप ढाल सकी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की कृपा को भी कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिसके फलस्वरूप भाष्य की अधूरी श्रृंखला पूरी हो सकी। 'श्रावक-संबोध' का प्रस्तुत भाष्य प्रत्येक जैन श्रावक के जीवन का भाष्य बने और आचार्यश्री का यह अवदान युग-युग तक श्रावक समाज को नया आलोक देता रहे।

ऋषभद्वार **साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा**

लाडनूं

14 मार्च, 1998

# अनुक्रम

## पूर्व भाग


| | | |
|---|---|---|
| 1. | समर्पण | 22 |
| 2. | श्रावकधर्म की पृष्ठभूमि | 23 |
| 3. | श्रमणोपासना के लाभ | 41 |
| 4. | रत्नत्रयी | 45 |
| 5. | सम्यगदर्शन के लक्षण | 49 |
| 6. | सम्यगदर्शन का महत्त्व | 51 |
| 7. | नव तत्त्व : ज्ञान का आधार | 56 |
| 8. | पंचास्तिकाय : दर्शन का आधार | 65 |
| 9. | षड्जीवनिकाय : चारित्र का आधार | 71 |
| 10. | व्रत/प्रत्याख्यान | 72 |
| 11. | अणुव्रत | 75 |
| 12. | गुणव्रत | 85 |
| 13. | शिक्षाव्रत | 91 |
| 14. | हर्बर्ट वारेन | 99 |
| 15. | संलेखना/संथारा | 100 |
| 16. | समण संस्कृति | 103 |
| 17. | श्रावक के विश्राम | 104 |
| 18. | श्रावक के मनोरथ | 107 |
| 19. | श्रावक-प्रतिमा | 110 |
| 20. | महास्कंध | 113 |
| 21. | दैनिक प्रत्याख्यान | 117 |
| 22. | जीवनशैली | 121 |

## अपर भाग


| | | |
|---|---|---|
| 1. | तत्त्व जिज्ञासा | 147 |
| 2. | प्रश्न-सप्तक | 150 |
| 3. | अनेकान्त | 154 |
| 4. | संतुलन की दिशा | 159 |
| 5. | श्रावक का दायित्व | 170 |
| 6. | आगम-युग के श्रावक | 175 |
| 7. | आगम-युग की श्राविकाएं | 188 |
| 8. | श्रावक की चर्या | 200 |
| 9. | जैन-संस्कार विधि | 218 |
| 10. | पर्युषण महापर्व | 224 |
| 11. | जिनशासन | 227 |
| 12. | तेरापंथ | 230 |
| 13. | तेरापंथी श्रावक | 236 |
| 14. | तात्त्विक ज्ञान | 255 |

# श्रावक-संबोध
(पूर्व भाग)

# श्रावक-संबोध
## (पूर्व भाग)

**समर्पण**

**1. अणुव्रत-त्रिपथगां**
**प्रेक्षा-प्रद्योतनात्मजाम् ।**
**जीवनविज्ञान-ब्रह्म-**
**पुत्रीं तरंगिणीत्रयम्॥**

**2. स्मृत्वा स्नात्वा च विस्तार्य,**
**बोधत्रयं वितीर्य च।**
**अथ श्रावकसंबोधः,**
**श्रीसंघाय समर्प्यते॥ (युग्मम्)**

धर्म का काम है मनुष्य को मनुष्यता का बोधपाठ देना, अच्छा जीवन जीने की कला सिखाना। अणुव्रत मानवीय मूल्यों की न्यूनतम आचार-संहिता है। इससे जीवन पवित्र बनता है। इस दृष्टि से अणुव्रत को त्रिपथगा-गंगा से उपमित किया गया।

धर्म का आचरण करने से मनुष्य का जीवन बदलता है। प्रेक्षाध्यान जीवन में बदलाव लाने का अनुभूत प्रयोग है। मैं उसको प्रद्योतनात्मजा–सूर्यपुत्री यमुना के रूप में देखता हूं।

शिक्षा को मूल्यपरक और प्रायोगिक बनाने से विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास संभव है। जीवनविज्ञान का कार्यक्रम इसी उद्देश्य से चल रहा है। ब्रह्मपुत्री-सरस्वती विद्या की प्रतीक है। इसलिए जीवनविज्ञान की तुलना उससे की गई है।

मैंने अणुव्रत गंगा, प्रेक्षा यमुना और जीवनविज्ञान सरस्वती–इस त्रिवेणी का स्मरण, अवगाहन और विस्तार किया। तीन बोध–आचार-

बोध, संस्कार-बोध और व्यवहार-बोध की रचना की। अब श्रावक समाज के लिए श्रावक-संबोध का निर्माण किया है। इसे मैं श्रीसंघ को समर्पित कर रहा हूं।

**श्रावकधर्म की पृष्ठभूमि**

**(रामायण)**

**1. महातपस्वी महावीर की,**
**जीवन-गाथा कालजयी।**
**अट्ठियगाम यक्ष-मंदिर में,**
**बने आत्मबल से विजयी॥**

**2. शूलपाणि ने किए उपद्रव,**
**तंद्रा की-सी स्थिति आई।**
**महास्वप्न दस देखे प्रभु ने,**
**सबने सार्थकता पाई॥ (युग्मम्)**

भगवान महावीर महातपस्वी थे। उनके जीवन की कहानी काल को जीतने वाली है, हर समय जीवंत रहने वाली है। साधना के प्रथम वर्ष में उन्होंने अस्थिक ग्राम में प्रवास किया। वहां एक यक्ष का मंदिर था। मंदिर के एक कोने में वे ध्यानप्रतिमा में स्थित हो गए। वहां शूलपाणि नाम का यक्ष रहता था। उसने ध्यानस्थ महावीर को देखकर अनेक प्रकार के उपद्रव किए। महावीर का मनोबल प्रबल था। वे विचलित नहीं हुए। आखिर यक्ष ने हार मान ली। महावीर अपने आत्मबल से विजयी हो गए।

महावीर इतने आत्मलीन थे कि उपद्रवकाल में उन्हें थोड़ी नींद-सी आ गई। उस तंद्रावस्था में उन्होंने दस महास्वप्न देखे। उनके सब सपने साकार हो गए।

## भाष्य

'श्रावक-संबोध' का सीधा संबंध भगवान महावीर से है। इस दृष्टि से ग्रंथ के प्रारंभ में महावीर का स्मरण किया गया है। महावीर का एक विशेषण है 'महातपस्वी'। यह विशेषण केवल प्रशस्तिपरक नहीं है, इसके पीछे गहरी भित्ति है। एक विशेष प्रयोजन से इस विशेषण को काम में लिया गया है।

सामान्यतः तपस्या करने वाले व्यक्ति को तपस्वी कहा जाता है। जो व्यक्ति तपःसाधना द्वारा महत्ता का अर्जन कर लेता है, वह महातपस्वी बन जाता है। महावीर की तपस्या ने उनको महत्ता के शिखर तक पहुंचा दिया, इसलिए वे महातपस्वी थे।

तपस्या मोक्ष-साधना का एक अंग है। उसके बिना मोक्ष की कल्पना ही नहीं की जा सकती। महावीर का लक्ष्य था मोक्ष। वे अपने लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। समर्पण अद्वैत का सूचक है। साधनाकाल की तपस्या को हाशिए पर कर दिया जाए तो महावीर के जीवन का एक अध्याय खाली रह जाता है। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि तपस्या उनके जीवन का अपरिहार्य अंग था।

तपस्या के दो रूप हैं—बाह्य और आभ्यंतर। जो तप स्थूल होता है, दूसरों को दिखाई देता है, वह बाह्य तप है। जिस तपस्या का प्रभाव अंतरात्मा पर होता है, जो सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता, वह आंतरिक तप होता है। महावीर के जीवन में तपस्या के दोनों रूप प्रभावी रहे हैं। बाह्य तप में अनशन से प्रतिसंलीनता तक एक सहज सिद्ध तपस्या थी। अनशन में उन्होंने उपवास जैसा छोटा तप कभी नहीं किया। कम-से-कम बेला (दो दिनों का उपवास) और आगे पक्ष, मास, दो मास, चार मास तथा छह मास तक वे बढ़ते ही रहे। साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में उन्होंने कुल मिलाकर एक वर्ष भी भोजन नहीं लिया। उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार उन्होंने उस कालावधि में केवल 320 दिन भोजन लिया। तपस्या काल में उन्होंने पानी का भी उपयोग नहीं किया।

महावीर का वह बाह्य तप आंतरिक तपस्या से शून्य नहीं था। उन्होंने तपस्या में ध्यान और कायोत्सर्ग के विशेष प्रयोग किए थे। हर प्रयोग में उनका अप्रमाद या जागरूकता विलक्षण रही। अतींद्रिय ज्ञान से देखने पर भी संभवतः उनकी तुलना में आने वाला कोई तपस्वी नहीं मिलेगा।

महावीर की तपस्या का लक्ष्य था लाघव। वे लाघव चाहते थे, हलकापन चाहते थे। शरीर, मन और श्वोसाच्छ्वास सबको हलका बनाना उन्हें अभीष्ट था। शरीर को हलका बनाने के लिए वे निराहार रहे। मन को हलका बनाने के लिए वे निर्विचार रहे। श्वास को हलका रखने के लिए

उन्होंने कायोत्सर्ग किया। लंबे उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग के द्वारा वे पूर्णरूप से लाघव प्राप्त करने में सफल हुए।

महावीर की तपस्या का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु था कष्टसहिष्णुता। देव, मनुष्य और तिर्यंच, सभी ने उनको कष्ट दिए। बहुत बार वे स्वयं उन स्थानों में गए, जहां भयंकर कष्ट मिलने की संभावना थी। जानलेवा कष्टों के आने पर भी वे अभय रहे, अविचल रहे। आक्रोश, गालीगलौज, मारपीट जैसी बातें तो साधारण थीं। चींटी से लेकर हाथी तक के जीव-जंतुओं ने महावीर पर आक्रमण किया। प्रत्याक्रमण की तो बात ही क्या, महावीर ने अपने बचाव के लिए भी कोई प्रयास नहीं किया। इसीलिए वे महातपस्वी कहलाए।

कुछ लोगों का अभिमत है कि महावीर शरीर को कष्ट देने में धर्म मानते थे। महावीर-वाणी का गंभीर अध्ययन किया जाए तो ऐसा एक भी सूत्र हाथ नहीं लगता, जो उक्त मंतव्य को पुष्ट करता हो। न तो महावीर ने स्थूल शरीर को सुखाने या कष्ट देने के लिए किसी प्रकार का तप तपा और न इस प्रकार के सिद्धांत का निरूपण ही किया। उन्होंने शरीर को नौका माना है, मोक्ष-साधना में सहयोगी माना है। साधनाकाल में कष्टों की उपस्थिति होने पर संतुलित रहने का निर्देश देते हुए महावीर ने कहा–

**खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।**
**अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं॥**

भूख, प्यास, विषम भूमि पर शयन, मानसिक उद्वेग और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान फल का हेतु है।

जो व्यक्ति महावीर का नाम लेकर शरीर को उत्पीड़ित करने पर जोर देते हैं, जैनों की तपस्या को जीवित अवस्था में मौत का आलिंगन करना बताते हैं, वे जनता में भ्रांति पैदा करते हैं। यदि तपस्या का लक्ष्य मरना ही होता तो दीर्घकाल तक साधना की बात गौण हो जाती। वास्तविकता यह है कि महावीर ने ऊर्जा, ओज या दीप्ति बढ़ाने के लिए तप का प्रयोग किया। तपस्या से प्राप्त ऊर्जा से उन्होंने कर्मशरीर को तपाया, क्षीण किया। उनके महातपस्वी होने की सार्थकता इसी में है।

भगवान महावीर की जीवनगाथा कालजयी है, अविनश्वर है। काल की परत उसे कभी ढक नहीं सकेगी। वह हर युग में स्वयं बोलती रहेगी। उसके दो कारण हैं–साधना और सत्य का निरूपण। महावीर के साधना-काल की घटनाएं जितनी रोमांचक हैं, उतनी ही प्रेरक हैं।

शूलपाणि के उपद्रव, चण्डकौशिक द्वारा काटना, ग्वालों द्वारा पैरों पर खीर पकाना, गोशालक के कारण विविध प्रकार के कष्टों की उपस्थिति, अनार्य देशों की यात्रा, संगम देव के मारणांतिक कष्ट आदि सभी प्रसंगों में महावीर ने जिस धृति और समत्वभाव का परिचय दिया, उससे उनकी जीवन-गाथा कालजयी बन गई।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद महावीर ने जिस सूक्ष्मता से तत्त्व का निरूपण किया, वह असाधारण है। उन्होंने छह जीव-निकाय का विवेचन किया। परमाणु के क्रियाकलाप पर प्रकाश डाला। शब्द की गति के बारे में बताया। मन की गति का विश्लेषण किया। जीव और परमाणु की अस्पृशद गति जैसे अत्यंत दुर्बोध विषय का प्रतिपादन किया। जिस विषय में विज्ञान की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं है, उस विषय में महावीर के विवेचन ने उनकी जीवनगाथा को कालजयी बना दिया है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने पदार्थ की व्याख्या क्षेत्र और काल के आधार पर की। महावीर ने पदार्थ की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर की। परिव्राजक स्कंदक के सब प्रश्नों के उत्तर उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सामने रखकर दिए हैं। महावीर द्वारा निरूपित अनेकांत का सिद्धांत, उनके जीवन और दर्शन की एकरूपता का सिद्धांत है। इस सिद्धांत ने उनको अविस्मरणीय बना दिया।

श्रावक-संबोध की रचना का आधार 'अट्ठियगाम' की घटना है। उसकी कहानी इस प्रकार है। वेगवती नदी के तट पर वर्धमान नाम का गांव बसा हुआ था। एक बार धनदेव नाम का व्यापारी माल से भरे पांच सौ शकट लेकर चला। चलते-चलते वह वर्धमान गांव के निकट पहुंचा। उन दिनों नदी में पानी कम था और उसके दोनों तटों पर कीचड़ हो गया था। कीचड़ भरे पथ से छकड़ों को ले जाना मुश्किल था। धनदेव के पास एक बहुत अच्छा बैल था। उसे सबसे आगे जोत दिया गया। बैल ने अपनी पूरी शक्ति से छकड़ों को खींचकर नदी पार कर दी। अत्यधिक भार खींचने से

वह श्रांत हो गया। उसके मुंह से खून गिरने लगा। वह निढाल होकर जमीन पर गिर पड़ा।

धनदेव को आगे जाना था। बैल चलने की स्थिति में नहीं रहा। धनदेव ने गांववासियों को बैल की सार-संभाल के लिए काफी रुपये देते हुए कहा–'इसका ध्यान रखना। इसे चारा-पानी देना। इसके बहाने मैं अपने जीवन को ही न्यास रूप में रख रहा हूं।' गांववासियों ने स्वीकार किया कि वे बैल का ध्यान रखेंगे। धनदेव उसके आगे चारा-पानी डालकर चला गया।

जेठ का महीना। भयंकर गर्मी। चलने में असमर्थ बैल गर्मी और प्यास से व्याकुल हो गया। धनदेव जो चारा-पानी डालकर गया था, वह समाप्त हो गया। गांववालों के मन में लोभ आ गया। चारा-पानी के लिए रुपये प्राप्त होने पर भी उन्होंने कोई व्यवस्था नहीं की। भूख और प्यास से तड़पते बैल का प्राणांत हो गया। वह उसी गांव के बाहर एक उद्यान में शूलपाणि नामक व्यंतरदेव–यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ।

यक्ष ने अतींद्रिय ज्ञान से अपना पिछला भव देखा। बैल के मृत शरीर और गांववासियों की बेईमानी देख वह कुपित हो गया। उसने गांव में महामारी फैला दी। लोग मरने लगे। महामारी दूर करने के लिए अनेक उपाय किए गए, पर सफलता नहीं मिली। लोगों ने दुःखी होकर गांव छोड़ दिया। फिर भी महामारी ने पीछा नहीं छोड़ा। लोगों को अपने आचरण पर संदेह हुआ। वे पुनः गांव में लौट आए और देवों की मनौतियां करने लगे।

यक्ष प्रकट हुआ और बोला–'तुम दुरात्मा हो, निर्दय हो। तुमने उस बैल को सताया है। तुम्हारी दुर्नीति के कारण वह भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर मरा है। यह उसी पाप का फल है।' गांववासियों ने यक्ष की पूजा कर कहा–'देवप्रवर! हमने तुम्हारा कोप देख लिया, अब हम प्रसाद देखना चाहते हैं।' गांववासियों के अनुनय-विनय से शांत होकर यक्ष बोला–'इस महामारी से जितने लोग मरे हैं, उनकी अस्थियां एकत्रित कर उस पर एक मंदिर बनाओ और उसमें एक तरफ बैल की मूर्ति स्थापित करो।' गांववालों ने वहां मंदिर बनवाया। महामारी का प्रकोप शांत हो गया। गांव के निकट पड़े अस्थियों के ढेर के आधार पर वर्धमान गांव का नाम अस्थिकग्राम–अट्ठियगाम हो गया।

महावीर की साधना का प्रथम वर्ष चल रहा था। मोराक सन्निवेश से चलकर वे अस्थिकग्राम पहुंचे। उन्होंने गांववासियों से यक्षमंदिर में ठहरने की आज्ञा चाही। गांववासी बोले–'बाबा! यहां मत ठहरना। इस मंदिर का यक्ष बहुत क्रूर है। वह यहां रात्रिप्रवास करने वाले को जीवित नहीं छोड़ता। आप गांव में जाकर ठहरें।' महावीर ने कहा–'इसकी चिंता मत करो। तुम मुझे ठहरने की अनुमति दे दो।' विस्मय और भय से सहमे हुए लोगों की स्वीकृति लेकर महावीर मंदिर में ठहर गए। वहां उपयुक्त स्थान देखकर वे ध्यान में स्थित हो गए।

यक्षमंदिर में इंद्रशर्मा नाम का पुजारी था। वह सूर्यास्त होने से पहले ही धूप-दीप कर अपने घर लौटने लगा। उसने महावीर से कहा–'बाबा! तुम भी गांव में चलो। यहां रहोगे तो यक्ष तुम्हें मार देगा।' महावीर मौन रहे। पुजारी चला गया। अंधेरा घिरने लगा तो यक्ष प्रकट हुआ। महावीर को देख उसने भयंकर अट्टहास किया। उससे गांववासी कांप उठे, पर महावीर निश्चल खड़े रहे। यक्ष ने हाथी और पिशाच का रूप बनाकर कष्ट दिए। महावीर का बाल भी बांका नहीं हुआ। यक्ष ने महावीर के सिर, कान, आंख, दांत, नख, नाक और पीठ में जानलेवा वेदना उत्पन्न की। महावीर ने उसको भी सह लिया।

यक्ष ने रात भर महावीर को विचलित करने का प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो पाया। सब तरह से हताश हो वह महावीर के चरणों में प्रणत होकर क्षमायाचना करने लगा। उसी समय वहां इन्द्र द्वारा नियुक्त व्यंतर देव सिद्धार्थ प्रकट हुआ। वह बोला–'शूलपाणि! तू किसे सता रहा है? ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र तीर्थंकर वर्धमान हैं। यदि इंद्र को पता लग गया तो तुझे जीवित नहीं छोड़ेगा।' यह बात सुन शूलपाणि भयभीत होकर बार-बार क्षमायाचना करने लगा। सिद्धार्थ ने उसको समझाया। उसका आक्रोश शांत हो गया। वह महावीर की स्तुति करने लगा। गांव के लोगों ने समझा कि यक्ष महावीर को मारने के बाद क्रीड़ा कर रहा है।

शूलपाणि यक्ष ने महावीर को इतने भयंकर कष्ट दिए, फिर भी उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते समय तीन बातें सामने आती हैं–

- महावीर का शरीर वज्रऋषभनाराच संहनन वाला था। उस पर बाहरी घात-प्रत्याघातों का कोई प्रभाव नहीं होता।

- उपद्रवकाल में महावीर ध्यानस्थ हो गए। ध्यान-कोष्ठक में प्रवेश के बाद कष्ट की अनुभूति नहीं होती।
- सुख-दुःख का संवेदन सुषुम्णा और मस्तिष्क के द्वारा होता है। कायोत्सर्ग से सुषुम्णा नाड़ी और मस्तिष्क पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। यक्षमंदिर में महावीर ने ध्यान और कायोत्सर्ग का प्रयोग कर सुषुम्णा और मस्तिष्क को नियंत्रित कर लिया। इससे उनकी सहिष्णुता बढ़ गई और वे प्राणहारी परिस्थिति में भी विचलित नहीं हुए।

रात्रि के अंतिम प्रहर में शूलपाणि यक्ष शांत हो गया। उसके द्वारा किए गए उपद्रवों का सिलसिला थम गया। पौ फटने के समय मंदिर के शांत वातावरण में महावीर को थोड़ी-सी नींद आई। केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद नींद नहीं आती। क्योंकि नींद का कारण दर्शनावरणीय कर्म क्षीण हो जाता है। साधनाकाल में सब कर्मों की सत्ता थी। महावीर जागरूक नहीं रहते तो नींद आने की संभावना थी। किंतु वे कभी खड़े होकर ध्यान करते, कभी घूमते और कभी विशेष मुद्रा में स्थित हो जाते। इन प्रयोगों से नींद उड़ जाती। साढ़े बारह वर्षों के साधनाकाल में उन्होंने केवल एक मुहूर्त नींद ली। वह भी एक बार नहीं, अनेक बार थोड़ी-थोड़ी करके। उनकी नींद वास्तव में गहरी नींद नहीं थी। इसलिए उसे ऊंघ या तंद्रा कहना अधिक उपयुक्त लगता है, क्योंकि उस एक मुहूर्त के समय में महावीर ने स्वप्न देखे थे। सपने न जाग्रत अवस्था में आते हैं और न गहरी नींद में। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि उस समय महावीर अर्द्धजाग्रत अवस्था में थे।

सामान्यतः कोई भी व्यक्ति सपना देख सकता है। हर व्यक्ति का देखा हुआ सपना साकार हो, यह कोई नियम नहीं है। इसलिए न तो सब सपने याद रहते हैं और न सब लोग फलादेश के बारे में जानते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार संवृत अनगार जो सपना देखता है, वह निश्चित रूप से सच होता है। महावीर अनगार थे, चतुर्ज्ञान से संपन्न अनगार थे, संवृत अनगार थे। उनके द्वारा देखे गए स्वप्नों का विशेष महत्त्व था। उन्होंने उस छोटे-से कालखण्ड में दस महास्वप्न देखे। आवश्यकचूर्णि में उनके स्वप्नों का स्वरूप निम्ननिर्दिष्ट रूप में वर्णित है–

1. एक विशालकाय पिशाच महावीर के सामने आकर खड़ा होता है। वह महावीर को ललकारता है। महावीर उसकी चुनौती स्वीकार कर उससे मुकाबला करते हैं और देखते-देखते उसको पछाड़कर पराजित कर देते हैं।

2. सफेद पंखों वाला एक बड़ा-सा नरकोकिल महावीर के चारों ओर चक्कर काटता है।

3. रंग-बिरंगे पंखों वाला एक नरकोकिल महावीर के पास खड़ा है।

4. वैडूर्यरत्न से बनी हुई दो मालाएं महावीर के सामने रखी हुई हैं। उनमें एक माला बड़ी है और दूसरी छोटी है।

5. सफेद रंग की गायों और बछड़ों का एक बड़ा समूह महावीर के सामने इधर-उधर घूमता है।

6. जिस स्थान पर महावीर बैठे हैं, उनके सामने एक सुंदर जलाशय है। वह खिले हुए कमलों से भरा है

7. महावीर एक समुद्र में खड़े हैं। उनके पास न कोई जलपोत है और न कोई और साधन ही है। वे अपनी भुजाओं से तैरकर समुद्र को पार कर रहे हैं।

8. महावीर देखते हैं कि रात्रि के सघन अंधकार को पूर्णरूप से क्षीण करने वाले सूर्य का उदय हो गया है। वह सूर्य तेज से बहुत अधिक प्रभास्वर है।

9. महावीर मानुषोत्तर पर्वत के पास खड़े होकर अपनी आंतों से उस पर्वत को घेर रहे हैं।

10. महावीर मेरु पर्वत पर आरोहण कर रहे हैं। बिना रुके और बिना थके पर्वत पर आरोहण करते-करते वे उसके सबसे ऊंचे शिखर पर चढ़ने में सफल हो जाते हैं।

**3. उनमें चौथा महास्वप्न,**
**दो मालाओं का दर्शन था।**
**जो विशिष्ट अनगार अगार-**
**धर्म का सही निदर्शन था॥**

**4. स्वप्न-प्रवक्ता उत्पल-**

**नहीं समझ पाया उसकी भाषा।**

**जिज्ञासा पर कर करुणा**

**दी स्वयं वीर ने परिभाषा॥**

दस महास्वप्नों में चौथा स्वप्न था दो रत्नमालाओं का दर्शन। यह स्वप्न भगवान महावीर द्वारा विशेष रूप से निरूपित किए जाने वाले अनगार धर्म (साधु धर्म) और अगार धर्म (गृहस्थ धर्म) का सम्यक निर्देश था।

भगवान पार्श्व की परंपरा का अनुगामी उत्पल महावीर के स्वप्नों का प्रवक्ता बना। वह चौथे स्वप्न का अर्थ नहीं समझ सका। उसने कहा– 'भंते! आपके चौथे स्वप्न का अर्थ समझ में नहीं आया। कृपा कर आप उसका अर्थ समझाएं।' उत्पल की जिज्ञासा पर महावीर ने करुणा कर उस स्वप्न का अर्थ समझाया।

## भाष्य

महावीर युग में भगवान पार्श्व की शिष्य-परंपरा चल रही थी। उस परंपरा में दीक्षित श्रमण उत्पल ने अनेक प्रकार की विद्याएं सीखीं। कालांतर में वह साधु जीवन छोड़कर परिव्राजक बन गया। अष्टांग निमित्त विद्या पर उसका अच्छा अधिकार था। उसने यक्षमंदिर में एक भिक्षु के रात्रिप्रवास की बात सुनी। उसने यह भी सुना कि राजा सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान साधु बनकर इस इलाके में भ्रमण कर रहे हैं। उत्पल उनको देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाया। पौ फटने के बाद वह कुछ गांववासियों के साथ यक्षमंदिर में गया। महावीर को देखकर अभिभूत हो गया। उनके चेहरे की शांति और पवित्र आभामंडल ने उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न की। उसने निमित्त विद्या के बल पर महावीर के जीवन में झांका। रात्रि का पूरा वृत्तांत वह जान गया।

उत्पल बहुत बड़ा ज्ञानी था। उसने अपने ज्ञान से यह भी जान लिया कि यक्ष का उपद्रव शांत होने पर महावीर ने कुछ समय नींद ली और नींद में उन्होंने दस स्वप्न देखे। उत्पल ने उन स्वप्नों के फलादेश पर विचार किया। एक-एक कर प्रायः सभी स्वप्नों के रहस्य खुलते चले गए। केवल चौथे स्वप्न पर उत्पल अटक गया। चौथे स्वप्न में महावीर ने रत्ननिर्मित

दो मालाएं देखी थीं। उत्पल ने अपने दिमाग पर बहुत जोर डाला, पर दो मालाओं का रहस्य खुला नहीं। उसने शेष नौ सपनों का फलादेश प्रकट करते हुए महावीर से प्रश्न किया–'भंते! आपने स्वप्न में दो मालाएं देखीं, इसका क्या फल होगा?' महावीर की ज्ञानचेतना बहुत निर्मल थी, पारदर्शी थी। वहां पर सब सपनों के फल प्रतिबिंबित थे। महावीर के सामने केवल चतुर्थ स्वप्न के बारे में जिज्ञासा की गई थी। उसे समाहित करते हुए उन्होंने कहा–'उत्पल! मैं भविष्य में द्विविध धर्म का निरूपण करूंगा। अनगार धर्म (साधु धर्म) और अगार धर्म (गृहस्थ धर्म) का प्रतिपादन करूंगा। दो मालाएं द्विविध धर्म की प्रतीक हैं।'

उत्पल की जिज्ञासा समाहित हुई। पर यहां एक प्रश्न सहज रूप में उपस्थित हो जाता है कि महान नैमित्तिक उत्पल विशिष्ट ज्ञानी था। उसने महावीर द्वारा देखे गए नौ स्वप्नों का फलादेश जान लिया। एक चौथे स्वप्न का फल उसकी समझ में क्यों नहीं आया? इस प्रश्न पर विचार करते समय यह तथ्य उजागर होता है कि उत्पल का संबंध भगवान पार्श्व की परंपरा से था। पार्श्व के युग में साधु धर्म और गृहस्थ धर्म अथवा महाव्रत और अणुव्रत जैसा स्पष्ट विभाग नहीं था। पार्श्व ने 'चतुर्याम धर्म' का प्रतिपादन किया था। साधु और श्रावक दोनों चतुर्याम धर्म की आराधना करते थे। उसकी परिपूर्ण आराधना की क्षमता रखने वाले साधु बन जाते और आंशिक आराधना करने वाले श्रावक कहलाते। द्विविध धर्म की परंपरा प्रचलित नहीं होने से उत्पल उस विषय में सोच नहीं सका। इसी कारण वह चौथे स्वप्न का फलादेश नहीं जान पाया।

महावीर द्वारा देखे गए स्वप्नों का फलादेश–

1. ताल पिशाच को पराजित करने का फल है मोह कर्म का नाश।
2. सफेद पंखों वाले नरकोकिल का फल है शुक्लध्यान का विकास।
3. रंग-बिरंगे पंखों वाले नरकोकिल का फल है द्वादशांगी का निरूपण।
4. रत्नों की दो मालाओं का फल है अनगार और अगार धर्म का प्ररूपण।
5. सफेद रंग वाले गोवर्ग का फल है चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना।

6. विकसित कमल सरोवर का फल है चार प्रकार के देवों द्वारा सेवा।
7. भुजाओं से समुद्र पार करने का फल है संसार-समुद्र का पार पाना।
8. प्रभास्वर सूर्य का फल है केवलज्ञान की उपलब्धि।
9. आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को घेरने का फल है दिग-दिगंत में यश का विस्तार।
10. मेरु पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण का फल है व्यापक धर्म का प्रतिपादन।

**5. जो अगार-घर छोड़ बने,**
**अनगार धर्म के अधिकारी।**
**शेष अगारी-घरबारी-**
**के लिए अगार धर्म भारी॥**

धर्म के दो रूप हैं–अगार धर्म और अनगार धर्म। अगार का अर्थ है घर। घर का त्याग करने वाले अनगार धर्म के अधिकारी बनते हैं। शेष अगारी-गृहस्थ घरबारी होते हैं। उनके लिए अगार धर्म की व्यवस्था है।

## भाष्य

संस्कृत शब्दकोश में अग शब्द वृक्ष का वाचक है। घर के लिए अगार शब्द का प्रयोग इस तथ्य को प्रकट करता है कि प्राचीनकाल में वृक्ष की लकड़ी से घर बनाए जाते थे। गृहस्थ जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं में घर की गणना की गई है। जिस व्यक्ति का अपना घर नहीं होता, उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस दृष्टि से घर को बहुत महत्त्व दिया गया है। साधु अपरिग्रही होता है। घर को परिग्रह माना गया है, इसलिए उसका त्याग अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने साधु के आचार की चर्चा करने से पहले उसके तीन विशेषण बताए–

**संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।**

जो संयोग से मुक्त है, अनगार-गृहत्यागी है और भिक्षु है।

अनगार धर्म के अधिकारी वे ही हो सकते हैं, जो न तो अपने लिए घर बनाते हैं, न दूसरों से बनवाते हैं और न अपने लिए बनाए गए घर में रहते हैं। इस प्रकार की साधना करने वाले साधु बन जाते हैं।

जो लोग घर का त्याग नहीं कर सकते, साधु नहीं बन सकते, वे अगारी या घरबारी कहलाते हैं। उनके लिए व्यापक रूप में अगारधर्म–गृहस्थ धर्म का मार्ग खुला रहता है।

**6. रहे भक्ति में शक्ति-संतुलन,**
**महा-अणुव्रत का आधार।**
**जिनशासन की यह व्यापकता,**
**युनिवर्सल श्री वीर-विचार॥**

'शक्ति के अनुसार भक्ति'–यह एक कहावत है। भक्ति में शक्ति का संतुलन बिठाने के लिए महाव्रत (अनगार धर्म) और अणुव्रत (अगार धर्म) को आधार बनाया जा सकता है। महाव्रत और अणुव्रत का वर्गीकरण जिनशासन की व्यापकता और भगवान महावीर के सार्वभौम विचारों का प्रतीक है।

## भाष्य

'शक्ति सारू भक्ति'–'जितनी शक्ति, उतनी भक्ति'–यह एक आम कहावत है। भगवान महावीर ने इसको चरितार्थ कर दिया। वे केवल भक्ति के आधार पर साधना करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने कहा–

**बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोगमप्पणो।**
**खेत्तं कालं च विण्णाय, तहप्पाणं निजुंजए॥**

व्यक्ति अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र एवं काल को जानकार आत्मा का नियोजन करे। इस कथन का तात्पर्यार्थ यह है कि शक्ति के अनुसार तप आदि का आचरण करना चाहिए।

भक्ति के साथ शक्ति का संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्म का निरूपण किया। महाव्रत और अणुव्रत की परिकल्पना इसी धरातल पर की गई है। जो व्यक्ति अनुभव करे कि वह किसी भी प्रकार की साधना में दुर्बल नहीं है, उसमें पर्याप्त क्षमता है,

वह अनगार बन जाए और महाव्रतों की आराधना में अपनी शक्ति का उपयोग करे। जिस व्यक्ति में क्षमता कम हो, साधु जीवन का पालन करने में कठिनाई हो, वह अगार धर्म स्वीकार करे, श्रावक बनकर साधना करे।

जिनशासन की व्यापकता का सबसे बड़ा आधार यही है कि यहां किसी प्रकार की बाध्यता नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार साधना का मार्ग प्रशस्त है। भगवान महावीर के विचार युनिवर्सल हैं, सार्वभौम हैं, जिनशासन की व्यापकता का दूसरा आधार यह है।

प्रस्तुत पद्य में युनिवर्सल शब्द का प्रयोग विशेष उद्देश्य से किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जैनदर्शन में कहीं कोई संकीर्णता नहीं है। वह वर्ण, जाति, देश, वेश, भाषा आदि में उलझा हुआ नहीं है। जैन तीर्थंकरों ने मिथ्यादृष्टि और अभव्य जीवों में भी धर्म का अंश स्वीकार किया है। जीवन भर के लिए एक छोटा-सा त्याग करने वाला व्यक्ति भी देशव्रती हो जाता है, पांचवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। जैन लोग जैनधर्म की व्यापकता और सार्वभौमता का अनुभव कर उसे व्यापक बनाने का प्रयास करें, यह आवश्यक है।

**(लावणी)**

**7. जो हो संभव अनगार-धर्म का पालन,**
**तो करें उसी पथ में अपना संचालन।**
**क्षमता यदि अल्प, अनल्प धर्म में आस्था,**
**साभार अगार-धर्म का पकड़ें रास्ता॥**

जिनके लिए अनगार धर्म का पालन संभव हो, उन्हें उसी पथ पर चलना चाहिए। धर्म में बहुत अधिक आस्था होने पर भी आचरण की शक्ति कम हो तो भगवान महावीर के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अगार धर्म को स्वीकार करना चाहिए।

## भाष्य

भगवान महावीर का दृष्टिकोण यह रहा कि जिन लोगों के लिए अनगार धर्म का पालन संभव हो, उन्हें उसी रास्ते पर चलना चाहिए। महाव्रतों का पालन करने की क्षमता होने पर अणुव्रतों को स्वीकार करना शक्ति का संगोपन है। शक्ति का गोपन दुर्बलता है, कायरता है। इसी दृष्टि

से महावीर ने कहा–**णो णिहेज्ज वीरियं**'–वीर्य का गोपन मत करो। वीर्य का गोपन करने वाला बहुत बड़े लाभ से वंचित हो जाता है। अपनी शक्ति में संदेह करने वाला व्यक्ति भी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता। 'मैं ऐसा करूं और ऐसा हो गया तो'–इस प्रकार संदेह की स्थिति में रहने वाला व्यक्ति अपनी शक्ति का समुचित उपयोग नहीं कर पाता।

जिन लोगों में धर्म के प्रति पूरी आस्था हो, पर आचरण की क्षमता कम हो, उनके लिए अगार धर्म का रास्ता खुला है। वे भगवान महावीर के प्रति आभार प्रकट करें कि उन जैसे दुर्बल व्यक्तियों की भी भगवान ने उपेक्षा नहीं की। वे साधु नहीं बन सकते तो क्या हुआ, श्रावक धर्म का पालन तो कर ही सकते हैं।

**8. यह व्रताऽव्रती धर्माऽधर्मी की श्रेणी,**
**आध्यात्मिक आरोहण हित है निःश्रेणी।**
**इस श्रेणी में जो भी मानव आते हैं,**
**वे श्रमणोपासक, श्रावक कहलाते हैं॥**

अगार धर्म का पालन मध्यम श्रेणी की साधना है। यह व्रताऽव्रती या धर्माऽधर्मी की श्रेणी है। इसे आध्यात्मिक विकास के लिए निसैनी माना गया है। इस श्रेणी में आने वाले व्यक्ति श्रमणोपासक और श्रावक कहलाते हैं।

## भाष्य

आचरण की क्षमता के आधार पर मनुष्य की तीन श्रेणियां की जा सकती हैं–

| | | |
|---|---|---|
| अव्रती | व्रताऽव्रती | व्रती |
| अधर्मी | धर्माऽधर्मी | धर्मी |
| असंयमी | संयमाऽसंयमी | संयमी |

व्रत, धर्म और संयम–ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करते हैं, वे व्रती, धर्मी या संयमी कहलाते हैं। जिनके जीवन में अंश रूप में भी व्रत नहीं होता, वे अव्रती, अधर्मी या असंयमी कहलाते हैं। इन दोनों के बीच की श्रेणी व्रताऽव्रती, धर्माऽधर्मी या संयमाऽसंयमी की श्रेणी है। यह साधना का उत्कृष्ट मार्ग नहीं

है तो सर्वथा निकृष्ट मार्ग भी नहीं है। इसलिए इसे मध्यम मार्ग माना जा सकता है। उत्कृष्ट मार्ग पर चलना हर एक के लिए संभव नहीं होता, किंतु मध्यम मार्ग पर हर कोई चल सकता है। इस दृष्टि से इस श्रेणी का विशेष महत्त्व है।

बहुमंजिली इमारत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की अपेक्षा रहती है। इसी प्रकार अध्यात्म की ऊंचाई तक पहुंचने हेतु व्रत आवश्यक हैं। श्रावक पूर्णव्रती भले ही न हो, पर उसके द्वारा स्वीकृत छोटा-सा व्रत भी उसके आध्यात्मिक विकास में निसैनी का काम कर सकता है। इस कारण व्रताऽव्रती का महत्त्व है।

**9. श्रावक हैं श्रद्धाशील विमल विश्वासी,**
**श्रावक जीवन-जागरणा के अभ्यासी।**
**श्रावक ने अपना सही लक्ष्य पहचाना,**
**मानवता का प्रतिमान स्वयं को माना॥**

श्रावक के जीवन में तीन विशेषताएं होती हैं–

- वे देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धाशील होते हैं।
- वे सबके विश्वासपात्र होते हैं।
- वे जीवन की जागृति के लिए साधना का प्रयोग करने वाले होते हैं।

जो अपने लक्ष्य को पहचान लेते हैं और स्वयं को मानवता का प्रतिरूप मानते हैं, वे ही श्रावक कहलाने के अधिकारी हैं।

## भाष्य

प्रस्तुत पद्य में श्रावक की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है–श्रद्धाशीलता, विश्वासपात्रता और जीवनजागृति के लिए प्रयोगधर्मिता।

श्रावक की पहली विशेषता है श्रद्धाशीलता। वह देव, गुरु और धर्म के प्रति पूर्ण आस्थावान होता है। श्रद्धा की प्रकृष्टता के आधार पर वह क्षायक सम्यक्त्व से भी संपन्न हो सकता है। इस बात को प्रकारांतर से यों भी कहा जा सकता है कि श्रावक अध्यात्म के प्रति, अपने प्रति और अपनी साधना के प्रति गहरी श्रद्धा रखता है। वह आत्मवादी होता है और आत्मा की त्रैकालिक सत्ता में विश्वास करता है।

श्रावक की दूसरी विशेषता है विश्वासपात्रता। जिस युग में भाई को भाई का विश्वास नहीं होता, पिता को पुत्र का विश्वास नहीं होता और मित्र को मित्र का विश्वास नहीं होता, उस युग में सबका विश्वस्त होना बहुत बड़ी बात है। श्रावक के बारे में लोगों की यह धारणा होनी चाहिए कि यह श्रावक है, इसलिए इसके हाथ से कोई गलत काम नहीं होगा। यह किसी को धोखा नहीं देगा। इसकी कथनी-करनी में समानता होगी। यह वचन नहीं बदलेगा, इत्यादि। इस धारणा के आधार पर प्राचीनकाल में राजाओं के अंतःपुर में भी श्रावक बेरोकटोक जा सकते थे। व्यवसाय और व्यवहार की प्रामाणिकता ही व्यक्ति को विश्वस्त बनाती है।

श्रावक की तीसरी विशेषता है प्रयोगधर्मिता। जीवन में जागृति या नए-नए उन्मेष लाने के लिए श्रावक निरंतर प्रयोग करता रहता है। कभी वह एकांतर तपस्या करता है, कभी दस प्रत्याख्यान करता है, कभी उपवास, आयंबिल करता है, कभी मिठाई का त्याग करता है, कभी ध्यान करता है, कभी अनुप्रेक्षा करता है, कभी स्वाध्याय करता है, कभी धम्मजागरणा करता है, कभी अभिनव सामायिक का प्रयोग करता है और कभी प्रतिमा स्वीकार करता है। छोटे-छोटे प्रयोगों की तो गणना करना भी कठिन है। श्रावक का यह लक्ष्य रहता है कि उसके हर व्यवहार में श्रावकत्व झलके। इसलिए वह जीवन-जागरणा का अभ्यास करता रहता है।

श्रावक वह होता है, जो अपने जीवन का सही लक्ष्य पहचान लेता है। धनवान बनना, भोगी-विलासी बनना, बड़प्पन दिखाना, आडंबर और प्रदर्शन करना उसका लक्ष्य नहीं होता। उसका लक्ष्य होता है सम्यग दर्शन और सम्यक ज्ञान की साधना, श्रावक के बारह व्रतों की आराधना और अंततोगत्वा मुनिधर्म में दीक्षित होना। लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ना उसका संकल्प होता है, इसलिए वह उसकी तैयारी में संलग्न रहता है।

मनुष्य को कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न का एक उत्तर है—जैन श्रमणोपासक जैसा। जैन श्रमणोपासक की जीवनशैली कैसी होती थी? यह जानने के लिए भगवती सूत्र (2/94) में वर्णित तुंगिकानगरी के श्रमणोपासकों का जीवनक्रम समझना आवश्यक है। उसमें उनकी सामाजिक व धार्मिक दोनों अवस्थाओं का चित्रण किया गया है।

संपन्नता, दानशीलता आदि उनकी सामाजिक अवस्था को प्रतिबिंबित करने वाले घटक हैं। तत्त्वज्ञान, आत्मनिर्भरता, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था, व्रतों की आराधना, तपस्या आदि उनके धार्मिक जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले तत्त्व हैं। उस वर्णन के आधार पर श्रावक अपने आपको मानवता का प्रतिमान–प्रतिरूप मानता है और मानवता का मखौल करने वाली प्रवृत्ति से स्वयं को बचाता है। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि श्रावक कभी कोई गलती करता ही नहीं है। उससे भी अतिक्रमण-गलत आचरण हो जाता है, किंतु वह अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करने के लिए भी तत्पर रहता है।

**10. जिनशासन के अविभाज्य अंग हैं श्रावक,**
**मति से, गति से जिनमत के सदा प्रभावक।**
**शासन की उन्नति में निज उन्नति देखें,**
**निज उन्नति में शासन-उन्नति आलेखें॥**

साधु की तरह श्रावक भी जिनशासन के अभिन्न अंग होते हैं। वे अपने ज्ञान और आचरण से हमेशा जिनशासन की प्रभावना करने के लिए तत्पर रहते हैं। वे जिनशासन के विकास में अपना विकास देखते हैं और अपने विकास का अंकन शासन-विकास के रूप में करते हैं।

## भाष्य

तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। धर्मतीर्थ के लिए श्रमण संघ, जिनशासन आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। भगवती सूत्र में कहा गया है–'चाउवण्णाइण्णे समणसंघे।' श्रमणसंघ के चार वर्ण–अंग होते हैं–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। यह विभाजन लिंग और व्रत दोनों को आधार बनाकर किया गया है। इस विषय की चर्चा करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने संघषट्त्रिंशिका में लिखा है–

**लिंगभेदाच्चतुर्भेदः, द्विधाऽयं व्रतभेदतः।**
**आचार्योऽधिपतिर्यत्र, स संघः संघ उच्यते॥**

लिंग के आधार पर भेद किया जाए तो संघ चार प्रकार का होता है। महाव्रत और अणुव्रत के आधार पर व्याख्या की जाए तो संघ दो प्रकार

का होता है। जहां पर एक मात्र आचार्य ही अनुशास्ता होते हैं, वह संघ सही अर्थ में संघ कहलाने का अधिकारी है।

श्रावक गृहस्थ हैं, फिर भी वे जिनशासन के अभिन्न अंग हैं। उनको अलग कर दिया जाए तो श्रमण संघ परिपूर्ण नहीं बन सकता। इसी कारण साधु और श्रावक का जोड़ा बताया गया है।

श्रावक जिनशासन के अभिन्न अंग हैं, इसीलिए वे इसकी प्रभावना के लिए जागरूक रहते हैं। श्रावक मुख्यतः दो प्रकार से जिनशासन की प्रभावना कर सकते हैं–ज्ञान से और क्रिया से। ज्ञान का संबंध वस्तुबोध, चिंतन तथा मनन के साथ है और क्रिया का संबंध आचरण के साथ है। श्रावक जिनशासन की प्रभावना के लिए केवल चिंतन करके ही विराम नहीं लेते। वे अपनी सर्विस, व्यापार, लेन-देन आदि सब कार्यों में प्रभावना का लक्ष्य रखते हैं।

जिनशासन और श्रावक दो नहीं हैं। इसलिए एक-दूसरे की उन्नति का प्रभाव एक-दूसरे पर होता रहता है। जिनशासन की उन्नति को श्रावक अपनी उन्नति मानते हैं और अपनी उन्नति में वे जिनशासन की उन्नति देखते हैं। श्रावकों की भौतिक उन्नति भी एक सीमा तक जिनशासन की उन्नति में निमित्त बन सकती है।

रामकुमारजी सरावगी (कलकत्ता) श्रद्धाशील और तत्त्व को समझने वाले श्रावक थे। उन्होंने एक बार आचार्यश्री तुलसी से पूछा–'धर्मसंघ में धनाढ्य लोगों को महत्त्व क्यों दिया जाता है?' इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यश्री ने कहा–'धर्मसंघ में अपने-अपने स्थान पर सबका महत्त्व है। श्रावक सब प्रकार के होते हैं। सामायिक के आधार पर मूल्यांकन का प्रसंग आने पर पूणिया श्रावक का नाम आता है तो जिनशासन की विशेष प्रभावना के सन्दर्भ में सम्राट श्रेणिक का नाम भी लिया जाता है। आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक आदि किसी भी क्षेत्र के बड़े व्यक्ति श्रावक बनते हैं तो उनसे जिनशासन का महत्त्व बढ़ता ही है। जैनधर्म का इतिहास बताता है कि महावीर का कोई भी अनुयायी भिखारी नहीं था। प्रश्न धनाढ्य या गरीब का नहीं, उपयोगिता का है, धर्मसंघ की प्रभावना का है। तपस्वी, ध्यानी, मौनी, तत्त्ववेत्ता, प्रवक्ता आदि कोई भी हो, जिनशासन की प्रभावना में निमित्त बनकर वह महत्त्वपूर्ण बन सकता है।'

**श्रमणोपासना के लाभ**

**(दोहा)**

**11. श्रमणों की समुपासना, श्रमणोपासक नाम।**
**शास्त्रों का श्रोता सजग, श्रावक नाम ललाम॥**

**12. फल उपासना का श्रवण, मिले श्रवण से ज्ञान।**
**फिर विज्ञान विवेचना, उससे प्रत्याख्यान॥**

**13. संयम प्रत्याख्यान से, हो आश्रव-अवरोध।**
**तप वोदाणे-निर्जरा, उससे अंतःशोध॥**

**14. ततः अतुल एकाग्रता अक्रिय बने अयोग।**
**शाश्वत सिद्धि, उपासना से दस बोल अमोघ॥**
**(विशेषकम्)**

श्रावक श्रमणों की उपासना करता है, इसलिए श्रमणोपासक कहलाता है। वह शास्त्रों को जागरूकता से सुनता है, इसलिए श्रावक कहलाता है। ये दोनों नाम सार्थक हैं।

1. श्रमणों की उपासना का फल है श्रवण।
2. श्रवण का फल है ज्ञान।
3. ज्ञान का फल है विज्ञान।
4. विज्ञान का फल है प्रत्याख्यान।
5. प्रत्याख्यान का फल है संयम।
6. संयम का फल है अनाश्रव।
7. अनाश्रव का फल है तप।
8. तप का फल है व्यवदान–कर्मों का विच्छेद, निर्जरा।
9. व्यवदान का फल है अक्रिया।
10. अक्रिया का फल है शाश्वत सिद्धि।

श्रमणों की उपासना से उक्त दस सार्थक बोलों की प्राप्ति होती है।

## भाष्य

अगार धर्म–गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति के लिए शास्त्रों में चार शब्द प्रयुक्त होते हैं–श्रमणोपासक, उपासक, श्राद्ध और

श्रावक। श्रमणों की उपासना करने के कारण वह श्रमणोपासक कहलाता है। आत्मा, धर्म या मोक्ष की उपासना करने के कारण वह उपासक कहलाता है। श्रद्धाशील होने के कारण श्राद्ध कहलाता है और शास्त्रों या संत-वाणी का श्रवण करने के कारण श्रावक कहलाता है।

प्राचीनकाल में मुद्रण या लेखन की व्यवस्था और सुविधा नहीं थी। ज्ञान के आदान-प्रदान का प्रमुख साधन था श्रवण–सुनना। गुरु की उपासना करने वाले व्यक्ति को अपूर्व तत्त्व सुनने का मौका मिलता था। भगवती सूत्र में श्रमण–माहन की पर्युपासना से अध्यात्म विकास की दस भूमिकाएं प्रशस्त होने का उल्लेख है। उन भूमिकाओं का क्रम इस प्रकार है–

- श्रमणों की पर्युपासना से अध्यात्म अथवा धर्म का श्रवण मिलता है।
- श्रवण से श्रुतज्ञान मिलता है, ज्ञान चेतना का जागरण होता है।
- ज्ञान से विज्ञान मिलता है, हेय और उपादेय का विवेक होता है।
- विवेक का अर्थ है विवेचनात्मक ज्ञान। हेय और उपादेय का सम्यक विवेचन होने के बाद व्यक्ति प्रत्याख्यान करता है, हेय को छोड़ता है।
- प्रत्याख्यान की परिणति है संयम। इंद्रिय और मन का संयम वही कर सकता है जिसमें प्रत्याख्यान की चेतना जाग जाती है।
- संयम की चेतना विकसित होने पर अनाश्रव-संवर होता है, नए कर्मों का निरोध होता है।
- संवर के सधने से तप की चेतना का जागरण होता है, विशिष्ट प्रकार की शुभ प्रवृत्ति होती है।
- तप से व्यवदान–पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है और भीतरी तंत्र शिथिल हो जाता है।
- निर्जरा जितनी अधिक होगी, मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का उतना ही निरोध होता जाएगा। यह निरोध व्यक्ति को अक्रिया की ओर अग्रसर करता है।
- अक्रिया सिद्धि का कारण बनती है। अक्रिया की स्थिति में प्रवृत्ति या चंचलता समाप्त हो जाती है। जब तक प्रवृत्ति होती है, सिद्धि

नहीं हो सकती। सिद्धि के लिए सम्पूर्ण निवृत्ति की स्थिति में पहुंचना आवश्यक है। सिद्धि आध्यात्मिक विकास की आखिरी भूमिका है।

उक्त दसों भूमिकाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है। हर भूमिका अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। फिर भी एक अपेक्षा से इनमें कार्य-कारण भाव स्थापित किया जा सकता है। पांच भूमिकाएं कारण हैं और पांच भूमिकाएं कार्य हैं। कारण-कार्य की व्यवस्था इस प्रकार बैठ सकती है–

श्रवण कारण है और ज्ञान उसका कार्य है।

विज्ञान कारण है और प्रत्याख्यान उसका कार्य है।

संयम कारण है और अनाश्रव उसका कार्य है।

तप कारण है और व्यवदान उसका कार्य है।

अक्रिया कारण है और सिद्धि उसका कार्य है।

गीता में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया है। यह व्यक्ति को प्रत्याख्यान तक पहुंचा सकती है। व्यक्ति सुनता है। उस पर मनन करता है, ज्ञान-विज्ञान की चेतना को जगाता है और निदिध्यासन अर्थात अनुशीलन करता है, प्रत्याख्यान करता है। अणुव्रत और महाव्रत की यात्रा प्रत्याख्यान से शुरू होती है। अग्रिम पड़ावों तक पहुंचने के लिए हेय का त्याग करना ही होगा। हेय का त्याग किए बिना सिद्धि तक का रास्ता प्रशस्त नहीं हो सकता।

## (वंदना आनन्द)

**15. तुंगिया नगरी निवासी श्रावकों की संकथा,**
**'भगवती' की वाचना से मिटे मानस की व्यथा।**
**गहन जिज्ञासा भरे वर प्रश्न श्री गौतम करे,**
**समाधान प्रधान श्री भगवान-वचनामृत झरे॥**

तुंगिकानगरी में एक बार भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के स्थविर आए। वहां के तत्त्वज्ञ श्रावक उनका प्रवचन सुनने गए। प्रवचन सुन उन्होंने स्थविरों के साथ धर्म-चर्चा की। वह प्रसंग भगवती सूत्र (श. 2/92-111) में वर्णित है। उसके अध्ययन से मन को संतोष मिलता है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर से उसी विषय की विशद जानकारी पाने के लिए गंभीर जिज्ञासा भरे कुछ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नों को प्रमुख रूप से समाहित करने के लिए भगवान ने वचनामृत की वर्षा की।

# भाष्य

भगवान महावीर अपने शिष्यों के साथ मगध जनपद में विहार कर रहे थे। उन दिनों भगवान पार्श्व की परंपरा के कुछ स्थविर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए तुंगिकानगरी आए। तुंगिकानगरी के श्रावक सामाजिक और धार्मिक–दोनों दृष्टियों से संपन्न थे। उनके पास विपुल वैभव था। उनमें केवल अर्थसंग्रह की चेतना ही नहीं थी, वे विसर्जन करना भी जानते थे। वहां के नागरिकों में उनका वर्चस्व था। वे तत्त्वज्ञानी और आत्मनिर्भर थे। निर्ग्रंथ प्रवचन में उनकी अटूट आस्था थी। वे सबके लिए विश्वस्त थे। वे व्रतों की आराधना करते थे, तपस्या करते थे और साधुओं के भक्त थे।

पार्श्वापत्यीय स्थविरों के आगमन का संवाद सुनकर तुंगिकानगरी के श्रावक उनके पास गए। स्थविरों ने उनको चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। श्रावकों के मन में कुछ जिज्ञासाएं पैदा हुईं। उन्होंने विनयपूर्वक पूछा–'भंते! संयम का फल क्या है? तपस्या का फल क्या है?' स्थविर बोले–'आर्यो! संयम से अनाश्रव होता है, नए कर्मों का निरोध होता है और तपस्या से व्यवदान होता है, पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है।'

श्रावकों को अपनी जिज्ञासा का समाधान मिला, पर एक नई जिज्ञासा उभर गई। उन्होंने फिर प्रश्न किया–'भंते! यदि संयम का फल अनाश्रव और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं?' स्थविरों ने उत्तर दिया–'आर्यो! पूर्वकृत तप, पूर्वकृत संयम, कर्म की सत्ता और आसक्ति के कारण देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

उक्त प्रश्नोत्तर के आधार पर दो बातें फलित होती हैं–

1. भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का निरूपण किया। उनमें संयम और निर्जरा की प्रधानता थी। संयम और निर्जरा को मोक्ष का कारण माना गया है। ऐसी स्थिति में जीव स्वर्ग में कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर चार स्थविरों ने दिया–

कालिकपुत्र नामक स्थविर ने कहा–'आर्यो! पूर्वकृत तप से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

मेहिल नामक स्थविर ने कहा–'आर्यो! पूर्वकृत संयम से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

आनंदरक्षित नामक स्थविर ने कहा–'आर्यो! कर्म की सत्ता से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

काश्यप नामक स्थविर ने कहा–आर्यो! आसक्ति के कारण देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं। चारों के उत्तर अलग-अलग थे, पर चारों उत्तर मिलकर ही उक्त प्रश्न को समाहित करते हैं। (भ. श. 1/102)

2. तुंगिकानगरी के श्रावकों द्वारा पार्श्वापत्यीय स्थविरों से की गई जिज्ञासा के समय संभवतः राजगृह नगर के कुछ श्रावक भी वहां उपस्थित थे। उन्होंने राजगृह में अन्य श्रावकों के सामने उक्त चर्चा को दोहराया। उस समय भगवान महावीर राजगृह नगर में आए। उस दिन गणधर गौतम के बेले का पारणक था। वे मध्याह्न के समय भिक्षा के लिए नगर में गए। श्रावकों के बीच हो रही उस चर्चा ने उनके मन में कुतूहल भर दिया। वे भिक्षा करके आवास-स्थल पर लौट गए। उन्होंने भगवान महावीर को शहर में हो रही चर्चा का संदर्भ बताते हुए पूछा–'भंते! पार्श्वापत्यीय स्थविर तुंगिका नगरी के श्रावकों के प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ हैं? उन्होंने जो उत्तर दिए हैं, क्या वे सही हैं?'

भगवान महावीर बोले–'गौतम! वे स्थविर उत्तर देने में समर्थ हैं। उनके उत्तर सही हैं। मैं भी यही कहता हूं कि देवलोक में उत्पन्न होने के चार कारण हैं–पूर्वकृत संयम, पूर्वकृत तप, कर्म की सत्ता और आसक्ति।

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य रूप से तुंगिकानगरी के श्रावकों के सामाजिक और धार्मिक वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया गया है। भगवती सूत्र के दूसरे शतक (सू. 94) में इन श्रावकों का वर्णन है। इनके प्रसंग में ही गणधर गौतम द्वारा भगवान महावीर को पूछे गए प्रश्नों की चर्चा की गई है।

## रत्नत्रयी

**(रामायण)**

**16. सम्यगदर्शनज्ञानचरित्राणि**
**रत्नत्रयी मोक्षपथ है।**
**उमास्वाति के शब्दों में,**
**श्रावक-जीवन का यह अथ है॥**

सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यगचारित्र–ये तीन रत्न हैं। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में यह रत्नत्रयी ही मोक्ष का मार्ग है। श्रावक जीवन का प्रारंभ यहीं से होता है।

## भाष्य

सम्यगदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र–ये तीन तत्त्व रत्नत्रयी के रूप में प्रसिद्ध हैं। जैन परंपरा के यशस्वी आचार्य उमास्वाति ने इसी को मोक्षमार्ग बताते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है–'**सम्यगदर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः**'। उत्तराध्ययन सूत्र में मोक्ष मार्ग के चार अंग बताए गए हैं–

**णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।**
**एस मग्गो त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ (28/2)**

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप–यह मोक्षमार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने निरूपित किया है।

मोक्षमार्ग की उक्त दोनों परिभाषाएं सम्मत हैं। प्रश्न हो सकता है कि श्रावक-संबोध में आगमिक परिभाषा को गौण कर उत्तरकालीन परिभाषा को महत्त्व क्यों दिया गया? इस प्रश्न का सीधा उत्तर यही है कि तत्त्वार्थसूत्र की परिभाषा भी आगम पर ही आधारित है। भगवती सूत्र में तीन प्रकार की आराधना बताई गई है–ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। उमास्वाति ने इस रत्नत्रयी की आराधना को ही मोक्षमार्ग माना है।

रत्नत्रयी की आराधना ही श्रावक जीवन का प्रारंभ है। जैनदर्शन में आत्मविकास की चौदह भूमिकाएं मानी गई हैं। इन्हें जीवस्थान या गुणस्थान कहा जाता है। प्रथम चार गुणस्थान एकांत अधर्मी, एकांत असंयमी और एकांत बाल हैं। इन गुणस्थानों में संयम धर्म की आराधना नहीं हो सकती। श्रावक पांचवें गुणस्थान का अधिकारी होता है। प्रथम चार गुणस्थानों में तप हो सकता है, पर वह केवल निर्जरा धर्म है। संवर धर्म की अपेक्षा से उनको एकांत अधर्मी माना गया है।

**17. दर्शन-सप्तक और**
**अप्रत्याख्यानावरण विलय पाए।**
**तब संयम-व्रत में प्रवेश कर,**
**देशव्रती वे कहलाएं॥**

दर्शनसप्तक–अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय–इन सात प्रकृतियों को दर्शनसप्तक कहा जाता है। इनका तथा अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ का विलय (क्षयोपशम) होता है, तब श्रावक का संयम-व्रत की दिशा में प्रस्थान होता है। आंशिक रूप में व्रत का पालन करने के कारण वे देशव्रती श्रावक कहलाते हैं।

## भाष्य

पांचवें गुणस्थान की प्राप्ति सम्यक दर्शन उपलब्ध होने पर ही होती है। इस दृष्टि से श्रावकत्व की भूमिका में प्रवेश करने के लिए दर्शनसप्तक और अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क के विलय को आवश्यक बतलाया गया है। विलय की तीन अवस्थाएं हैं–उपशांत, क्षीण, अनुदित। उपशांत अवस्था में उपशम सम्यक्त्व, क्षीण अवस्था में क्षायक सम्यक्त्व और विपाकोदय की दृष्टि से अनुदित अवस्था में क्षयोपशम सम्यक्त्व मिलता है।

दर्शनसप्तक तथा अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का विलय होने से व्यक्ति आंशिक रूप में संयम की साधना कर सकता है। व्रतों की आंशिक आराधना होने के कारण श्रावक देशव्रती कहलाता है। जब तक अप्रत्याख्यानावरण का विलय नहीं होता, तब तक क्षायक सम्यक्त्व उपलब्ध होने पर भी वह व्रती श्रावक नहीं बन सकता।

**(सहनाणी)**

**18. सम्यगदर्शन हो श्रावक में,**
**त्रैकालिक आत्मा में आस्था।**
**आराध्यदेव अरहंत सदा,**
**सद्गुरु आध्यात्मिक अनुशास्ता॥**
**अर्हदभाषित सद्धर्म-अहिंसा**
**संयम तप का आराधन।**
**हो लक्ष्य मोक्ष-परमात्मपदं,**
**पुरुषार्थ स्वयं का संसाधन॥**

श्रावक की जीवनयात्रा का प्रारंभ सम्यगदर्शन से होता है। सम्यगदर्शन-सम्पन्न व्यक्ति आत्मा की त्रैकालिक सत्ता में आस्था रखता है। उसकी आस्था के प्रमुख केंद्र तीन होते हैं–देव, गुरु और धर्म।

श्रावक अर्हत–तीर्थंकर को अपना आराध्यदेव मानते हैं। आध्यात्मिक अनुशासन करने वाले महाव्रती साधु उनके गुरु होते हैं। वे अर्हतों द्वारा निरूपित तत्त्व को धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। अहिंसा, संयम और तप की आराधना उनके धर्म का स्वरूप है। श्रावक का लक्ष्य होता है मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है परमात्मपद। उसका संसाधन व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है।

## भाष्य

श्रावक जीवन की न्यूनतम अर्हता है सम्यगदर्शन। प्रस्तुत पद्य में सम्यगदर्शन के व्यावहारिक स्वरूप को उजागर किया गया है। इसके अनुसार सम्यगदर्शन संपन्न व्यक्ति आत्मा की त्रैकालिक सत्ता में विश्वास करता है। आत्मा के वर्तमान अस्तित्व को नास्तिक भी स्वीकार करते हैं। बौद्धधर्म में आत्मा को क्षणिक माना गया है। कुछ दार्शनिक आत्मा को व्यापक मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अस्तित्व अतीत, वर्तमान और भविष्य–तीनों कालों में रहता है। आत्मा के पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है, पर वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। आत्मा शरीर-परिमाण है, वह पूरे लोक में व्याप्त नहीं है। जैन श्रावक आत्मा के इस स्वरूप को स्वीकार कर उसके ऊर्ध्वारोहण के लिए साधना करते हैं।

जैन श्रावक एक आदर्श, एक मार्गदर्शक और एक मार्ग का निर्धारण कर साधना के लिए प्रस्थान करते हैं। सामने कोई आदर्श न हो तो साधारण व्यक्ति विशेष पुरुषार्थ नहीं कर पाता। पुरुषार्थी व्यक्ति भी मार्गदर्शक के अभाव में भटक सकता है। पुरुषार्थ को सही दिशा में नियोजित करने के लिए मार्गदर्शक या नियोजक की अपेक्षा का अनुभव होता रहता है। नया मार्ग बनाना कठिन होता है, किंतु बना-बनाया मार्ग और वह भी प्रशस्त रूप में उपलब्ध हो तो मंजिल तक सरलता से पहुंचा जा सकता है।

जैन श्रावकों का सर्वोच्च लक्ष्य है मोक्ष। इसे परमात्मपद की प्राप्ति या आत्मस्वरूप की उपलब्धि भी कहा जाता है। मोक्ष प्राप्ति का साधन है

व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ। इस काम में गुरु सहयोगी बन सकते हैं, रास्ता दिखा सकते हैं, पर साधना तो स्वयं को करनी होगी। औरों पर निर्भर रहने वाले कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

चोर चोरी का माल लेकर भागा। राजपुरुषों ने पीछा किया। चोर भयभीत हो देवी के मंदिर में घुसा। उसने दीनता प्रकट करते हुए कहा–'मां भगवति! मुझे बचाओ।' देवी ने उसकी पुकार सुन ली। वह बोली–'जाओ, मुकाबला करो। मैं तुम्हारे साथ हूं।' चोर ने कहा–'मां! सामने जाने की शक्ति नहीं है।' देवी बोली–'तुम मंदिर का दरवाजा बंद कर लो।' चोर ने कहा–'मां! मेरे हाथ कांप रहे हैं। मैं दरवाजा बंद नहीं कर सकता।' देवी बोली–'एक काम करो, तुम मेरी प्रतिमा के पीछे आकर खड़े हो जाओ। यहां कोई तुम्हारे हाथ भी नहीं लगा सकेगा।' चोर ने कहा–'मां! मेरे पांव चिपक गए। मैं चल नहीं सकता।' देवी बोली–'तुम जहां खड़े हो, वहीं से चिल्लाओ। राजपुरुष भाग जाएंगे।' चोर ने कहा–'मां! चिल्लाना मेरे वश की बात नहीं है। मेरी जुबान चिपक गई है।' चोर की निराशा भरी बात सुनकर देवी बोली–'तुम कुछ भी नहीं कर सकते तो अपनी करणी का फल भोगो। ऐसे सत्त्वहीन व्यक्ति का सहयोग मैं नहीं कर सकती।' राजपुरुष आए और चोर को पकड़कर ले गए।

## सम्यगदर्शन के लक्षण

**19. शम-हो कषाय का सहज शमन,**
**संवेग-मुमुक्षा-वृत्ति सबल।**
**निर्वेद-बढ़े भव से विराग,**
**अनुकंपा-करुणा-भाव अमल।**
**आस्तिक्य-कर्म आत्मादिक में,**
**जन्मांतर में विश्वास प्रबल।**
**ये लक्षण सम्यगदर्शन के,**
**जीवन-यात्रा में हैं सम्बल॥**

सम्यगदर्शन के पांच लक्षण हैं–

शम-कषाय की उपशांति।

संवेग-मुक्त होने की तीव्र भावना।

निर्वेद-संसार से विरक्ति।

अनुकंपा-निरवद्य करुणा का भाव।

आस्तिक्य-आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि में प्रबल विश्वास।

इन पांच लक्षणों के द्वारा यह जाना जा सकता है कि अमुक व्यक्ति को सम्यगदर्शन उपलब्ध हो चुका है। जीवन की यात्रा में ये संबल के रूप में उपयोगी हैं।

## भाष्य

श्रावक-जीवन की पृष्ठभूमि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सम्यगदर्शन। जीवन में एक बार भी सम्यगदर्शन का स्पर्श हो जाए तो मोक्ष का आरक्षण हो जाता है। सवाल एक ही है कि सम्यगदर्शन उपलब्ध होने की पहचान क्या है? शास्त्रों में उसकी पहचान के पांच लक्षण बताए गए हैं–

1. शम–कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन। इस स्थिति के बाद न तो क्षण-क्षण में क्रोध का उभार होता है, न अभिमान का नाग फण उठाता है, न छल-कपट का भाव प्रबल होता है और न लोभवश गहरी आसक्ति होती है।
2. संवेग–मुमुक्षा-मुक्त होने की इच्छा का जागरण। संसारी प्राणी कर्मों से और शरीर से बंधा हुआ है। इनसे छुटकारा पाने या मुक्त होने की अभिलाषा का नाम संवेग है।
3. निर्वेद–संसार से विरक्ति। कमल कीचड़ में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सम्यक्त्वी व्यक्ति सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करने पर भी उनसे अनासक्त रहता है।
4. अनुकंपा–प्राणी मात्र के प्रति दया या करुणा का भाव। अनुकंपा के दो रूप हैं–सावद्य और निरवद्य। केवल प्राणरक्षामूलक या मोह मिश्रित अनुकंपा सावद्य अनुकंपा है। पाप आचरण से आत्मरक्षामूलक अनुकंपा निरवद्य अनुकंपा है। सम्यक्त्व का लक्षण यही अनुकंपा बनती है।

5. आस्तिक्य–आत्मा आदि के अस्तित्व में विश्वास। आत्मा है, परमात्मा है, कर्म है, धर्म है, कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं हो सकता, पुनर्जन्म है, पूर्वजन्म है इत्यादि सिद्धांतों में आंतरिक विश्वास का होना ही आस्तिक्य है।

सम्यगदर्शन की उपलब्धि के साथ कषाय-शमन की बात जुड़ी हुई है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रावक कषाय से सर्वथा मुक्त हो जाएगा। परिवार, संस्थान या व्यावसायिक प्रतिष्ठान पर अनुशासन रखने वाले व्यक्ति को बहुत बार तेज बोलना पड़ता है। तेज बोलना मात्र आवेश नहीं है। किसी को कड़ी बात कहना भी आवेश नहीं है। तीव्र क्रोध की परिणति है 'आपा' भूलना। जहां व्यक्ति को यह भान ही न रहे कि वह क्या कर रहा है और क्या कह रहा है, इस स्थिति का नाम है कषाय की तीव्रता। कषाय की तीव्रता होने पर सम्यगदर्शन के लोप की संभावना प्रबल हो जाती है।

**सम्यगदर्शन का महत्त्व**

**(मुक्त छंद)**

**20. बन जाए अज्ञान ज्ञान यदि सम्यगदर्शन,**
**महावीर का मूल्यवान यह जीवन-दर्शन।**
**आर्य भिक्षु का इसी दिशा में कदम बढ़ा है,**
**ईसा ने जन्मांध व्यक्ति से पाठ पढ़ा है॥**

सम्यगदर्शन की उपलब्धि होने से अज्ञान ज्ञान बन जाता है और सम्यगदर्शन के अभाव में ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। यह भगवान महावीर का मूल्यवान जीवन-दर्शन है। इसी सिद्धांत को आधार मानकर आचार्य भिक्षु ने अपने चरण बढ़ाए। ईसामसीह को भी एक जन्मांध व्यक्ति से यह बोधपाठ मिला कि किसी अंधे व्यक्ति को आंख देना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है सम्यगदृष्टि (अंतर्दृष्टि) की उपलब्धि।

## भाष्य

व्यक्तित्व-निर्माण के अनेक घटक हैं। उनमें एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सम्यगदर्शन। इसे सम्यग दृष्टिकोण या सम्यक्त्व भी कहा जाता है। व्यक्ति कितना ही बड़ा विद्वान हो और कितनी ही उपाधियों का धारक

हो, जब तक उसे सम्यगदर्शन नहीं मिलता, एक दृष्टि से वह अज्ञानी है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र–तीनों को सम्यक बनाने वाला एक ही तत्त्व है सम्यगदर्शन। धार्मिक जीवन का आदि बिंदु यही है। जब तक अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय रहता है, तब तक सम्यगदर्शन की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यगदर्शन की प्राप्ति के बिना गुणस्थानों की श्रेणी पर आरोहण संभव नहीं है। इस अपेक्षा से यह स्वीकार किया जा सकता है कि सम्यगदर्शन आध्यात्मिक विकास की आधारशिला है।

पारस का परस पाकर लोहा सोना बन जाता है। इसी प्रकार सम्यगदर्शन के योग से अज्ञान ज्ञान हो जाता है। इसके लिए किसी उपधान या अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, केवल दृष्टिकोण को सही बनाने की जरूरत है। दृष्टिकोण बदला, सम्यगदर्शन मिला और अज्ञान ज्ञान बन गया।

भगवान महावीर के जीवनदर्शन का सर्वाधिक मूल्यवान तत्त्व है सम्यग दर्शन। इससे व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक बनता है, तत्त्व की समझ परिष्कृत होती है, चिंतन का कोण बदलता है और विवेक का जागरण होता है। इस दृष्टि से इसको विशेष मूल्य दिया गया है।

तेरापंथ के आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु पर महावीर-वाणी का गहरा प्रभाव था। वे जीवनभर महावीर द्वारा निरूपित सम्यगदर्शन की दिशा में प्रस्थान करते रहे। कुछ लोग बलप्रयोग और हृदयपरिवर्तन–दोनों को धर्म का साधन मानते हैं। बलप्रयोग का सिद्धांत दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। हृदयपरिवर्तन का सिद्धांत सम्यक दृष्टिकोण का प्रतीक है। आचार्य भिक्षु ने इस विषय में अपना चिंतन प्रस्तुत करते हुए कहा–'जब तक दृष्टि नहीं बदलती, व्यक्ति नहीं बदल सकता। वह धार्मिक तो क्या, व्यवहार में अच्छा आदमी भी नहीं बन सकता। एक व्यक्ति दुःखी है, दरिद्र है, दीन-हीन है। उसकी दीनता से द्रवित होकर कोई उसे सब तरह का सहयोग देकर सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। यह कोई बुरी बात नहीं है। इसमें भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? प्रश्न इतना ही है कि क्या ऐसा करके उसे धार्मिक बनाया जा सकता है? उसके दृष्टिकोण को सम्यक बनाया जा सकता है?'

आचार्य भिक्षु लोगों को तत्त्व की बात समझाने के लिए दृष्टांत की भाषा में बोलते थे। उन्होंने एक दृष्टांत देते हुए कहा–'एक कसाई बकरों

को मारने के लिए ले जा रहा था। किसी राहगीर ने बकरों को देखा। उसने कसाई को रुपये देकर बकरे छुड़ा दिए। कुछ समय के लिए बकरों की जान बच गई। पर उस कसाई को क्या लाभ हुआ? क्या उसने हिंसा छोड़ दी? क्या उसका दृष्टिकोण बदल गया? क्या उसका मन हिंसा से विरत हो गया? जब तक ऐसा नहीं होगा, वह अधिक उत्साह से अपना व्यापार बढ़ाता रहेगा।'

आचार्य भिक्षु किसी भी समस्या के मूल को पकड़ते थे। वे उसके दीर्घकालिक समाधान को महत्त्व देते थे। उनका चिंतन था कि किसी भिखारी को भोजन आदि देना उसकी समस्या का तात्कालिक समाधान है। इसे धर्म के साथ जोड़ने का कोई औचित्य नहीं है। इस बात की चर्चा आचार्य तुलसी ने एक बार सर्वोदयी नेता रविशंकर महाराज से की। उस प्रसंग में उन्होंने अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा–'आचार्यजी! मुफ्तखोरी देश के लिए अभिशाप है। बिहार में दुष्काल के समय भुखमरी छा गई। लोगों की सहायता के लिए मुझे वहां भेजा गया। लोग मुझे देखकर झूम उठे। वे करुण स्वर में बोले–'बाबा! हम भूखे हैं। हमें रोटी दो।' मैंने उनसे कहा–'देखो, हम किसी को भूखा नहीं रहने देंगे। सबको रोटी मिलेगी, पर मुफ्त में नहीं। काम करो और पारिश्रमिक लो।' कुछ व्यक्ति बोले–'बाबा! हमारे पास काम तो है ही नहीं।' मैंने कहा–'काम क्यों नहीं है, सड़क टूटी पड़ी है, उसे ठीक करो। जगह-जगह गड्ढे बने हुए हैं, उन्हें भरो।' इस प्रकार हमने वहां किसी को मुफ्त में नहीं खिलाया।'

रविशंकर महाराज की बात सुनकर आचार्यवर बोले–'आपने आचार्य भिक्षु के दर्शन को सही रूप में पकड़ा है। उन्होंने इस सन्दर्भ में दृढ़ता के साथ कहा–'भूखे को भोजन खिलाना और प्यासे को पानी पिलाना तात्कालिक अपेक्षा की पूर्ति हो सकती है, पर समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। उसका स्थायी समाधान है दृष्टि का बदलाव। इसलिए दृष्टि को बदलो, व्यक्ति को बदलो।' इस सिद्धांत को लेकर लोगों ने उनकी आलोचना की। उन पर व्यंग्य किया। फिर भी वे अडिग रहे। उन्होंने खिलाने-पिलाने की बात को धर्म से कभी नहीं जोड़ा।

आचार्यवर ने तेरापंथ के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा–'धर्म त्याग में है, भोग में नहीं। इस सिद्धांत का प्रतिपादन करने पर भी आचार्य भिक्षु

ने न तो कभी किसी को रोटी-पानी देने का निषेध किया और न किसी को ऐसा करने की प्रेरणा ही दी। उनका लक्ष्य इतना ही था कि व्यक्ति चिंतनपूर्वक बुराई छोड़े। वह बलप्रयोग और प्रलोभन से नहीं, तत्त्व को समझकर धर्माचरण करे।'

ईसाई धर्म की सेवा प्रसिद्ध है। इस धर्म के प्रवर्तक ईसामसीह स्वयं दीन-दुःखी लोगों की सेवा करते थे। एक बार उनके पास कोई जन्मांध युवक आ गया। वह रोने और गिड़गिड़ाने लगा। ईसा ने पूछा—'तुम चाहते क्या हो?' उसने आंख मांग ली। ईसा ने कहा—'तथास्तु।' युवक की आंखें खुल गईं।

कुछ महीनों बाद वह युवक एक वेश्या के पीछे दौड़ रहा था। ईसा ने देखा और उसको पहचान लिया। उन्होंने आवाज देकर उसे अपने पास बुलाकर कहा—'क्या तुम वही हो, जिसने आंखें मांगी थीं?' युवक सकपका गया। वह डरता-डरता बोला—'प्रभु! हूं तो वही।' ईसा ने उसको प्रतिबोध देते हुए कहा—'क्या तुझे आंखें इसलिए मिली हैं कि तू वेश्या के पीछे भटकता रहे?' दो क्षण मौन रहकर युवक बोला—'प्रभु! आपने मुझे बाहर की आंखें दीं, इसलिए मैं गलत काम में फंस गया। यदि आप मेरी भीतरी आंखें खोल देते, मुझे दृष्टि दे देते तो मेरी यह दशा नहीं होती।'

युवक ने नए रहस्य का उद्घाटन किया। ईसा ने अनुभव किया कि आंखें देना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है दृष्टि देना, विवेक जगाना।

**(सहनाणी)**

**21. जो जैसा है वैसा देखे,**<br>
**सम्यगदर्शन की सहनाणी।**<br>
**क्यों चले निषेधात्मक चिंतन?**<br>
**हो सदा विधेयात्मक वाणी।**<br>
**श्रावक जीवन की सार्थकता,**<br>
**नव तत्त्वों के अनुशीलन से।**<br>
**खाते-पीते सोते-जगते,**<br>
**आवाज उठे अंतर्मन से॥**

जो तत्त्व जैसा है, उसको उसी रूप में देखना सम्यगदर्शन की पहचान है। सम्यगदर्शन की उपलब्धि होने के बाद क्रूर हिंसा आदि निषेधात्मक भावों के चिंतन को अवकाश नहीं रहता। चिंतन सही होने पर वाणी में अहिंसा आदि विधायक भावों की प्रमुखता रहती है।

श्रावक जीवन को सार्थक बनाने के लिए नौ तत्त्वों के अनुशीलन की आवश्यकता है। इसलिए खाते-पीते और सोते-जागते श्रावक के अंतर्मन में एक ही आवाज गूंजती रहे।

## भाष्य

जो वस्तु जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना और देखना–यह सम्यगदर्शन की पहचान है। 'यथार्थतत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्'–यह इसका पारिभाषिक सूत्र है। दृष्टिकोण सम्यक बनने के बाद निषेधात्मक चिंतन को अवकाश नहीं रहता। निषेधात्मक चिंतन का अर्थ है अनिष्टकर चिंतन, बुरा चिंतन। सैद्धांतिक दृष्टि से अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। इनमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि दीखती बुराइयों का समावेश है तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आन्तरिक दुर्बलताएं भी संगृहीत हैं। निषेधात्मक भावों से सर्वथा मुक्त होना कठिन है, पर इन भावों को कमजोर तो किया ही जा सकता है। जिस व्यक्ति के ये भाव कमजोर हो जाते हैं, उसकी वाणी विधेयात्मक बन जाती है। वाणी को विधेयात्मक बनाने के लिए चिंतन को विधायक बनाना जरूरी है। विधायक चिंतनवाला व्यक्ति निराशा को आशा में और दुःख को सुख में बदल सकता है।

सम्यगदर्शन के साथ देशव्रत की आराधना करने वाला व्यक्ति श्रावक होता है। श्रावक की चर्या साधारण आदमी की चर्या जैसी नहीं हो सकती। चर्या को विशिष्ट बनाने के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पद्य में नौ तत्त्वों के अध्ययन एवं पारायण पर बल दिया गया है और इसके द्वारा श्रावक जीवन को सार्थक माना गया है। तत्त्वों का अनुशीलन करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अंतर्मन से हर समय नौ तत्त्वों का चिन्तन करता रहे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि उसको जब भी समय मिले, वह तात्त्विक अध्ययन में संलग्न रहे।

## नव तत्त्व : ज्ञान का आधार

(दोहा)

**22. जानूं जीव[1] अजीव[2] मैं, पुण्य[3] पाप[4] की बात।**
**आश्रव[5] संवर[6] निर्जरा[7], बंध[8], मोक्ष[9] विख्यात॥**

जीव, अजीव, पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष–ये नौ तत्त्व जैनदर्शन में प्रख्यात हैं। मैं इनको जानता हूं।

# भाष्य

तत्त्व नौ हैं। प्रस्तुत पद्य में उनका नामांकन किया गया है। आगमों में श्रावक का विशद वर्णन उपलब्ध है। वहां उसके लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ विशेषण ये हैं–**अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरियाहिकरणबंध-पमोक्खकुसला।** श्रावक जीव-अजीव को जानते हैं, पुण्य-पाप के मर्म को समझते हैं, आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध और मोक्ष के विषय में कुशल होते हैं। इस वर्णन के आधार पर श्रावक का तत्त्वज्ञ होना प्रमाणित होता है। तत्त्वज्ञान के स्तर में तरतमता हो सकती है। इसलिए जिसके पास जितना ज्ञान होता है, उसे निरंतर पुष्ट करने का प्रयत्न आवश्यक है।

नौ तत्त्वों में मुख्य तत्त्व दो हैं–जीव और अजीव। शेष इन्हीं का विस्तार है। आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष का समावेश जीव तत्त्व में होता है। पुण्य, पाप और बंध का समावेश अजीव तत्त्व में होता है। नौ तत्त्वों का जो क्रम है, उसमें प्रथम जीव है और अंतिम मोक्ष है। जीव मूल तत्त्व है। मोक्ष उसका लक्ष्य है। बीच के सात तत्त्व बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया बताने वाले हैं। जीव का अजीव के साथ गहरा संबंध है। सूक्ष्म और स्थूल–दोनों शरीर अजीव हैं। जब तक इन दोनों से छुटकारा नहीं होगा, जीव का मोक्ष नहीं हो सकेगा। पुण्य, पाप और बंध सूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) की परिणतियां हैं। आश्रव कर्मों का आकर्षक है। संवर और निर्जरा–ये दो तत्त्व मोक्ष के साधक हैं। मोक्ष प्रत्येक सम्यकदृष्टि संपन्न व्यक्ति की मंजिल है। बंधन और मोक्ष की प्रक्रिया को समझे बिना बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता, इसलिए नौ तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

(रामायण)

**23. जीव चेतनावान, चेतना-**
**शून्य अजीव सदा जड़ है।**
**जड़-चेतन की शाश्वत सत्ता,**
**जिनशासन अक्षय बड़ है॥**

जिसमें चेतना होती है, वह जीव है। जो चेतना से शून्य और जड़ है, वह अजीव है। जिनशासन में जड़ और चेतन दोनों के अस्तित्व को शाश्वत माना गया है।

लोकमत में अक्षय रहने वाले वटवृक्ष की चर्चा सुनी जाती है। वह विनष्ट भी होता है, पर जिनशासन वास्तव में एक अक्षय वटवृक्ष है।

## भाष्य

यह संसार जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों का समवाय है। जीव का लक्षण है चेतना। यह जानने, समझने और अनुभव करने की शक्ति है। जीव अमूर्त होता है। वह दिखाई नहीं देता। उसका ज्ञान चेतना-शक्ति की प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। इस शक्ति से शून्य तत्त्व अजीव है, वह जड़ है। अजीव के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पाया जाता है, वह मूर्त होता है। दूसरे शब्दों में इसे रूपी भी कहा जाता है। अरूपी अजीव में वर्ण, गंध आदि नहीं पाए जाते, इसलिए वह आंखों का विषय नहीं बन सकता। प्रस्तुत प्रकरण में पुद्गल की विवक्षा की गई है। वह अजीव है और रूपी है।

जैनदर्शन में चेतन और जड़-दोनों के अस्तित्व को शाश्वत माना गया है। शाश्वत उसे कहा जाता है, जिसके मूल स्वरूप में कभी परिवर्तन नहीं होता। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता और जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता। चेतन में जड़ का और जड़ में चेतन का अत्यंताभाव माना गया है। चेतन तीन काल में चेतन रहता है। इसी प्रकार जड़ की सत्ता भी त्रैकालिक है।

वटवृक्ष को अक्षय माना जाता है, क्योंकि उसकी शाखाएं आसमान से जमीन तक जाती है। जमीन में अपने पग रोपकर वे पुनः आसमान की ओर उठ जाती हैं। इस प्रकार जमीन से जुड़कर विस्तार पाने वाली वे शाखाएं वटवृक्ष को दीर्घजीवन देती जाती हैं। इस धरती पर और कोई

वटवृक्ष अक्षय है या नहीं, कहना कठिन है। पर 'जिनशासन' एक अक्षय वटवृक्ष है, यह निर्विवाद रूप में सत्य है।

**24. पुण्य-पाप सुख-दुख के कारण,**
**कृत करणी के ये परिणाम।**
**उदयावली-प्रविष्ट शुभाशुभ-**
**कर्म-वर्गणा के आयाम॥**

प्राणी सुख और दुःख का भोग करता है, उसके कारण हैं–पुण्य और पाप। पुण्य-पाप और कुछ नहीं हैं, प्राणी द्वारा किए गए कर्मों के ही फल हैं। उन्हें उदयावस्था को प्राप्त शुभ-अशुभ कर्म पुद्गलों की गतिविधियां माना जा सकता है।

## भाष्य

जैनदर्शन के अनुसार प्राणी को सुखी या दुःखी बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसमें न तो किसी ईश्वरीय शक्ति का हस्तक्षेप है और न कोई अन्य प्रभाव ही काम करता है, क्योंकि 'अप्पा कत्ता विकत्ता य'–कर्मों का बंधन करने वाली आत्मा है और उनका क्षय भी आत्मा ही करती है। व्यवहार में यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति या परिस्थिति के कारण वह दुखी हो गया। यह कहने का प्रकार है, पर वास्तविकता नहीं है। सुख-दुःख के कारण व्यक्ति के भीतर मौजूद रहते हैं। बाहरी निमित्त उन कारणों को उत्तेजना दे सकते हैं, पर स्वतंत्र रूप में कुछ भी नहीं कर सकते।

बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि एक व्यक्ति किसी को दुःखी बनाने के लिए कटिबद्ध है। वह उसके साथ मारपीट, गालीगलौज तक कर लेता है, पर सामने वाला शांत रहता है। कोई किसी के परिजनों और मित्रों में फूट डालने का प्रयत्न करता है, पर सामने वाला अप्रभावित रहता है। कभी-कभी कोई किसी का अत्यधिक अनिष्ट कर देता है, पर सामने वाला उसे सहजभाव से झेल लेता है। उसके मन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। प्रतिक्रिया के बिना दुःख का संवेदन नहीं होता। इस आधार पर यह सिद्धांत मान्य हो जाता है कि कोई किसी को दुःखी या सुखी बनाने वाला नहीं है।

चारों ओर से प्रतिकूल परिस्थितियां पैदा होने पर भी व्यक्ति दुःखी न हो, यह संभव है क्या? संभव न हो तो जैनदर्शन की मान्यता गलत हो जाए।

भगवान महावीर को यहां उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। शूलपाणि यक्ष ने रातभर भयंकर उपद्रव किए। महावीर एक क्षण के लिए भी दुःखी नहीं हुए। संगम देव ने एक रात में 20 बार मारणान्तिक कष्ट दिए। महावीर ने कष्ट का अनुभव नहीं किया। अनार्य देशों में विहार करते समय महावीर के सामने अनेक प्रतिकूलताएं आईं, पर उनका मनोबल एक पल के लिए भी कमजोर नहीं बना। उनको दुःखी बनाने का प्रयत्न करने वाले थक गए, पर वे उन्हें दुःखी नहीं बना सके, क्योंकि उन्होंने दुःख के निमित्तों को स्वीकार नहीं किया। इस पूरे प्रसंग का सारांश यह है कि व्यक्ति के अपने पुण्य-पाप ही उसके सुख-दुःख के कारण हैं।

पुण्य और पाप क्या हैं? इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो समाधान मिलता है कि पुण्य-पाप और कुछ नहीं हैं, ये प्राणी की अच्छी और बुरी करणी के फल हैं। प्रवृत्ति सत् हो या असत्, उससे कर्म का बंधन होता है। बंधे हुए कर्म जब तक उदय में नहीं आते हैं, वे बंध कहलाते हैं। स्थिति का परिपाक होने पर जब वे भोगे जाते हैं, तब पुण्य और पाप बनते हैं।

पुद्गल की अनेक वर्गणाएं होती हैं। सदृश परमाणुओं के समुदाय को वर्गणा कहा जाता है। वर्गणा दो प्रकार की होती है—चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी। कर्मवर्गणा चतुःस्पर्शी होती है। चार स्पर्श वाले अनंत प्रदेशी पुद्गल स्कंध कर्म के रूप में गृहीत होते हैं। कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं। जब तक वे उदयावलिका में प्रविष्ट नहीं होते, तब तक फल नहीं दे सकते। इसलिए जैनदर्शन बताता है कि पुण्य-पाप और कुछ नहीं हैं, ये उस शुभ और अशुभ कर्मवर्गणा की परिणतियां हैं, जो उदयावलिका में प्रवेश पा चुके हैं।

**25. आश्रव-पुण्य-पाप-आकर्षक,**
**स्पंदन रूप जीव-पर्याय।**
**है निवृत्तिमय आत्म-परिणति,**
**संवर शुद्ध चेतना आय॥**

पुण्य और पाप में हेतुभूत शुभ और अशुभ कर्मपुद्गलों को आकृष्ट करने वाले आत्मा के परिणामों का नाम आश्रव है। ये जीव के ऐसे प्रकंपन हैं, जो कर्मवर्गणा को अपनी ओर खींचते हैं।

आत्मा की निरोधमूलक वृत्ति का नाम संवर है। इससे विशुद्ध चेतना की उपलब्धि होती है।

## भाष्य

**कर्माकर्षकआत्मपरिणामः आश्रवः**'–कर्मवर्गणा के पुद्‌गलों को आकृष्ट करने वाले आत्मा के परिणाम आश्रव कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में यह माना जा सकता है कि जिस प्रवृत्ति से पुण्य और पाप का बंधन होता है वह आश्रव है। कर्मवर्गणा के पुद्‌गल पूरे लोक में परिव्याप्त हैं। जीव अपने निकटवर्ती पुद्‌गलों का ग्रहण करता है। ग्रहण की प्रक्रिया का नाम आश्रव है। आश्रव न हो तो कर्मवर्गणा के पुद्‌गल कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। कर्मवर्गणा के पुद्‌गलों को अपनी ओर आकर्षित करने का काम करते हैं जीव के स्पंदन। ये स्पंदन जीव के पर्याय होते हैं। स्पंदन अनेक प्रकार के होते हैं। जहां स्पंदन है, वहीं बंधन है।

स्पंदन कषाय के होते हैं और योग के भी होते हैं। कषायरहित योग के स्पंदन से कर्मों का गहरा बंधन नहीं होता। रेत की मुट्ठी दीवार पर फेंकी जाए, वहां चिकनाहट नहीं होगी तो रेत तत्काल झड़कर गिर पड़ेगी। इसी प्रकार योग के स्पन्दनों से पुद्‌गल आते हैं, वे आत्मा के साथ स्पृष्ट होते हैं, पर कषाय के अभाव में उनका बंधन सघन नहीं होता। जिस स्पंदन में केवल द्रष्टा-भाव रहता है, वहां बंधन गाढ़ नहीं बनता। गाढ़ बंधन का हेतु है कषाय।

जीव के पर्याय का अर्थ है आत्मप्रदेशों की सतत सक्रियता। अस्तित्व के लिए सक्रियता आवश्यक है। कोई भी वस्तु तब तक वस्तु होती है, जब तक वह अपना काम करे। सक्रियता छूटते ही वस्तु अवस्तु बन जाती है।

आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है संवर। यह निरोधमूलक आत्मपरिणति है। संवर से प्रवृत्ति का निरोध होता है। वह शुद्धोपयोग की स्थिति है। इसे शुद्ध चेतना की उपलब्धि माना गया है।

**26. बंधन का विच्छेद निर्जरा,**
**है यह आंशिक उज्ज्वलता।**
**मंद-मंदतर तीव्र-तीव्रतर,**
**तप का दीप रहे जलता॥**

बंधे हुए कर्मों का विच्छेद या उससे होने वाली आत्मा की आंशिक निर्मलता का नाम निर्जरा है। बारह प्रकार के तप निर्जरा के साधन हैं। निर्जरा के लिए आवश्यक है कि मंद या तेज तप का दीया जलता ही रहे।

## भाष्य

नौ तत्त्वों में सातवां तत्त्व है निर्जरा। यह आत्मा और कर्मों के संबंध को तोड़ने की प्रक्रिया है, मुक्ति की प्रक्रिया है। जब तक बंधन, तब तक संसार। संसार से छुटकारा पाने के लिए बंधन का विच्छेद आवश्यक है। बंधन का विच्छेद होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, उसका नाम है निर्जरा। निर्जरा का साधन है तप। **तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा**–तपस्या के द्वारा कर्मों का विच्छेद होने से आत्मा की जो आंशिक निर्मलता होती है, उसे निर्जरा कहा जाता है। तप दो प्रकार का होता है–अंतरंग और बाह्य। निर्जरा के लिए यह आवश्यक है कि तप का दीया निरंतर जलता रहे। दीया मंद होगा तो निर्जरा हलकी होगी और दीया तेज होगा तो निर्जरा विशिष्ट होती रहेगी। आत्मसाक्षात्कार के लिए निर्जरा की अनिवार्यता है।

**27. जीव-कर्म का अन्योन्याश्रय-**
**जो संबंध, बंध संसार।**
**द्वन्द्वहीन निर्बंध चेतना,**
**मोक्ष सिद्धि अपवर्ग उदार॥**

जीव और कर्मवर्गणा के पुद्गलों का एक-दूसरे के साथ जो गहरा संबंध है, उसका नाम बंध है। यह बंध संसार-भ्रमण का कारण है, इस दृष्टि से इसी को संसार माना गया है।

जीव और कर्म के द्वंद्व से मुक्त बंधनरहित चेतना का नाम मोक्ष है। इसे सिद्धि और अपवर्ग भी कहा जाता है।

## भाष्य

जीव और कर्म के संबंध का नाम बंध है। प्रश्न यह है कि जीव के साथ कर्म का संबंध होता है या कर्म के साथ जीव का? इस प्रश्न का सीधा उत्तर षड्दर्शनसमुच्चय में मिलता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने नव तत्त्वों को परिभाषित करते हुए बंध के संदर्भ में लिखा है–

**बंधो जीवस्य कर्मणः।**
**अन्योन्यानुगमात्मा तु यः संबंधो द्वयोरपि॥**

जीव के प्रदेश और कर्मवर्गणा के पुद्‌गलों का दूध-पानी की तरह परस्पर एकीभाव होना बंध है। दूध और पानी का मेल उभयात्मक है। न तो दूध में पानी मिलता है और न पानी में दूध, किंतु दोनों परस्पर एकमेक हो जाते हैं। इसी प्रकार न तो जीव के प्रदेशों से कर्मपुद्‌गलों का संबंध होता है और न कर्मपुद्‌गलों से आत्मप्रदेश संबंधित होते हैं। आत्मप्रदेश और कर्मपरमाणु–दोनों आपस में घुलमिल जाते हैं। इनके एकीभाव का नाम ही बंध है।

चेतना की निर्बंध अवस्था का नाम है मोक्ष। बंध वहां है, जहां दो हैं। कर्मपरमाणु और चेतना–इन दोनों का योग द्वंद्व है। जब तक द्वंद्व है, तब तक बंधन है। जिस दिन आत्मा कर्मपरमाणुओं से सर्वथा मुक्त होकर अकेला हो जाता है, द्वन्द्वहीन बन जाता है, उसके बाद आत्मा और कर्म का संबंध नहीं हो सकता। संबंध तब तक है, जब तक आत्मा सकर्म है। कर्म का संबंध छूटा, आत्मा निर्द्वंद्व बना, चेतना बंधनमुक्त हुई, यही मोक्ष है। सिद्धि, अपवर्ग आदि मोक्ष के पर्यायवाची नाम हैं।

**(वंदना आनंद)**

**28. जीव और अजीव चौदह भेद आगम-भित्ति है,**
**पुण्य के नव हेतु, द्विगुणित पाप दूषित वृत्ति है।**
**पांच आश्रव, पांच संवर और बारह निर्जरा,**
**बंध चार विमोक्ष चार विचार कर देखें जरा॥**

आगम के आधार पर नौ तत्त्वों के अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं। वहां उनके 85 भेदों का उल्लेख है–

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. जीव | - | 14 भेद | 6. संवर | - | 5 भेद |
| 2. अजीव | - | 14 भेद | 7. निर्जरा | - | 12 भेद |
| 3. पुण्य | - | 9 भेद | 8. बंध | - | 4 भेद |
| 4. पाप | - | 18 भेद | 9. मोक्ष | - | 4 भेद |
| 5. आश्रव | - | 5 भेद | | | |

## भाष्य

जैनतत्त्वविद्या के आधारभूत तत्त्व दो हैं–जीव और अजीव। यह संक्षिप्त वर्गीकरण है। कुछ विस्तार किया जाए तो तत्त्वों की संख्या नौ

हो जाती है–जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना गया है। वहां तत्त्वों की संख्या सात है।

नौ तत्त्वों को विस्तार से समझने के लिए उनके अनेक भेद-प्रभेद किए जा सकते हैं। एक विवक्षा के अनुसार उनके 115 भेद किए जाते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में उनके 85 भेदों की विवक्षा की गई है। उन 85 भेदों को सामने रखकर विचार किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह विवेचन कहीं तो तत्त्व के स्वरूप को आधार बनाकर किया गया है और कहीं तत्त्व के निमित्तों को आधार मानकर किया गया है।

जीव तत्त्व के चौदह भेद उसके संसारी स्वरूप की दृष्टि से किए गए हैं। संसारी जीव की दो अवस्थाएं हैं–व्यक्त और अव्यक्त। अपर्याप्त अवस्था अव्यक्त अवस्था है। जीव की अभिव्यक्ति पर्याप्त होने से होती है। इसी प्रकार इंद्रियां भी संसारी जीव के स्वरूपबोध में सहायक बनती हैं। पर्याप्तियों और इंद्रियों की प्रमुखता के आधार पर जीव तत्त्व के चौदह भेद हैं–

| | | | |
|---|---|---|---|
| सूक्ष्म एकेंद्रिय के दो भेद– | 1. | अपर्याप्त 2. | पर्याप्त। |
| बादर एकेंद्रिय के दो भेद– | 3. | अपर्याप्त 4. | पर्याप्त। |
| द्वींद्रिय के दो भेद– | 5. | अपर्याप्त 6. | पर्याप्त। |
| त्रींद्रिय के दो भेद– | 7. | अपर्याप्त 8. | पर्याप्त। |
| चतुरिंद्रिय के दो भेद– | 9. | अपर्याप्त 10. | पर्याप्त। |
| असंज्ञी पंचेंद्रिय के दो भेद– | 11. | अपर्याप्त 12. | पर्याप्त। |
| संज्ञी पंचेंद्रिय के दो भेद– | 13. | अपर्याप्त 14. | पर्याप्त। |

अजीव तत्त्व के मूलतः पांच भेद हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। उनके अखंड और खंड रूप को आधार बनाकर अजीव तत्त्व का विवेचन किया गया है। स्कंध उनका अखंड रूप अस्तित्व है। देश, प्रदेश उनके खंड रूप अस्तित्व हैं। परमाणु पुद्गल का अंतिम अंश है। इन सबके आधार पर अजीव तत्त्व के चौदह भेद इस प्रकार हैं–

धर्मास्तिकाय के तीन भेद– 1. स्कंध, 2. देश, 3. प्रदेश।

अधर्मास्तिकाय के तीन भेद– 4. स्कंध, 5. देश, 6. प्रदेश।

आकाशास्तिकाय के तीन भेद– 7. स्कंध, 8. देश, 9. प्रदेश।

औपचारिक द्रव्य होने के कारण काल का कोई भेद नहीं होता। वह एक ही तत्त्व है। 10 काल।

पुद्गलास्तिकाय के चार भेद–11. स्कंध, 12. देश, 13. प्रदेश, 14. परमाणु।

पुण्य और पाप के भेदों की गणना संभव नहीं है। प्राणी की जितनी सत् और असत् प्रवृत्तियां हैं, पुण्य-पाप के उतने ही भेद हो सकते हैं। वास्तव में उन्हें भेद कहने का भी औचित्य नहीं है। इसीलिए प्रस्तुत ग्रंथ में पुण्य के भेद के स्थान पर हेतु शब्द का प्रयोग किया गया है। पुण्य के जो हेतु यहां निर्दिष्ट हैं, वे मुख्यतः मुनि जीवन के प्रसंग में संगृहीत किए गए हैं।

शुभ कर्म का नाम पुण्य है। उसके नौ हेतु निम्नलिखित हैं–

| | | |
|---|---|---|
| 1. अन्न पुण्य, | 2. पान पुण्य, | 3. लयन पुण्य, |
| 4. शयन पुण्य, | 5. वस्त्र पुण्य, | 6. मन पुण्य, |
| 7. वचन पुण्य, | 8. काय पुण्य, | 9. नमस्कार पुण्य। |

लयन शब्द का मूल है 'लेण'। उसका अर्थ है पहाड़ों में उकेरे हुए भवन। वहां साधु ध्यान करते थे।

अशुभ कर्म का नाम पाप है। उसके अठारह हेतु बताए गए हैं–

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. प्राणातिपात | 7. | मान | 13. | अभ्याख्यान |
| 2. मृषावाद | 8. | माया | 14. | पैशुन्य |
| 3. अदत्तादान | 9. | लोभ | 15. | परपरिवाद |
| 4. मैथुन | 10. | राग | 16. | रति-अरति |
| 5. परिग्रह | 11. | द्वेष | 17. | माया-मृषा |
| 6. क्रोध | 12. | कलह | 18. | मिथ्यादर्शनशल्य। |

आश्रव के मुख्य पांच भेद हैं–

| | | |
|---|---|---|
| 1. मिथ्यात्व | 3. प्रमाद | 5. योग। |
| 2. अव्रत | 4. कषाय | |

संवर के मुख्य पांच भेद हैं–

| | | |
|---|---|---|
| 1. सम्यक्त्व | 3. अप्रमाद | 5. अयोग। |
| 2. व्रत | 4. अकषाय | |

आश्रव और संवर के बीस-बीस भेद भी प्रसिद्ध हैं।

उनमें प्रथम पांच-पांच भेद ये ही हैं। शेष पंद्रह आश्रव योग आश्रव के और पन्द्रह संवर व्रत संवर के विस्तार हैं।

निर्जरा के बारह भेद हैं–

| | |
|---|---|
| 1. अनशन | 7. प्रायश्चित्त |
| 2. ऊनोदरी | 8. विनय |
| 3. भिक्षाचरी | 9. वैयावृत्य |
| 4. रसपरित्याग | 10. स्वाध्याय |
| 5. कायक्लेश | 11. ध्यान |
| 6. प्रतिसंलीनता | 12. व्युत्सर्ग। |

बंध के चार भेद हैं–

| | |
|---|---|
| 1. प्रकृति बंध | 3. अनुभाग बंध |
| 2. स्थिति बंध | 4. प्रदेश बंध। |

मोक्ष अपने आपमें एक ही है। उसका कोई भेद संभव ही नहीं है। मोक्ष-प्राप्ति के हेतुओं को भेद रूप में व्याख्यायित किया जाए तो उसके चार भेद हैं–

| | |
|---|---|
| 1. ज्ञान | 3. चारित्र |
| 2. दर्शन | 4. तप। |

## पंचास्तिकाय : दर्शन का आधार

**(दोहा)**

**29. अस्तिकाय हैं पांच ही, काल सहित षडद्रव्य।**
**षडद्रव्यात्मक लोक है, शेष अलोक अलभ्य॥**

अस्तिकाय पांच हैं–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‍गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इन्हें द्रव्य कहा

जाता है। इनके साथ काल का योग करने से द्रव्यों की संख्या छह हो जाती है। लोक षड्द्रव्यात्मक होता है। जहां आकाश के अतिरिक्त कोई द्रव्य नहीं होता, उसे अलोक कहते हैं। वह अमूर्त होता है, इसलिए आंखों का विषय नहीं बनता।

## भाष्य

हर चिन्तनशील व्यक्ति के सामने बार-बार यह प्रश्न आता रहता है कि जहां हम रह रहे हैं, वह लोक क्या है? विश्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

लोक के बारे में दार्शनिकों की अवधारणाएं भिन्न-भिन्न हैं। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि पहले कुछ नहीं था, बाद में लोक बना। उनके अनुसार असत् से सत् का प्रादुर्भाव हुआ। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। वह सत् और असत् दोनों को सापेक्ष मानता है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से पंचास्तिकाय सत है—यह था, है और रहेगा। यह अस्तित्वप्रधान दृष्टिकोण है। अवस्थाओं की दृष्टि से विचार किया जाए तो पंचास्तिकाय सत् और असत्—दोनों है। अवस्थाएं बदलती रहती हैं।

वर्तमान की अवस्थाएं सत् हैं तथा अतीत और भविष्य की अवस्थाएं असत् हैं। यह पर्यायार्थिक नय का दृष्टिकोण है। दोनों नयों की समन्वित व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक का मूल कारण सत् है और उसका परिवर्तनशील स्वरूप सत्-असत् दोनों है।

कुछ दार्शनिक लोक को एकांततः नित्य, शाश्वत, अविनाशी और अनंत मानते हैं। जैनदर्शन के अनुसार वह एकांततः नित्य, शाश्वत, अविनाशी और अनंत नहीं है। भगवान महावीर ने द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से लोक को नित्य, शाश्वत और अविनाशी बतलाया है तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य, अशाश्वत और विनाशी कहा है। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक सांत है। काल तथा भाव की दृष्टि से वह अनंत है।

भगवान महावीर ने लोक के स्वरूप को अनेक दृष्टियों से निरूपित किया। एक दृष्टि से जीव और अजीव लोक है। दूसरी दृष्टि से पांच

अस्तिकाय लोक है। तीसरी दृष्टि से छह द्रव्य लोक है। इस विवेचन के आधार पर लोक की तीन परिभाषाएं बन जाती हैं–

जहां जीव और अजीव हों, वह लोक है।

जहां पांच अस्तिकाय हों, वह लोक है।

जहां छह द्रव्य हों, वह लोक है।

लोक वास्तव में एक ही है। उसके ये तीन रूप विवक्षा के आधार पर बनते हैं। भगवान महावीर ने मूलतः पांच अस्तिकाय का प्रतिपादन किया। दार्शनिक युग में उनके साथ काल और जुड़ गया। इन सबको द्रव्य मानने की परंपरा भी उत्तरकालीन है।

लोक के बारे में अन्य दार्शनिकों ने भी विचार किया है, पर अलोक का सिद्धांत जैनदर्शन की मौलिक स्थापना है। इसके बारे में अन्यत्र चर्चा उपलब्ध नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय की सीमा तक लोक है। जहां केवल आकाश है, वह अलोक है। अलोकाकाश अनंत है।

**(सहनाणी)**

**30. गति में साधक धर्मास्तिकाय,**
**है अधर्मास्ति स्थिति-सहयोगी।**
**अवकाशद आकाशास्तिकाय**
**जड़-चेतन सबके उपयोगी।**
**वह पुद्गलास्ति जो दृश्य जगत,**
**चेतनायुक्त जीवास्तिकाय।**
**समझें तत्त्वज्ञ सुधी श्रावक,**
**गहराई से पंचास्तिकाय॥**

- जीव और पुद्गल की गति में सहयोग करने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है।
- जीव और पुद्गल की स्थिति में सहयोग करने वाला द्रव्य अधर्मास्तिकाय है।
- जीव और पुद्गल को अवकाश–स्थान देने वाला द्रव्य

आकाशास्तिकाय है।

ये तीनों अस्तिकाय जड़ और चेतन सबके लिए उपयोगी हैं।

- जो दृश्य जगत अणु और स्कंधरूप है, वह पुद्गलास्तिकाय है।
- जो चेतनायुक्त द्रव्य है, वह जीवास्तिकाय है। तत्त्वज्ञ और बुद्धिमान श्रावक पंचास्तिकाय को गहराई से समझने का प्रयत्न करें।

## भाष्य

जीव और पुद्गल–दोनों गतिशील हैं। पर ये निरपेक्ष रूप से गति नहीं कर पाते। इनकी गतिक्रिया में सहायक तत्त्व है धर्मास्तिकाय। वह जीव और पुद्गलों को गति में प्रवृत्त नहीं करता, इसलिए उदासीन सहायक कहलाता है। पानी में मछलियां चलती हैं। पानी मछली को गति में प्रवृत्त नहीं करता, चलने की प्रेरणा नहीं देता। पर मछलियां चलती हैं तो चलने में उसका पूरा सहयोग रहता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गलों की गति में धर्मास्तिकाय का उदासीन सहयोग मिलता है। इसके बिना उनकी गति हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से धर्मास्तिकाय को गति का अनन्य सहायक माना जा सकता है।

जीव और पुद्गलों की अवस्थिति में अधर्मास्तिकाय का सहयोग मिलता है। थका-हारा पथिक विश्राम करना चाहता है। वृक्ष की छाया देखकर वह ठहर जाता है, विश्राम करता है। इसी प्रकार ठहरने के क्षण में जीव और पुद्गल अधर्मास्तिकाय के उदासीन सहयोग से अवस्थित रहते हैं।

जीव और पुद्गल का अवस्थान आकाश में होता है। आकाश का लक्षण अवगाह है। जिस आकाश में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय होते हैं, उसी आकाश में जीव और पुद्गल आश्रय ले सकते हैं, अवगाहन कर सकते हैं।

द्रव्य दो प्रकार के होते हैं–मूर्त और अमूर्त। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय–ये तीन अस्तिकाय अमूर्त हैं। जीव के दो रूप हैं–सिद्ध और संसारी। सिद्ध जीव अमूर्त होते हैं। संसारी जीव सूक्ष्म और स्थूल दोनों शरीरों से प्रतिबद्ध होने के कारण मूर्त होते हैं। पुद्गलास्तिकाय मूर्त है। जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पाए जाते

हैं, वह मूर्त होता है। पुद्‌गल के दो भेद होते हैं–स्कंध और परमाणु। परमाणु सूक्ष्म होता है। इंद्रियज्ञान के द्वारा उसे देखा नहीं जा सकता। फिर भी वह स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से युक्त है इसलिए मूर्त है। संसार में सूक्ष्म या स्थूल जितने भी मूर्त पदार्थ हैं, वे सब पुद्‌गलास्तिकाय में समाविष्ट हो जाते हैं।

जीव का लक्षण है उपयोग। चेतना के व्यापार का नाम उपयोग है। चेतना के दो रूप हैं–ज्ञान और दर्शन। ज्ञानदर्शनात्मक चेतना की प्रवृत्ति ही उपयोग है। जिस द्रव्य में उपयोग करने की शक्ति है अथवा ज्ञानदर्शनात्मक चेतना है, वह जीव है।

**31. अस्तिकाय-अस्तित्व-विवेचक,**
**सूत्र 'भगवती' में व्याख्यान।**
**श्री मद्दुक की हुई प्रशंसा,**
**सुनें पढ़ें इतिहास महान॥**

अस्तिकाय के स्वरूप का विवेचन करने वाला वर्णन भगवती सूत्र (श. 18/134-143) में है। उस प्रसंग में भगवान महावीर ने श्रमणोपासक मद्दुक की प्रशंसा की। वह इतिहास का एक विशेष प्रसंग है। उसे सुनें और पढ़ें।

## भाष्य

भगवान महावीर ने पांच अस्तिकाय का प्रतिपादन किया। उनमें प्रथम तीन अस्तिकाय अमूर्त हैं। यह विषय अनेक दार्शनिकों के लिए सर्वथा अज्ञात था। उनमें इस विषय को जानने की उत्सुकता भी थी और उसके निरसन की भावना भी थी। इस प्रसंग से स्पष्टता को समझने के लिए हमें ढाई हजार वर्ष पहले के अतीत में झांकना होगा।

उस समय भगवान महावीर राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में प्रवास कर रहे थे। उस चैत्य के आस-पास कालोदायी, शैलोदायी आदि अनेक अन्यतीर्थिक रहते थे। उन्होंने भगवान महावीर द्वारा निरूपित पंचास्तिकाय की चर्चा सुनी। उन्होंने यह भी सुना कि पंचास्तिकाय में चार अस्तिकाय अरूपी हैं और एक पुद्‌गलास्तिकाय रूपी है। उनमें चार अजीव हैं और एक जीव है। अरूपी अस्तिकायों के अस्तित्व के बारे में वे जिज्ञासु

हो उठे। अपनी जिज्ञासा को समाहित करने के लिए वे किसी उपयुक्त व्यक्ति से संपर्क करना चाहते थे।

राजगृह नगर का श्रमणोपासक मद्दुक भगवान महावीर के दर्शन करने जा रहा था। वह कालोदायी आदि अन्यतीर्थिकों के आवास-स्थल के निकट पहुंचा। अन्यतीर्थिकों ने उसको देखा। उन्होंने आपस में मंत्रणा की और अपनी जिज्ञासा को समाहित करने के लिए वे उसके पास आ गए। उन्होंने कहा–'मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य भगवान महावीर ने पांच अस्तिकाय की प्ररूपणा की है। क्या तुम उनके बारे में जानते हो?'

अन्यतीर्थिकों का प्रश्न सुनकर मद्दुक बोला–'यदि वे कार्य करते हैं तो मैं उनको जानता-देखता हूं। यदि वे कार्य नहीं करते हैं तो मैं उनको न जानता हूं और न देखता हूं।'

अन्यतीर्थिक इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने निराशा की भाषा में कहा–'मद्दुक! तुम कैसे श्रमणोपासक हो, जो इतनी-सी बात भी नहीं जानते।'

अन्यतीर्थिकों के इस कथन से मद्दुक हताश नहीं हुआ। उसने अनेक युक्तियां प्रस्तुत कर उनको समाहित कर दिया। इस सन्दर्भ में उनके बीच जो संवाद हुआ, वह इस प्रकार है–

मद्दुक–'आयुष्मन! क्या हवा चल रही है?'

अन्यतीर्थिक–'हां, चल रही है।'

मद्दुक–'क्या आप चलती हुई हवा को देख रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'हवा को देखना संभव नहीं है।'

मद्दुक–'आयुष्मन! क्या आप सुगंध का अनुभव कर रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'हां, कर रहे हैं।'

मद्दुक–'क्या आप उन सुगंधित पुद्गलों को देख रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'सुगंधित पुद्गलों के रूप को देख पाना संभव नहीं है।'

मद्दुक–'आयुष्मन! क्या अरणि की लकड़ी में अग्निकाय है?'

अन्यतीर्थिक–'हां, अरणि की लकड़ी में अग्निकाय है।'

मद्दुक–'क्या आप अरणि की लकड़ी में अवस्थित अग्निकाय को देख रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'अरणि में स्थित अग्नि को देखना संभव नहीं है।'

मद्दुक–'आयुष्मन! क्या समुद्र के पार भी रूप हैं?'

अन्यतीर्थिक–'हां, समुद्र के पार भी रूप हैं।'

मद्दुक–'क्या आप समुद्र के पार रूप देख रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'उन रूपों को देखना संभव नहीं है।'

मद्दुक–'आयुष्मन! क्या देवलोक में रूप हैं?'

अन्यतीर्थिक–'हां, देवलोक में रूप हैं।'

मद्दुक–'क्या आप उन रूपों को देख रहे हैं?'

अन्यतीर्थिक–'उन रूपों को देखना संभव नहीं है।'

मद्दुक–'आयुष्मन! आप, हम और अन्य अनेक लोग छद्मस्थ हैं। हमारे पास अतींद्रिय ज्ञान नहीं है। इसलिए हम बहुत वस्तुओं को न जानते हैं और न देखते हैं। हमारे न जानने और न देखने से उन वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं हो तो यह बहुत बड़ा लोक होगा ही नहीं। हम जानें या नहीं, देखें या नहीं, भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित पंचास्तिकाय निश्चित रूप से है।

अन्यतीर्थिकों के साथ धर्मचर्चा सम्पन्न कर श्रमणोपासक मद्दुक भगवान महावीर के समवसरण में पहुंचा। महावीर ने मद्दुक की प्रशंसा करते हुए कहा–'मद्दुक! तुमने अन्यतीर्थिकों से जो कुछ कहा, बहुत ठीक कहा। किसी भी अदृष्ट, अश्रुत और अविज्ञात तत्त्व के बारे में कोई व्यक्ति अर्थ, हेतु, प्रश्न या व्याकरण का प्रज्ञापन-प्ररूपण करता है, वह अर्हतों और उनके द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की आशातना करता है। तुमने ऐसा नहीं करके बहुत अच्छा किया।' भगवान महावीर के इन वचनों से प्रसन्न होकर मद्दुक उनके चरणों में श्रद्धा से प्रणत हो गया।

## षड्जीवनिकाय : चारित्र का आधार

**(दोहा)**

**32. पृथ्वी अप तेजस तथा, वायु वनस्पतिकाय।**
**त्रस-जैनागम में विदित, ये षड्जीवनिकाय॥**

जैन आगमों में छह जीवनिकाय के ये नाम प्रसिद्ध हैं–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

## भाष्य

भगवान महावीर ने रत्नत्रयी–सम्यगदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र का निरूपण किया। इनमें सम्यक चारित्र का आधार है अहिंसा। अहिंसा का प्रमुख आधार है षड्जीवनिकाय। यह उनकी विशेष देन है। इसे समझे बिना अहिंसा की पूरी बात गम्य नहीं हो सकती। 'अहिंसापयसः पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्'–रूपक की भाषा में अहिंसा जल है, शेष व्रत उसकी सुरक्षा के लिए पाली के समान हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से अहिंसा का महत्त्व सर्वसम्मत है ही, पर्यावरण विज्ञान ने भी अहिंसा की उपयोगिता को अपनी सहमति दी है। जबसे विज्ञान ने अहिंसा के बारे में सोचना शुरू किया है, वह जीवन का अनिवार्य अंग बन गया।

पर्यावरण शुद्धि बीसवीं सदी के आखिरी दो-तीन दशकों का नारा है। पर्यावरण है क्या? पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और प्राणी–ये सब मिलकर ही पर्यावरण का निर्माण करते हैं। इनमें जब तक संतुलन बना रहता है, पर्यावरण ठीक रहता है। इनका असन्तुलन ही पर्यावरण को प्रदूषित करने वाला है। इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वी, पानी आदि के संयम की बात कही।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि पृथ्वी में जीव होते हैं, पानी में जीव होते हैं, आदि। इस सिद्धान्त के आधार पर शोध करने वाले जैव वैज्ञानिकों का अभिमत है कि एक चम्मच मिट्टी में पांच-छह अरब से अधिक संख्या में जीव होते हैं। यह बात उस मिट्टी के बारे में कही गई है, जो निर्जीव-सी दिखाई देती है। सूक्ष्मदर्शी यंत्र या माइक्रोस्कोप से देखने पर उसमें जीवों की सत्ता प्रमाणित हो जाती है। जैनदर्शन की दृष्टि से यह बहुत स्थूल बात है। जैन तीर्थंकरों के अनुसार पृथ्वी स्वयं जीव है, पानी भी स्वयं जीव है। मिट्टी की एक छोटी-सी डली और पानी की एक बूंद में पृथ्वी और पानी के असंख्य-असंख्य जीव हैं। इसलिए पृथ्वी, पानी आदि का संयम चारित्रिक दृष्टि से ही नहीं, पर्यावरण को संतुलित रखने के लिए भी आवश्यक है।

### व्रत/प्रत्याख्यान

**(वंदना आनंद)**

**33. न्यूनतम नव तत्त्वविद्या का सहज संज्ञान हो,**
**और सम्यगदृष्टि सम्यगज्ञान का संधान हो।**
**बिना प्रत्याख्यान श्रावक-भूमि में कैसे बढ़े?**
**बिना अक्षर-ज्ञान जीवन-ग्रंथ को कैसे पढ़े?**

श्रावक को कम-से-कम नौ तत्त्वों (जिनमें षड् द्रव्यों का भी समावेश है) का सहज ज्ञान होना चाहिए। उसके साथ सम्यगदर्शन और सम्यगज्ञान का योग भी अपेक्षित है। इन दोनों के होने पर भी प्रत्याख्यान–त्याग आवश्यक है। उसके बिना व्यक्ति श्रावक की भूमिका में वैसे ही नहीं बढ़ सकता, जैसे अक्षर-ज्ञान के बिना अपनी जीवन-पोथी को भी नहीं पढ़ सकता।

## भाष्य

जैनदर्शन में सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यकचारित्र–इन तीनों का योग अपेक्षित माना गया है। जब तक तीनों का योग नहीं होता, साधना अपूर्ण रहती है। सम्यगदर्शन का संबंध व्यक्ति की आस्था से है। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, लोक आदि का अस्तित्व आस्था का आधार बनता है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है, वहां पंचास्तिकाय का ज्ञान आवश्यक है। पर चारित्र के संदर्भ में नौ तत्त्वों का बोध जरूरी है। नौ तत्त्वों को समझे बिना चारित्र की आराधना संभव नहीं है।

नौ तत्त्वों का श्रवण, ज्ञान और विज्ञान–यहां तक ज्ञान की भूमिका है। साधना का अगला चरण है प्रत्याख्यान। अप्रत्याख्यानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से आंशिक रूप से व्रत ग्रहण करने की चेतना जागती है। तत्त्व तीन प्रकार के होते हैं–हेय, ज्ञेय और उपादेय। हेय–छोड़ने योग्य, ज्ञेय–जानने योग्य और उपादेय–ग्रहण करने योग्य। संसार में जितने तत्त्व हैं, वे सब ज्ञेय हैं। प्रत्याख्यान हेय का होता है। एक दृष्टि से उपादेय कुछ भी नहीं है। हेय छूटने पर जो बचता है, वह उपादेय हो जाता है।

पाषाणखंड से प्रतिमा का निर्माण करते समय बाहर से कुछ ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं रहती। छेनी से पाषाण को तराशने पर उसका अतिरिक्त भाग दूर होगा तो उसी में से प्रतिमा आविर्भूत हो जाएगी। हेय और उपादेय के विषय में यही तथ्य ज्ञातव्य है।

श्रावक की भूमिका का प्रवेशद्वार है प्रत्याख्यान। सम्यगदर्शन और सम्यगज्ञान की उपलब्धि के बाद भी जब तक प्रत्याख्यान नहीं होगा, हेय का त्याग नहीं होगा, श्रावकत्व की भूमिका प्रशस्त नहीं हो पाएगी। इसके लिए प्रत्याख्यान उतना ही अपेक्षित है, जितना जीवनग्रंथ को पढ़ने के लिए अक्षरज्ञान।

**(लावणी)**

**34. जो श्रद्धालु श्री वीर-चरण में आए,**
**बारह व्रत धारण कर श्रावक कहलाए।**
**उनका समग्र जीवन ही पथदर्शक है,**
**वह सप्तमांग का वर्णन आकर्षक है॥**

भगवान महावीर समवसरण में देशना देते। वहां श्रद्धालु लोग उनका प्रवचन सुनते। जिन लोगों के मन में उनके वचनों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि बढ़ी, वे बारह व्रत स्वीकार कर व्रती श्रावक बन गए। उनका पूरा जीवन श्रावक समाज के लिए पथदर्शक है। उनके जीवन का वर्णन सातवें अंगसूत्र 'उवासगदसाओ' में आकर्षक ढंग से उपलब्ध है।

## भाष्य

जीवन को प्रायोगिक बनाने की एक प्रक्रिया है प्रत्याख्यान। इस विषय में भगवान महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था दी। बारह व्रत अहिंसक समाज की संरचना का विस्तृत प्रारूप है। इसे शोषणमुक्त स्वस्थ समाज रचना की आचार-संहिता भी कहा जा सकता है। गृहस्थ के लिए संपूर्ण हिंसा का परिहार संभव नहीं है। उसके लिए अनावश्यक हिंसा को छोड़ना ही अहिंसक समाज की संरचना में योगभूत बनना है।

प्रत्याख्यान के द्वारा जीवन को कैसे बदला जा सकता है, इसका निदर्शन है भगवान महावीर के बारह व्रतधारी श्रावक। वे भगवान की सन्निधि में उपस्थित हुए, उनका उपदेश सुना और व्रत स्वीकार कर श्रावक बन गए।

श्रावक और अनुयायी—ये दो शब्द हैं। सामान्यतः इन्हें एकार्थक माना जाता है। पर इनमें बहुत बड़ा अंतर है। अनुयायी का अर्थ है पीछे चलने वाला और श्रावक का अर्थ है व्रत ग्रहण करने वाला। भगवान महावीर के श्रावकों की संख्या 1 लाख 59 हजार और श्राविकाओं की संख्या 3 लाख 18 हजार मानी जाती है। उनके अनुयायियों की संख्या का कोई लेखाजोखा नहीं है। उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने वाले सब लोग उनके अनुयायी थे, पर श्रावक-श्राविकाओं की गणना में उन्हीं को लिया गया है, जो विधिपूर्वक व्रती बने।

द्वादशांगी में सातवें आगम का नाम है 'उवासगदसाओ।' इसमें भगवान महावीर के प्रमुख श्रावकों का जीवन-चरित्र बहुत ही रोचक और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उनका जीवन समाज को मार्गदर्शन देने वाला है। स्वस्थ समाज संरचना के लिए उसे आधारभूत बनाया जा सकता है।

**अणुव्रत**

**35. हैं पांच अणुव्रत प्रथम अहिंसा वाणी,**
**हंतव्य न इसमें निरपराध त्रस प्राणी।**
**स्थावर की सीमा, व्रत व्यापक बन पाए,**
**आतंकवाद का अंत स्वयं आ जाए॥**

बारह व्रतों में प्रथम पांच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। इनमें पहला अणुव्रत अहिंसा है। इसके अनुसार कम-से-कम निरपराध त्रस—चलने-फिरने वाले प्राणियों का हनन नहीं होना चाहिए। श्रावक के लिए स्थावर जीवों की हिंसा से सर्वथा बच पाना कठिन है, पर उसकी सीमा की जा सकती है।

अहिंसा अणुव्रत को व्यापक बना दिया जाए तो आतंकवाद की समस्या का समाधान अपने आप हो सकता है, क्योंकि इस व्रत की स्वीकृति के फलस्वरूप निरपराध मनुष्यों की हत्या सहज रूप में प्रतिबंधित हो जाती है।

## भाष्य

धार्मिक व्यक्ति अहिंसानिष्ठ होता है। वह अहिंसा के आधार पर जीना चाहता है, किंतु एक गृहस्थ का जीवन हिंसा के बिना चल नहीं सकता। ऐसी स्थिति में श्रावक क्या करे? भगवान महावीर ने श्रावक के लिए अहिंसात्मक जीवन की विधि बतलाते हुए कहा—'श्रावक अपने जीवन का प्रारंभ अहिंसा की न्यूनतम भूमिका से करे, वह अनावश्यक हिंसा का परिहार करे, हिंसा के अल्पीकरण का मार्ग अपनाए। उसके लिए अहिंसा की न्यूनतम भूमिका है—चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करना।'

उक्त भूमिका में अहिंसा के आदिबिंदु का स्पर्श हुआ है। उसमें प्रमुख रूप से तीन अपवाद रखे गए हैं–संकल्पपूर्वक, निरपराध और स्थूलप्राणी। इन तीनों अपवादों का संक्षिप्त स्वरूप यह है–

1. अनायास ही होने वाले किसी प्राणी के वध से बचने की संभावना कठिन हो सकती है। पर कम-से-कम अमुक प्राणी को मारना है–इस प्रकार के संकल्प के साथ होने वाली हिंसा से बचा जा सकता है।

2. सामने वाला प्राणी आक्रमण कर रहा हो, लूट-खसोट पर उतारू हो, परिवार के किसी सदस्य का अपहरण कर रहा हो या किसी अन्य प्रकार से कष्ट पहुंचा रहा हो, उस अपराधी से अपना, अपनी संपत्ति और अपने परिवार का बचाव करने के लिए किसी प्रकार का प्रतिकार न करना बहुत कठिन है। पर कम-से-कम निरपराध प्राणी की हत्या न हो, यह सावधानी आवश्यक है।

3. मिट्टी, पानी, वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा से बचना एक गृहस्थ के लिए संभव नहीं है। जीवन की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति इनकी हिंसा के बिना नहीं हो सकती। पर थोड़ी-सी जागरूकता हो तो त्रस जीवों की हिंसा को टाला जा सकता है।

एक अहिंसक समाज की संरचना के प्रथम सोपान पर अहिंसा की न्यूनतम मर्यादा का पालन करने वाला व्यक्ति कम-से-कम चलने-फिरने वाले स्थूल जीवों की हिंसा नहीं करेगा, निरपराधी को समाप्त करने का प्रयास नहीं करेगा और बिना प्रयोजन किसी को संकल्पपूर्वक नहीं मारेगा।

प्रश्न हो सकता है कि व्यक्ति अनावश्यक हिंसा क्यों करता है? उसके कारण क्या हैं? प्रमाद, मोह, लालसा आदि ऐसे हेतु हैं जो विशेष प्रयोजन के अभाव में भी व्यक्ति को हिंसा की दिशा में धकेलते हैं। संकल्प का सुरक्षा कवच पहनकर ही वह क्रूर तथा अनावश्यक हिंसा से बच सकता है। स्थावर जीवों की हिंसा का समीकरण भी वही कर सकता है, जो व्रती जीवन में विश्वास करता है।

निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक हत्या नहीं करना–यह अहिंसा की न्यूनतम सीमा है। इस छोटे-से व्रत को व्यापक रूप में अपना लिया जाए तो विश्व की ज्वलंत समस्या आतंकवाद के समाधान की दिशा प्रशस्त हो सकती है, उसकी जड़ें उखड़ सकती हैं।

**36. वध बंधन अंग-भंग अतिभार नहीं हो,**
**विच्छेद वृत्ति का क्यों बेकार कहीं हो?**
**क्यों रहे क्रूरता? करुणा कोमलता हो,**
**श्रावक-जीवन में मैत्री निर्मलता हो॥**

अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार हैं—वध, बंधन, अंग-भंग, अतिभार लादना और आजीविका का विच्छेद करना। श्रावक के जीवन में क्रूरता को अवकाश ही नहीं मिलना चाहिए। वहां तो केवल करुणा, कोमलता, मैत्री और निर्मलता का विकास ही वांछनीय है।

## भाष्य

भगवान महावीर का युग कृषिप्रधान युग था। उस समय खेती मुख्यतः पशुओं पर आधारित थी। एक दृष्टि से खेती और पशु अभिन्न-से हो गए थे। पशुओं के प्रति किसी प्रकार का क्रूर व्यवहार न हो, इस बिंदु पर भगवान ने बल दिया। बल देने का कारण भी था। चलने-फिरने वाले प्राणी की हत्या करना—हिंसा का यह एक ही रूप नहीं है। प्राणवियोजन में हिंसा साफ-साफ दिखाई पड़ती है। उसके अतिरिक्त भी हिंसा के प्रयोग होते रहते हैं। महावीर-युग में पशु-हिंसा के पांच रूप अधिक प्रचलित थे, जिनकी चर्चा मूल पाठ में की गई है। उनके मूल में लोभ की अभिप्रेरणा का सक्रिय होना माना जा सकता है। लोभ की वृत्ति में क्रूरता के समावेश को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उससे बचना धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, मानवीय दृष्टि से भी आवश्यक है।

स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं—

1. वध-निर्दयता से मारपीट करना।
2. बंधन-गाढ बंधन से बांधना।
3. अंग-भंग—चमड़ी उतारना और नाक-कान आदि अवयव काटना।
4. अतिभार—बहुत अधिक भार लादना।
5. वृत्ति-विच्छेद—अपने आश्रित प्राणी के खानपान या आजीविका में कटौती करना।

इधर के कुछ दशकों में कृषि की स्थिति बहुत बदल चुकी है। अब कृषि के साथ पशु की प्रतिबद्धता नहीं रही है। फिर भी पशुओं के प्रति क्रूर व्यवहार छूट नहीं पाया है। पशु पर अतिभार लादने की बात आज भी चलती है। क्रूरता के अन्य कारणों में मनोरंजन, प्रसाधन-सामग्री और चिकित्सा को लिया जा सकता है।

खरगोशों की रेस, सांडों की लड़ाई आदि रईस लोगों की शौकिया वृत्ति की परिणतियां हैं। प्रसाधन-सामग्री का निर्माण करने के लिए छोटे-बड़े प्राणियों को जिन क्रूर तरीकों से मारा जाता है, उसे देख पाना भी मुश्किल है। थोड़े-से लोगों की विलासी मनोवृत्ति कितने निरीह प्राणियों की आहुति ले लेती है। चिकित्सा के क्षेत्र में नई शोध भी एक ऐसा ही नशा है। उस निमित्त से एक-एक वैज्ञानिक हजारों-हजारों मेंढकों, चूहों और बंदरों को बलि का बकरा बना देता है।

इस पूरे विश्लेषण का निष्कर्ष यह निकलता है कि आज आदमी ही सब कुछ हो गया है। आचार्य भिक्षु ने अपने युग में कहा था—**रांकां नै मार धींगां नै पोखै आ तो बात घणी छै गेरी।** बड़े लोगों के लिए छोटे जीवों की हिंसा को वैध ठहराना अमानुषिकता है, क्रूरता है। मानवाधिकार आयोग आदमी को ही सब कुछ मानकर उसकी सुरक्षा और सुविधा पर अतिरिक्त ध्यान दे रहा है। पर बेचारे दूसरे प्राणियों ने किसी का क्या बिगाड़ा है, जो उनके जीवन के साथ की जा रही खिलवाड़ पर कोई नियंत्रण नहीं है।

एक ओर आदमी को बचाने और सुख-सुविधा देने की बात पर इतना बल, दूसरी ओर बढ़ता हुआ आतंकवाद। आदमी द्वारा निरपराध आदमी को मारने की सुनियोजित प्रक्रिया। पूरे विश्व में सिर उठा रही आतंकवाद की समस्या से निपटने में न सरकार सक्षम है और न जनता। विकृत मानसिकता के शिकार और आतंकवाद के जनक आदमी के मनोरंजन, प्रसाधन और स्वास्थ्य के लिए पशुओं के साथ जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया जा रहा है, वह सर्वथा अवांछनीय है, त्याज्य है।

**37. क्या कभी अहिंसा सत्य बिना जी सकती?**
**सूई धागे के बिना वस्त्र सी सकती?**
**अतएव अहिंसक सत्यनिष्ठ होता है,**
**विश्वस्त स्वस्थ निज पाप-पंक धोता है॥**

सूई हो और धागा न हो तो वस्त्रों की सिलाई नहीं हो सकती। इसी प्रकार अहिंसा हो और सत्य न हो तो अहिंसा जीवित नहीं रह पाती। इसलिए अहिंसक श्रावक सत्य के प्रति निष्ठाशील होते हैं। वे विश्वस्त और आत्मस्थ रहते हुए अपने पापरूप कीचड़ का प्रक्षालन करते रहते हैं। यह उनका दूसरा अणुव्रत है।

## भाष्य

महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा की विचारधारा में सत्य का स्थान प्रथम है और अहिंसा का स्थान दूसरा है। भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचार-संहिता में अहिंसा सर्वोपरि है। उनके अनुसार सत्य आदि सारे व्रत अहिंसा के विस्तार हैं।

सत्य के दो रूप हैं–अस्तित्वपरक और उपयोगितापरक। **सच्चं लोयम्मि सारभूयं, सच्चंसि धितिं कुव्वह** आदि सूक्त सत्य के अस्तित्वपरक विराट रूप की प्रतिध्वनियां हैं। उसका उपयोगितापरक रूप वाणी का विषय बनता है। प्रस्तुत संदर्भ में उसका यही रूप विवक्षित है।

एक श्रावक अहिंसा अणुव्रत का पालन करता है तो उसे सत्यनिष्ठ बनना होगा, मृषावाद का वर्जन करना होगा। मृषासंभाषण के मुख्यतः चार कारण माने गए हैं–क्रोध, लोभ, भय और हास्य। इन कारणों की तीव्रता को नियंत्रित करने से सहज रूप में सत्य की साधना हो सकती है।

असत्य नहीं बोलना, यह सत्य का एक रूप है। उसका दूसरा रूप विधेयात्मक है। उसके अनुसार सत्य के चार प्रकार हैं–

कायऋजुता–यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली शरीर की प्रवृत्ति।

भाषाऋजुता–यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली वाणी की प्रवृत्ति।

भावऋजुता–यथार्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाली मन की प्रवृत्ति।

अविसंवादनयोग–अविरोधी, धोखा न देने वाली या प्रतिज्ञात अर्थ को निभाने वाली प्रवृत्ति।

सत्य अणुव्रत का पालन करने वाला श्रावक पुष्ट आधार के बिना किसी पर दोष का आरोपण नहीं करता। क्रोध, लोभ, भय और हास्य के वश किसी के लिए अहितकारक असत्य नहीं बोलता। किसी के गोपनीय

रहस्य का उद्‌घाटन नहीं करता। किसी को गलत पथदर्शन नहीं देता और झूठी साक्षी नहीं देता व झूठा लेख भी नहीं लिखता। इनमें से एक भी आचरण करने वाला व्रत-भंग का अपराधी होता है।

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. सहसाभ्याख्यान–बिना सोचे-समझे अचानक किसी पर दोषारोपण करना।
2. रहस्याभ्याख्यान–रहस्यपूर्ण वृत्त के आधार पर दोषारोपण करना।
3. स्वदारमंत्रभेद–अपनी पत्नी (स्त्री के लिए पति) के रहस्य का उद्‌घाटन करना।
4. मृषोपदेश–गलत मार्गदर्शन देना।
5. कूटलेखकरण–जाली हस्ताक्षर और दस्तावेज तैयार करना।

**38. जो नैतिकता से शून्य, शून्य जीवन है,**
**इसलिए अचौर्य अणुव्रत संजीवन है।**
**आर्थिक अपराधीकरण स्वयं चोरी है,**
**प्रामाणिकता श्रावक की स्थिर थ्योरी है॥**

जो जीवन नैतिकता से शून्य होता है, वह वास्तव में शून्य है। इस दृष्टि से अचौर्य अणुव्रत संजीवन है–शून्यता को भरने वाला है। आर्थिक घोटाले किसी भी क्षेत्र में हों, उनका समावेश चोरी में होता है। तीसरे अणुव्रत के अनुसार प्रामाणिकता श्रावक जीवन का सुस्थिर सिद्धांत है।

## भाष्य

श्रावकाचार में अचौर्य अणुव्रत की व्याख्या बहुत स्थूल रूप में की गई है। उसके अनुसार चोरवृत्ति से किसी दूसरे की वस्तु उठाने से अचौर्य अणुव्रत का भंग होता है, किंतु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अनैतिकता या अप्रामाणिकता की वृत्ति ही चोरी है। जब तब मनुष्य में नैतिकता की चेतना जाग्रत नहीं होती, वह आर्थिक अपराधों से बच नहीं सकता। नैतिकता की व्याख्या सरकारी कानून के परिप्रेक्ष्य में की जाएगी तो जटिलता बढ़ जाएगी। इसलिए इस विषय में कानून-निरपेक्ष विश्लेषण आवश्यक है।

धर्म या नैतिकता का तकाजा है कि कोई भी मनुष्य दूसरे के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार न करे। क्रूरतापूर्ण व्यवहार दो तरह से हो सकता है– शरीर के संदर्भ में और आर्थिक संदर्भ में। शारीरिक स्तर पर की जाने वाली क्रूरता का समावेश हिंसा में होता है। आर्थिक मामले में बरती जाने वाली क्रूरता से बचने की मनोवृत्ति का संबंध अचौर्य अणुव्रत के साथ है।

स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. स्तेनाहृत–चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना।
2. तस्कर-प्रयोग–चोर को चोरी करने में सहयोग देना।
3. विरुद्धराज्यातिक्रम–राज्यनिषिद्ध वस्तुओं का आयात-निर्यात करना।
4. कूटतोल कूटमाप–झूठा तोल-माप करना।
5. तत्प्रतिरूपकव्यवहार–असली वस्तु के स्थान पर नकली वस्तु देना, खाद्य-पेय आदि पदार्थों में मिलावट करना।

नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था रखने वाले लोग मूल्यों में गिरावट लाने वाली उन सब प्रवृत्तियों से बचने का प्रयास करते हैं, जो उनको अनैतिकता की अंधी सुरंग में धकेलते हैं।

**39. है ब्रह्मचर्य अपने से अपना रक्षण,**
**भोगेच्छा-परिसीमन का सघन प्रशिक्षण।**
**'अपने घर में संतुष्ट' नियम में निष्ठा,**
**श्रावकजीवन की सबसे बड़ी प्रतिष्ठा॥**

श्रावक का चौथा अणुव्रत है ब्रह्मचर्य। यह अपने द्वारा अपने जीवन की सुरक्षा है। भोग-लालसा को सीमित करने का सघन प्रशिक्षण इसी में निहित है। इस व्रत के प्रति निष्ठाशील श्रावक अपने घर में संतुष्ट रहते हैं–स्वदार संतोषी होते हैं। यह श्रावकजीवन की सबसे बड़ी प्रतिष्ठा है।

## भाष्य

आश्रम व्यवस्था के अनुसार मनुष्य के आयुष्य को सौ वर्ष का मानकर उसके चार विभाग किए गए हैं–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम,

वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम। इन चारों आश्रमों में प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष की अवस्था रखी गई है। प्रथम आश्रम में ब्रह्मचर्य की साधना को अनिवार्य माना गया है। यह अवस्था सामान्यतः गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने और विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने की है। विशेष उपलब्धि के लिए साधना के अनेक प्रयोग अपेक्षित रहते हैं। प्रयोगकाल में स्त्री-पुरुष के संपर्क को वर्जित मानकर ब्रह्मचर्य के पालन पर बल दिया गया।

जैन शास्त्रों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है, पर वहां ब्रह्मचर्य की साधना को अतिरिक्त महत्त्व प्राप्त है। ब्रह्मचर्य को एक प्रकार का रसायन माना गया है। प्राचीन मनीषियों ने उसको 'स्वर्ग्यमायुष्यम्'–स्वर्गीय जीवन और दीर्घ आयुष्य देने वाला माना है। मानव शरीर में निर्मित सात धातुओं में वीर्य धातु प्रमुख है और ओज-निर्माण का विशिष्ट हेतु है। इसे जीवनीशक्ति का स्रोत कहा जा सकता है।

एक गृहस्थ के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात असंभव तो नहीं है, पर कठिन अवश्य है। इसलिए गृहस्थ के साधनाक्रम में 'स्वदारसंतोष' का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रयोग से उन्मुक्त वासना सिमटकर एक बिंदु पर केंद्रित हो जाती है। पूरे शरीर में व्याप्त जहर को गारुडिक मंत्र के प्रयोग से एक स्थान पर इकट्ठा कर बाहर निकाल देता है। इसी प्रकार 'स्वदारसंतोष' व्रत स्वीकार करने से वासना केंद्रित हो जाती है। उसे सुविधा से निरस्त किया जा सकता है।

समाज की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए 'विवाह संस्था' का उद्भव हुआ। विवाह संस्था के दृढ़ीकरण में 'स्वदारसंतोष' व्रत की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। जिस समाज या संस्कृति में इस प्रकार के व्रत का मूल्य नहीं है, वहां विवाह के बाद भी उच्छृंखल यौनाचार चलता है। विवाह पूर्व और विवाहोत्तर यौन संबंधों के कारण पति-पत्नी में आपसी कलह की स्थिति पैदा होती है और परिवार टूट जाते हैं। इस दृष्टि से 'स्वदारसंतोष' व्रत को पारिवारिक जीवन का आधार माना जा सकता है।

नाइट क्लब या डिस्को संस्कृति में परिवार और समाज की सारी वर्जनाएं तोड़ दी जाती हैं। वहां न किसी प्रकार का संयम रहता है और न

कोई मर्यादा। यह स्थिति उन्मुक्त भोग से पैदा होने वाली समस्याओं की ओर संकेत करती है। एड्स जैसी जानलेवा बीमारी का मुख्य कारण इसी को माना जाता है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत आत्मसुरक्षा का सहज उपाय है और उन्मुक्त भोग की समस्या से बचने का प्रशिक्षण है। इस व्रत की साधना करने वाला इंद्रिय-संयम का विशेष अभ्यास करता है। स्वदारसंतोष व्रत[1] के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. इत्वरिक परिगृहीतागमन–परस्त्री गमन करना।
2. अपरिगृहीतागमन–वेश्यागमन करना।
3. अनंगक्रीड़ा–अप्राकृतिक मैथुन सेवन करना।
4. परविवाहकरण–व्यावसायिक वृत्ति से विवाह संबंध जोड़ना।
5. कामभोग तीव्राभिलाषा–काम-भोग की तीव्र इच्छा करना।

**40. इच्छापरिमाण अणुव्रत अपरिग्रह का,**
**हो जाता स्वयं शमन आर्थिक विग्रह का।**
**आवश्यकता आकांक्षा एक नहीं है,**
**आकांक्षा पर हो अंकुश, यही सही है॥**

इच्छाओं को सीमित करना पांचवां अपरिग्रह अणुव्रत है। इससे आर्थिक झंझट अपने-आप शांत हो जाते हैं। आवश्यकता और आकांक्षा एक नहीं है। आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, किंतु आकांक्षा की पूर्ति असंभव है। अतः आकांक्षाओं पर अंकुश लगे, यही सिद्धांत सही है।

## भाष्य

समय बदलता है। उसके साथ कुछ अवधारणाएं भी बदल जाती हैं। आज का अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण इच्छाओं के विस्तार को महत्त्व देता है। उसके अनुसार विकास के लिए इच्छा बढ़ाना जरूरी है। इच्छा बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा और उत्पादन बढ़ेगा तो देश का विकास होगा। यह बीसवीं सदी का चिंतन है।

भगवान महावीर के युग में झांकने के लिए लगभग पचीस सदी पूर्व के अतीत में जाना होगा। साधु और श्रावक धर्म का वर्गीकरण भगवान

महावीर का मौलिक अवदान था। उन्होंने श्रावक की जीवनशैली का पूरा प्रारूप प्रस्तुत किया। उनके द्वारा निर्दिष्ट श्रावक की आचार-संहिता का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है–इच्छा का परिमाण करो, इच्छा की सीमा करो।

एक ओर इच्छा का विस्तार, दूसरी ओर इच्छा का सीमाकरण। ये दो विरोधी ध्रुव हैं। हर विचार में सत्य का छोटा-बड़ा अंश निहित होता है। यह अनेकांत का दर्शन है। इसके अनुसार आज की अवधारणा भी अर्थहीन नहीं है। इससे विकास हुआ है, पर उसका स्वरूप भौतिक है। भौतिक विकास समस्याएं पैदा करता है। उनको समाहित करने के लिए चिंतन दूसरी ओर घूम रहा है, इच्छा के सीमाकरण की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

भगवान महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धांत दिया। कुछ लोग इस सिद्धांत का हवाला देकर कहते हैं–'एक ओर जैन लोग अपरिग्रह की बात करते हैं, दूसरी ओर परिग्रह की तरफ उनका झुकाव सबसे अधिक है।' इस विसंगति को लेकर जैन लोग यदा-कदा चर्चा में आ जाते हैं। यह तत्त्व को सही ढंग से नहीं समझ पाने का परिणाम है। भगवान महावीर ने कभी नहीं कहा कि एक गृहस्थ के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है। गृहस्थ के संदर्भ में अपरिग्रह के तीन सूत्र बनते हैं–

1. अर्जन में नैतिकता–अशुद्ध साधन का उपयोग नहीं करना।

2. अर्जन की सीमा–अमुक स्थिति तक पहुंचने के बाद व्यवसाय से मुक्त होना।

3. अर्जित संपत्ति के व्यक्तिगत भोग का संयम।

अपरिग्रह अणुव्रत का पालन करने वाला केवल अर्थ के अर्जन और भोग का संयम ही नहीं करता है, वह अर्थ की आसक्ति और अहं से भी बचता है। स्थूल अपरिग्रह व्रत अथवा इच्छापरिमाण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिरेक– खेत और घर के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
2. हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिरेक– चांदी और सोने के प्रमाण का अतिक्रमण करना।
3. धनधान्यप्रमाणातिरेक– धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

4. द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिरेक– नौकर, पशु-पक्षी आदि के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

5. कुप्यप्रमाणातिरेक– गृह सामग्री के प्रमाण का अतिक्रमण करना।

## गुणव्रत

**41. दिगव्रत में यातायात-नियंत्रण होता,**
**भोगोपभोग-नियमन संयम का सोता।**
**परिहार अनर्थदंड का, टले प्रदूषण,**
**ये तीन गुणव्रत श्रावक-जीवन-भूषण॥**

पांच अणुव्रत के बाद श्रावक के लिए तीन गुणव्रत बतलाए गए हैं–

- दिगव्रत–गमन-आगमन के लिए क्षेत्र का सीमाकरण।
- भोगोपभोग नियमन–खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि के काम आने वाली वस्तुओं का संयम।
- अनर्थदंड परिहार–बिना प्रयोजन हिंसा, असत्य आदि असद् आचरण का परित्याग। अनर्थदंड का प्रयोग छूटने से प्रदूषण की समस्या भी समाप्त हो सकती है।

उक्त तीनों गुणव्रतों को श्रावक जीवन का आभूषण माना गया है।

## भाष्य

तंबू तानने के लिए जमीन में कुछ खूंटियां गाड़नी पड़ती हैं। खूंटियों के आलंबन बिना तंबू टिक नहीं सकता। इच्छापरिमाण एक तंबू है। उसे टिकाने के लिए तीन खूंटियों की अनिवार्यता है–

1. दिगव्रत
2. भोगोपभोग-परिमाण व्रत
3. अनर्थदंड-विरमण व्रत

उक्त बात को यों भी कहा जा सकता है कि इच्छापरिमाण व्रत के सहायक व्रत या उपनियम तीन हैं। उन तीन नियमों को स्वीकार किए बिना इच्छाओं को सीमित करने का संकल्प फलित नहीं हो सकता।

साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के दो रूप हैं—क्षेत्र-विस्तार और व्यापार-विस्तार। प्राचीनकाल में क्षेत्रीय उपनिवेशवाद का प्रचलन था। आज उसका स्थान व्यावसायिक उपनिवेशवाद ने ले लिया। वर्तमान परिस्थितियों में सामान्यतः कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर सीधा अधिकार करना नहीं चाहता। किंतु व्यापार पर अपना-अपना कब्जा करने के अवसर खोजता रहता है। भारत में बहुउद्देशीय कंपनियों की घुसपैठ भी आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के लक्ष्य से हो रही है, ऐसा माना जाता है। व्यावसायिक प्रभुत्व के विस्तार को रोकने में दिग्-व्रत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इस व्रत का पालन करने वाला श्रावक निर्धारित क्षेत्र से आगे जाकर व्यापार नहीं करता।

स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में गांधीजी ने स्वदेशी आंदोलन चलाया था। उस आंदोलन के संभागियों और समर्थकों ने बहुमूल्य विदेशी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं की होली जला दी थी। वस्त्रों की राख करना गांधीजी का उद्देश्य नहीं था। वे जनता के मन में अपने देश और गांव के प्रति अपनापे की भावना जगाना चाहते थे। उन्होंने घर-घर में कुटीर-उद्योग लगाकर प्रत्येक देशवासी को स्वावलंबी बनने की बात कही। उनका निर्देश था कि हर भारतीय स्वयं निर्मित अथवा अपने गांव और देश में बनी हुई वस्तुओं का ही उपयोग करे।

स्वदेशी आंदोलन विदेशी लोगों के प्रति असहयोग की भावना से ही प्रेरित नहीं था, वह देश में बढ़ रही बेकारी की समस्या का बहुत बड़ा समाधान था। जिन युवकों को काम नहीं मिलता, सरकारी नौकरियां नहीं मिलतीं, वे पढ़े-लिखे युवक निराश हो जाते, हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाते। गांधीजी ने उनमें आत्मविश्वास पैदा किया। स्वावलंबन, गांव की अर्थव्यवस्था आदि बातें समझाकर उनमें उत्पादक श्रम के प्रति निष्ठा जगा दी।

श्रावक की आचार-संहिता के इन तीन व्रतों में पहला व्रत व्यावसायिक साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति पर अंकुश लगाने वाला है। इतने भूभाग में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त किसी भी क्षेत्र में निर्मित वस्तु का उपयोग नहीं करना और अमुक सीमा से आगे जाकर व्यवसाय नहीं करना, इस व्रत के फलित हैं।

दूसरा व्रत भोगोपभोग और संग्रह को सीमित करता है। एक बार काम में आने वाली वस्तु को भोगसामग्री और बार-बार काम में ली जाने वाली वस्तु को उपभोगसामग्री में सम्मिलित किया गया है। भोगोपभोग के स्थान पर उपभोगपरिभोग शब्द का प्रयोग भी होता है। इससे भोग की लालसा और अनुचित उद्योग-धंधों पर नियन्त्रण होता है।

तीसरा व्रत बिना प्रयोजन और अत्यधिक क्रूरता से होने वाली हिंसा पर रोक लगाता है।

अत्यधिक क्रूरता के भाव उसी व्यक्ति में पैदा हो सकते हैं, जिसकी इच्छा असीम है। अत्यधिक भोगोपभोग की वृत्ति उसी व्यक्ति में विकसित हो सकती है, जिसकी इच्छा असीम है। साम्राज्य-विस्तार की मनोवृत्ति उसी व्यक्ति में पनप सकती है, जिसकी इच्छा असीम है। इस प्रकार इन तीनों व्रतों का संबंध इच्छापरिमाण व्रत के साथ जुड़ जाता है। इनको गुणव्रत भी कहा जाता है।

दिगव्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. ऊर्ध्वदिशाप्रमाणातिक्रम–ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण।
2. अधोदिशाप्रमाणातिक्रम–अधो दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण।
3. तिर्यगदिशाप्रमाणातिक्रम–तिर्यक दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण।
4. क्षेत्रवृद्धि–क्षेत्र के परिमाण का विस्तार करना।
5. स्मृति-अंतर्धान–क्षेत्र के परिमाण की विस्मृति हो जाना।

**(सोरठा)**

**42. उपभोक्ता अनपार, परिमित भोग्य पदार्थ हैं।**
**सीमांकन संस्कार, समाधान श्रावक करें॥**

इस संसार में उपभोक्ता–भोग करने वाले अनगिन हैं। भोग्य पदार्थ सीमित हैं। यह एक समस्या है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत भोगोपभोग की सीमा के संस्कार पुष्ट कर श्रावक इस समस्या का समाधान करें।

## भाष्य

पदार्थ सीमित हैं, उपभोक्ता अधिक हैं तथा इच्छा और अधिक है। यह एक प्रकार का चक्रव्यूह है। मनुष्य इस व्यूह में प्रविष्ट हो जाता है,

पर निकलने की विधि नहीं जानता। ऐसी स्थिति में संकट बढ़ रहा है। उस संकट से उबरने का सूत्र नहीं है, ऐसी बात नहीं है। फिर भी मनुष्य उसे अनदेखा कर रहा है और समस्या में उलझ रहा है।

पर्यावरण के असन्तुलन की समस्या किसी क्षेत्र विशेष या राष्ट्र विशेष की नहीं है, आज संपूर्ण विश्व पर इसका शिकंजा कसता जा रहा है। विश्व में जितने राष्ट्र हैं, उन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है–विकसित, विकासशील और अविकसित। विकसित राष्ट्र बहुत अधिक सामग्री का उपभोग करते हैं। विकासशील राष्ट्रों के हिस्से में कुछ कम सामग्री आती है। अविकसित राष्ट्रों में तो कमी का प्रतिशत और अधिक हो जाता है। सामग्री की उपलब्धि और उपभोग में असंतुलन का सबसे बड़ा कारण है उपभोक्ताओं की बहुलता और पदार्थों की कमी। यह असंतुलन तब तक नहीं मिटेगा, जब तक उपभोक्ता संयम का पाठ नहीं पढ़ेंगे।

पदार्थों की कमी के कारण प्रकृति का दोहन अतिमात्रा में होता है। यह भी एक खतरा है। पदार्थ के भोग की ही नहीं, प्रकृति के दोहन की भी सीमा आवश्यक है। प्रकृति का दोहन असीमित होगा तो पदार्थ और अधिक सिकुड़ जाएंगे। यह परिस्थिति आपाधापी की मनोवृत्ति को सहारा देने वाली है। इस प्रकार एक के बाद एक नई-नई समस्याओं से निपटने का सीधा तरीका यही है कि अधिक पदार्थों के उपभोग की मनोवृत्ति को बदला जाए। इस दृष्टि से उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

उपभोग-परिभोग के दो प्रकार हैं–भोजन और कर्म। भोजन की अपेक्षा सातवें भोगोपभोग-परिमाण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. सचित्ताहार–प्रत्याख्यान के उपरांत सचित्त वस्तु का आहार करना।
2. सचित्तप्रतिबद्धाहार–प्रत्याख्यान के उपरांत सचित्त-प्रतिबद्ध वस्तु का आहार करना।
3. अपक्व औषधिभक्षण–अपक्व धान्य का आहार करना।
4. दुष्पक्व औषधिभक्षण– अर्धपक्व धान्य का आहार करना।
5. तुच्छ औषधिभक्षण–असार धान्य का आहार करना।

(वंदना आनंद)

**43. गरीबी गौरव गमाना, अमीरी अभिशाप है,**
**मांग खाना मान खोना मानसिक संताप है।**
**भले कृषि वाणिज्य श्रम से अर्थ का अर्जन करें,**
**लोकगर्हित क्रूर कर्मादान का वर्जन करें॥**

भोगोपभोग की सीमा करने वाले श्रावक सब कुछ छोड़ दें, अकिंचन बन जाएं, यह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि गरीबी से गौरव समाप्त होता है और अमीरी अभिशाप बन जाती है। गृहस्थ जीवन में मांगकर खाना अपना स्वाभिमान खोना है। उससे मानसिक कष्ट बढ़ता है। ऐसी स्थिति में श्रावक खेती, व्यापार या किसी भी प्रकार का श्रम करके अर्थ का अर्जन करें, यह लोकसम्मत है, किंतु लोक में घृणित और क्रूर माने जाने वाले कर्मादान–व्यापार का वर्जन अवश्य होना चाहिए।

## भाष्य

गरीबी समस्या है, यह बात दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है और इसे प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, किंतु अमीरी उससे भी बड़ी समस्या है, इसलिए उसे अभिशाप माना गया है। मांगकर खाना एक समस्या है। पर मांगकर खाने की परिस्थिति पैदा करना उससे भी अधिक खतरनाक समस्या है। इस अभ्युपगम का फलित यह है कि गरीबी और अमीरी दोनों ही अभीष्ट नहीं हैं।

अमीरी का एक मुख्य स्रोत है बड़े उद्योग और बड़े कारखाने। इनके बारे में दो प्रकार की अवधारणाएं हैं–मानवीय दृष्टिकोण से सोचने वाले व्यक्ति बड़े उद्योग-धंधों के पक्ष में नहीं हैं। उनके पास तीन तर्क हैं–अहिंसा, स्वावलंबन और शोषणविहीन व्यवस्था। उद्योग जितने बड़े होते हैं, हिंसा की संभावना उतनी ही अधिक हो जाती है। बड़े उद्योगों का स्वामित्व सीमित व्यक्तियों के हाथ में रहता है। वहां काम करने वाले कर्मचारी और श्रमिक आदि पूरी तरह से उन्हीं पर निर्भर रहते हैं। चूंकि वे अधीन हैं, इसलिए उनका शोषण भी होता है।

दूसरी अवधारणा अर्थप्रधान अवधारणा है। इसके आधार पर विचार करने वाले लोग बड़े उद्योगों के पक्ष में हैं। उनका अभिमत है कि बढ़ती

हुई आबादी के साथ उद्योगों को बढ़ाना आवश्यक है। अन्यथा काम नहीं चलेगा। अभिलषित विकास के शिखर तक पहुंचने के लिए बड़े कारखाने ही सोपान-मार्ग बन सकते हैं।

इस अवधारणा के आधार पर बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किए गए। इनके परिणामस्वरूप अमीर अधिक अमीर हो गए और गरीब अधिक गरीब हो गए। अमीरी और गरीबी की खाई अधिक चौड़ी हो गई। इस खाई को पाटने के लिए ऐसा मध्यम मार्ग अपेक्षित है, जो न गरीबी बढ़ाए और न अमीरी।

श्रावक अपनी आजीविका के लिए कृषि या व्यवसाय का आलंबन लेता है। इससे उसका स्वावलंबन सुरक्षित रहता है, श्रम की प्रतिष्ठा होती है और वह स्वाभिमान के साथ जी सकता है। हिंसा के बिना श्रावक का काम नहीं चलता, फिर भी उसकी विचारधारा अहिंसोन्मुखी है। वह क्रूर हिंसा से बचने का प्रयास करेगा और हिंसा के अल्पीकरण की दिशा में प्रस्थान करेगा।

श्रावक के लिए दो प्रकार के कर्मादान–कारखाने वर्जित माने गए हैं–लोकगर्हित और क्रूर। मांस का निर्यात, कत्लखाना आदि व्यवसाय लोक में घृणित माने जाते हैं। कर्मचारियों का शोषण और पशु-पक्षियों के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार–ये क्रूरता के उदाहरण हैं। विलासिता और प्रसाधन की सामग्री के लिए आज जैसी क्रूर हिंसा का सहारा लिया जा रहा है, वह किसी श्रावक के लिए उपादेय नहीं है।

प्राचीन साहित्य में पन्द्रह प्रकार के कर्मादान का उल्लेख है। उनमें कुछ कर्मादान क्रूर हिंसा की दृष्टि से और कुछ सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय माने गए हैं। आज उनके साथ पर्यावरणीय दृष्टिकोण भी जुड़ गया है। जंगल काटना एक कर्मादान है। इससे पर्यावरण की समस्या कितनी जटिल होती जा रही है, वह किसी से अज्ञात नहीं है।

पंद्रह प्रकार के कर्मादान श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. अंगारकर्म–अग्नि के महाआरंभवाला उद्योग।
2. वनकर्म–वन काटने का उद्योग।
3. शाटककर्म–वाहन का उद्योग।

4. भाटककर्म–वाहन के द्वारा माल ढोने का उद्योग।
5. स्फोटकर्म–खदान से खनिज निकालने का उद्योग।
6. दंतवाणिज्य–हाथीदांत का व्यवसाय।
7. लाक्षावाणिज्य–लाख का व्यवसाय।
8. रसवाणिज्य–शराब आदि का व्यवसाय।
9. विषवाणिज्य–विष का व्यवसाय।
10. केशवाणिज्य–भेड़ आदि के पालन का व्यवसाय।
11. यंत्रपीलनकर्म–कोल्हू चलाने का उद्योग।
12. निर्लांछनकर्म–बैल आदि को नपुंसक बनाने का काम।
13. दवाग्निदापनता–जंगलों को जलाना।
14. सरद्रहतडागशोषण–जलाशयों को सुखाना।
15. असतीजनपोषण–मुर्गीपालन तथा हिंस्र प्राणियों का पोषण।

उक्त कर्मादानों का संबंध श्रावक के सातवें व्रत भोगोपभोग-परिमाण व्रत के साथ है। अनर्थदण्डपरिहार नामक आठवें व्रत की चर्चा प्रस्तुत भाग के इकतालीसवें पद्य में की जा चुकी है। उसके पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. कंदर्प–काम को उत्तेजना देने वाली क्रियाएं।
2. कौत्कुच्य–भांड की भांति चेष्टा करना, हसोड़ प्रवृत्तियां।
3. मौखर्य–वाचालता।
4. संयुक्ताधिकरण–शस्त्रों के पुर्जे तैयार करना एवं उनका संयोजन करना।
5. उपभोग-परिभोगातिरेक–सीमा से अधिक उपभोग-परिभोग करना।

**शिक्षाव्रत**

**(लावणी)**

**44. सामायिक समता के प्रयोग का संगम,**
**देशावकाश है दसवां सहज-सरलतम।**
**निर्जल उपवास समत्वभाव अप्रतिहत,**
**संवर-संपोषक ग्यारहवां पौषध व्रत॥**

**45. सामायिक पौषध की गतिविधि कैसी हो?**
**अंतः-समता साकार बने वैसी हो।**
**मिश्री. मोहन. की मूर्ति सामने आए,**
**तो मन आमोद-प्रमोद-भाव बढ़ जाए॥**

श्रावक का नौवां व्रत है सामायिक। यह समता के प्रयोग का व्रत है। दसवां देशावकाश व्रत सहज है और सबसे अधिक सरल है। ग्यारहवां पौषध व्रत है। प्रतिपूर्ण पौषध में एक दिन-रात के लिए चतुर्विध आहार-त्याग के साथ निर्बाध रूप में समता का अभ्यास किया जाता है। इस व्रत से संयम पुष्ट होता है।

सामायिक और पौषध की गतिविधि कैसी होनी चाहिए? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है–अंतःकरण में समता का साक्षात अनुभव हो सके, वैसी होनी चाहिए। इस प्रसंग में मिश्रीमलजी सुराना (राणावास) और मोहनलालजी खटेड़ (लाडनूं)–ये दो चेहरे सामने आते हैं तो मन में प्रसन्नता और प्रमोद भावना की वृद्धि हो जाती है।

## भाष्य

चवालीस पद्य में तीन शिक्षाव्रत एक साथ आ गए हैं–सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत और पौषधोपवास व्रत। इनमें पहला स्थान सामायिक का है। बारह व्रतों की अपेक्षा सामायिक व्रत नौवें स्थान पर आता है।

धर्माराधना के एक प्रायोगिक रूप का नाम है सामायिक। इसके तीन रूप बनते हैं–

1. मानसिक संतुलन की साधना।
2. मन, वचन और काया के सामंजस्य की साधना।
3. विधायक भावों के विकास की साधना।

दिगंबर साहित्य में 'समय' शब्द आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त है। इसके अनुसार अपने-आप में होना या आत्मा में रहना ही सामायिक है। आत्मस्थ व्यक्ति असंतुलन की समस्या से आहत नहीं होता। वह शारीरिक स्थिरता, वाक-संयम और मन की एकाग्रता साध लेता है। वह अठारह पापों से विरत होकर विधायक भावों के विकास की साधना के प्रति जागरूक हो जाता है।

जो लोग समता की बात तो करते हैं, पर उसको साधने के लिए अभ्यास नहीं करते, कोई प्रयोग नहीं करते, उनका मस्तिष्क और चेतना समता-प्रधान नहीं बन सकती। जिन लोगों की धर्म या अध्यात्म में विशेष रुचि नहीं है, किंतु जो सामाजिक दृष्टि से समता की बात करते हैं, उनके लिए भी ऐसे मस्तिष्क एवं चेतना का निर्माण जरूरी है।

मनुष्य पर परिस्थितियों का दबाव रहता है। कभी उसके सामने सब प्रकार की अनुकूलताएं होती हैं तो कभी हर बात प्रतिकूल पड़ती रहती है। इन द्वंद्वात्मक परिस्थितियों से अप्रभावित रहना ही समता की साधना है। असंतुलन या असामंजस्य की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब बाहरी प्रभाव काम करता है। इस प्रभाव को क्षीण करना ही सामायिक का उद्देश्य है।

सामायिक का प्रयोग कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान में दो व्यक्तियों का जीवन सामने आ जाता है। पहले व्यक्ति हैं मिश्रीमलजी सुराना (राणावास) और दूसरे व्यक्ति हैं मोहनलालजी खटेड़ (लाडनूं)।

विशिष्ट अणुव्रती, प्रामाणिक प्रवर मिश्रीमलजी विधायक भावों में जीते हैं। उनका मानसिक संतुलन और मन, वचन एवं काय का सामंजस्य भी विलक्षण है। उनकी चेतना समत्व से भावित है। शीर्षासन में दो-दो सामायिक करना उनके लिए बहुत सामान्य बात है। वे सुप्त गर्भासन में भी सामायिक का प्रयोग करते रहे हैं। सन् 1981 के दिल्ली चातुर्मास्य में वे उपासना करने आए। यात्रियों के लिए निर्मित कुटीरों में वे ठहरे थे। एक दिन सूर्योदय से पहले वे अपने कुटीर में सामायिक कर रहे थे। सामायिक में खड़े–खड़े ध्यान कर रहे थे। चूहे जैसा कोई जंतु वहां आया। उसने उनके पैर में काटा। खून निकल आया। मिश्रीमलजी ध्यान में खड़े रहे। जंतु ने उनको बार-बार काटा। लगभग एक वर्ग फुट स्थान उससे प्रभावित हो गया। किंतु उनकी तन्मयता भंग नहीं हुई। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में समता के प्रकंपन सक्रिय रहते हैं, वही ऐसी स्थिति में अविचल रह सकता है।

मोहनलालजी खटेड़ की सामायिक साधना में गहरी आस्था थी। वे प्रतिदिन सामायिक करते थे। एक सामायिक किए बिना मुंह में पानी भी नहीं लेते थे। देश-परदेश जाते-आते समय ट्रेन में दो-दो दिन लग जाते।

उस समय वे कभी उपवास करते और कभी एक ट्रेन छोड़कर सामायिक करते व दूसरी ट्रेन में बैठकर अपने गंतव्य तक पहुंचते। अपने संकल्प की संपूर्ति के लिए उन्होंने बहुत वर्षों तक ऐसी कठिनाई झेली। लाडनूं-प्रवास में उनकी सामायिक धर्मस्थान में होती थी। वे पूरी एकाग्रता के साथ व्याख्यान सुनते। व्याख्यान से पहले तल्लीन होकर चौबीसी के गीतों का संगान करते। आसपास सामायिक करने वाले भाई-बहनों को भी उनके गीत सुनकर आनंद की अनुभूति होती थी। उनकी स्थिरता और तल्लीनता देखकर ऐसा लगता मानो वे सामायिकमय हो रहे हैं।

श्रावक के बारह व्रतों में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। सामायिक पहला शिक्षाव्रत है। दूसरे शिक्षाव्रत का नाम है देशावकाश व्रत। देश का अर्थ है छोटा या अंश। इस व्रत में अल्पकालिक तथा छोटे-से-छोटे नियम के लिए अवकाश रहता है। जो लोग एक साथ दीर्घकालीन त्याग नहीं कर सकते, उनके लिए यह अभ्यास का सरल और सुंदर क्रम है। इसे चरित्र-विकास की सहज प्रक्रिया माना जा सकता है। ध्यान सीखने वाला व्यक्ति एक साथ लंबा ध्यान नहीं कर पाता। उसे पांच से दस मिनट तक ध्यान का प्रयोग कराया जाता है। इसी प्रकार जो श्रावक पूरे दिन अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतों की साधना नहीं कर पाते, वे एक-दो घंटे के लिए संकल्प करके अपनी साधना को पुष्ट कर सकते हैं। यह अल्पकालीन अभ्यास पद्धति स्वीकृत संकल्पों को और अधिक कसने में भी सहयोगी बनती है।

श्रावक का ग्यारहवां व्रत और तीसरा शिक्षाव्रत है प्रतिपूर्ण पौषधोपवास। एक दिन और रात के लिए चारों प्रकार के आहार तथा सब प्रकार के सावद्य व्यापार का त्याग करने से यह अनुष्ठान होता है। इसे अष्टप्रहरी पौषध भी कहा जाता है। इसके दूसरे रूप में केवल पौषध शब्द का प्रयोग होता है। उसके अनेक प्रकार हैं। उपवास के साथ केवल रात्रि में पौषध किया जाता है। केवल दिन में पौषध करने की विधि चालू है। भोजन करके पौषध करने के प्रसंग आगम साहित्य में उपलब्ध हैं। चालू परंपरा में चार, छह और आठ प्रहर का पौषध होता है। और अधिक लंबे समय का पौषध भी किया जाता है। उक्त सभी उपक्रमों को साधना के विशेष प्रयोग मानने चाहिए।

नौवें सामायिक व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. मन-दुष्प्रणिधान–मन की असम्यक प्रवृत्ति।
2. वचन-दुष्प्रणिधान–वचन की असम्यक प्रवृत्ति।
3. काय-दुष्प्रणिधान–शरीर की असम्यक प्रवृत्ति।
4. सामायिकस्मृत्यकरणता–सामायिक की विस्मृति।
5. अनवस्थितसामायिककरण–नियत समय से पहले सामायिक को संपन्न करना।

दसवें देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. आनयनप्रयोग–दिगव्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर की वस्तु मंगाना।
2. प्रेष्यप्रयोग–दिगव्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर की वस्तु मंगाने के लिए प्रेष्य-कर्मचारी को भेजना।
3. शब्दानुपात–दिगव्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर शब्द कर काम कराना।
4. रूपानुपात–दिगव्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर अंगुली आदि का संकेत कर कार्य करवाना।
5. बहिर्पुद्‌गलप्रक्षेप–दिगव्रत में क्षेत्र की जो सीमा की हो, उससे बाहर तृण, कंकड़ आदि फेंककर कार्य करवाना।

ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या-संस्तारक–स्थान और बिछौने का प्रतिलेखन न करना अथवा सम्यक प्रकार से न करना।
2. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक–स्थान और बिछौने का प्रमार्जन न करना अथवा सम्यक प्रकार से न करना।
3. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण भूमि–उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन न करना अथवा सम्यक प्रकार से न करना।

4. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि—उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रमार्जन न करना अथवा सम्यक प्रकार से न करना।
5. पौषधोपवास का सम्यक अपालन—पौषधव्रत का सम्यक प्रकार से पालन न करना।

**(दोहा)**

**46. श्रावक का व्रत आखिरी, संयम में सहयोग।**
**संविभाग निज वस्तु का, परम पवित्र प्रयोग॥**

**(वंदना आनंद)**

**47. मुनि अकिंचन पचन-पाचन की क्रिया से मुक्त हैं,**
**भ्रामरी भिक्षाचरी उनके लिए उपयुक्त है।**
**संविभागी धर्मरागी विसर्जन मुनि-हित करें,**
**भावना की नाव से संसार-सागर को तरें॥**

श्रावक का आखिरी-बारहवां व्रत है—अतिथि-संविभाग। संयमी व्यक्ति के संयम में सहयोग देना इस व्रत का उद्देश्य है। इसमें श्रावक भोजन, पानी, वस्त्र आदि अपनी वस्तुओं का संविभाग कर साधु को देते हैं। यह एक परम पवित्र प्रयोग है।

मुनि अकिंचन होते हैं, उनके पास किंचित भी धन-वैभव नहीं होता। वे पचन-पाचन की क्रिया से मुक्त होते हैं। वे न तो अपने लिए भोजन पकाते हैं और न दूसरों से पकवाते हैं। आगमों में उनके लिए भ्रामरी भिक्षाचरी को उपयुक्त बताया गया है। जिस प्रकार भंवरा फूलों से थोड़ा-सा रस लेता है, वैसे ही मुनि गृहस्थों के घर से सहज निष्पन्न भोजन आदि का थोड़ा-थोड़ा अंश ग्रहण करते हैं। इसे माधुकरी वृत्ति या गोचरी भी कहा जाता है।

गृहस्थ श्रावकधर्म के अनुरागी होते हैं और संविभाग के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। वे मुनियों के लिए अपनी वस्तु का विसर्जन करें और संयमी को दान देने की भावना रूप नौका से संसार-समुद्र को पार करें।

## भाष्य

जो व्यक्ति सब प्रकार के संबंधों को छोड़कर मुनि बन जाता है, उसके सामाजिक जीवन की समाप्ति हो जाती है। उसके पास न धन-संपदा

होती है, न घर होता है और न जीवनयापन का कोई साधन होता है। और कुछ न होने पर भी उसके पास शरीर तो होता है। शरीर साधना में सहयोगी बनता है, इसलिए उसकी सार-संभाल आवश्यक है। शरीर या जीवन-यात्रा का निर्वाह करने के लिए वह भिक्षा का सहारा लेता है। इसके लिए गोचरी, भिक्षाचरी, माधुकरी वृत्ति आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। भिक्षा की परंपरा अपने आप में एक नया दृष्टिकोण है। इसके बारे में विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि गृहवासी के लिए भिक्षा वर्जनीय है। भिक्षा का अधिकार उसी को है जो अकिंचन हो तथा पकाने और पकवाने की क्रिया से विरत हो।

मुनि की भिक्षाविधि में नवकोटि-परिशुद्ध भिक्षा ग्रहण करने का विधान है। उसका स्वरूप इस प्रकार है–

- मुनि अपने भोजन आदि के लिए न स्वयं हिंसा करे, न दूसरों से हिंसा करवाए और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करे।
- मुनि न स्वयं भोजन पकाए, न दूसरों से पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे।
- मुनि न स्वयं भोजन आदि का क्रय करे, न दूसरों से क्रय करवाए और न क्रय करने वाले का अनुमोदन करे।

मुनि सर्वथा अकिंचन होता है। धन, भूमि आदि पर उसके स्वामित्व का प्रश्न ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उसे जीवनयात्रा चलाने के लिए कुछ द्रव्यों की अपेक्षा रहती है। वे द्रव्य वह कहां से प्राप्त करे? उत्तराध्ययन में कहा है–**सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं**–मुनि के पास जो कुछ होता है, वह सब याचना से प्राप्त होता है। बिना याचना उसके पास कुछ भी नहीं होता। याचना का मार्ग भी सरल नहीं है। **गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए**–गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थों के सामने हाथ फैलाना सरल नहीं है।

जीवनयापन का दूसरा कोई उपाय न होने पर मुनि गृहस्थों के घर भिक्षा के लिए जाता है। गृहस्थ मुनि के लिए भोजन आदि कुछ भी बना नहीं सकता। इस स्थिति में संविभाग की बात आती है। गृहस्थ अपने लिए जो चीजें बनाए, उन्हीं में से मुनि के लेने योग्य चीजों का संविभाग कर

देने की भावना रखे। मुख्य रूप से चौदह प्रकार की वस्तुओं के दान की परंपरा मिलती है–अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, काष्टपट्ट, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रौंछन, पीढ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषधि और भैषज्य। इन वस्तुओं को प्रतीकात्मक माना जा सकता है। मुनि के उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुएं भी उसे भिक्षा में ही प्राप्त होती हैं।

अतिथिसंविभाग व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

1. सचित्तनिक्षेप–साधु के ग्रहण योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु के ऊपर रखना।
2. सचित्तपिधान–साधु के ग्रहण योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना।
3. कालातिक्रम–भिक्षा के काल का अतिक्रमण करना।
4. परव्यपदेश–अपनी वस्तु न देने की भावना से दूसरों की बतलाना।
5. मत्सरिता–दूसरों को दान देते देखकर प्रतिस्पर्द्धात्मक भाव से दान देना।

मुनि को भिक्षा देना एक बात है, उसके लिए संविभाग की चेतना जगाना दूसरी बात है। मुनि को दिए बिना या देने की भावना किए बिना भोजन करना ही नहीं, यह विधि बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोग अतिथियों या दूसरे प्राणियों को खिलाए बिना खाना नहीं खाते, यह भी एक प्रकार से दान या त्याग की चेतना को जगाने का प्रयोग है, किंतु मूलतः गृहस्थ के लिए भिक्षा लेना सम्मत नहीं है। बहुत असमर्थता अथवा अकाल आदि विशेष परिस्थितियों में मांगने की विधि प्रचलित हुई। आगे चलकर तो भिखारीपन भी एक प्रकार का पेशा बन गया। कुछ व्यक्ति तो भीख पाने के लिए जान-बूझकर अपंग भी बन जाते हैं। भिखारियों की बढ़ती हुई संख्या देश के लिए अभिशाप है। भिखारीपन बढ़ाना पाप है। जैन परंपरा के अनुसार उन लोगों को भिक्षा लेने का अधिकार ही नहीं है, जो घर-गृहस्थी रखते हैं, धन-धान्य रखते हैं, जिनके पास अपने मकान होते हैं और जो सब प्रकार के सांसारिक कार्यों में रत रहते हैं।

## हर्बर्ट वारेन

(लावणी)

**48. संयमी-दान की नित्य भावना भाएं,**
**'हर्बर्ट वारेन' की गतिविधि स्मृति में लाएं।**
**आए मुनि देख खड़े हो सविनय वंदन,**
**व्रत से जोड़ें, तोड़ें भव-भव के बंधन॥**

बारहवें व्रत के अनुसार श्रावक प्रतिदिन संयमी दान की भावना का प्रयोग करे। इस प्रसंग में विदेशी विद्वान 'हर्बर्ट वारेन' की गतिविधि को सामने रखा जाए। भिक्षा के लिए आए हुए मुनि को देखते ही खड़े होकर विनम्रता के साथ वंदना की जाए। उसके बाद उन्हें भोजन-पानी लेने की प्रार्थना कर स्वयं को बारहवें व्रत से जोड़ें और जनम-जनम के बंधनों का विच्छेद करें।

## भाष्य

जैन परंपरा के अनुसार पूर्ण संयमी साधु ही भिक्षा लेने का अधिकारी है। जैन मुनि भिक्षाजीवी होने के साथ अपने संकल्पों के प्रति भी जागरूक रहता है। वह भिक्षा पाने के लिए न तो गृहस्थ की चापलूसी करता है, न उसे किसी प्रकार का प्रलोभन देता है और न अपने प्रभाव को ही काम में लेता है। शास्त्रों में निर्धारित विधि को ध्यान में रखते हुए वह भिक्षाचरी के लिए जाता है। विधिवत भिक्षा मिले तो ग्रहण करता है, अन्यथा बिना किसी प्रतिक्रिया के लौट आता है। ऐसी स्थिति में श्रावक का दायित्व है कि वह प्रतिदिन संयमी साधु की संयम-साधना में सहयोग करे, अपने लिए बनाए गए भोजन का कुछ हिस्सा दे। उसके घर साधु प्रतिदिन आए या नहीं, पर वह नियमित रूप से साधु के आगमन की प्रतीक्षा करे और उसे अपने भोजन का हिस्सा देने का चिंतन करे, तदनुरूप भावना भाए। यह श्रावक का बारहवां व्रत है।

सन 1938 की बात है। उन दिनों आचार्यश्री तुलसी बीदासर में प्रवास कर रहे थे। वहां ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर एफ. डब्ल्यू. थोमस आए। वे जैनदर्शन के अच्छे विद्वान थे। संस्कृत भाषा के जानकार थे और प्राकृत भाषा में अच्छी रुचि रखते थे। वे बीदासर से सुजानगढ़ की यात्रा में साथ रहे। जैनदर्शन और तेरापंथ के बारे में उन्होंने विस्तृत

जानकारी प्राप्त की। बातचीत के प्रसंग में प्रो. थोमस ने कहा—'इंग्लैण्ड में मेरे एक परिचित विद्वान हैं। वे जैनधर्म को पढ़ते हैं, उसके बारे में लिखते हैं और सही अर्थ में जैन हैं। उन्होंने भी गंभीरता के साथ जैनधर्म का अध्ययन किया है और निष्ठापूर्वक जैनधर्म स्वीकार किया। वे जैन ही नहीं, बारहव्रती श्रावक हैं। उन्होंने जैनिज्म पर एक पुस्तक भी लिखी है। उनका नाम है 'हर्बर्ट वारेन'। मैं आपको उनका पता बता देता हूं। आप उनसे पत्र व्यवहार कर पूरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

डॉ. थोमस द्वारा दी गई सूचना के आधार पर शुभकरणजी दसानी ने डॉ. वारेन से संपर्क किया। उनके साथ उनका लंबा पत्र-व्यवहार चला। दसानीजी ने उनसे पूछा कि वे इंग्लैंड में रहते हुए श्रावक के बारहवें व्रत का पालन कैसे करते हैं? साधुओं को दान कैसे देते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में डॉ. वारेन ने लिखा—'आपकी आशंका सही है। मैं जिस धरती पर रह रहा हूं, वहां साधु-साध्वियों का सुयोग दुर्लभ है। फिर भी मैं अपनी दृष्टि से बारहवें व्रत का पालन कर रहा हूं। मैं जब भोजन करने बैठता हूं तो साधुओं को भाव वंदन कर आंखें मूंदकर मन ही मन कहता हूं—'गुरु महाराज! आप कृपा कर पधारें, मेरे हाथ से कुछ लें और मुझे कृतार्थ करें। कुछ क्षणों के इस चिंतन से मैं बारहवें व्रत की आराधना करता हूं।' डॉ. वारेन के विचार पढ़कर यह अनुभव हुआ कि साधु को दान देने का जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व है भावना का। संयमी दान की भावना करके श्रावक निरंतर लाभान्वित हो सकते हैं।

## संलेखना/संथारा

**(वंदना आनंद)**

**49. काम्य हो सब श्रावकों को आखिरी संलेखना,**
**मृत्यु को भी सहज सुंदर साधना कर देखना।**
**बिना अनशन के विमन-मन मौत कोई मौत है!**
**जो कलात्मक-धर्मसम्मत, मौत सुख का स्रोत है॥**

**50. प्रथम त्रिविधाहार का परिहार, फिर जल छोड़ दें,**
**देह के परिकर्म से, आसक्ति से मन मोड़ दें।**
**जीविताशा-मरणभय से मुक्त पुलकित चेतना,**
**आत्महित परहित बने वह अमर शांति-निकेतना॥**

जीवन की संध्या में प्रत्येक श्रावक अंतिम संलेखना की कामना करे। संलेखना का अर्थ है समाधिमरण की तैयारी। इसमें मृत्यु भी सहज सुंदर साधना बन जाती है। अनशन (संथारे) के बिना अनमने मन से मरना भी कोई मरना है। सुख का स्रोत बनने वाली मौत वह है, जो कलापूर्ण और धर्मसम्मत हो।

अनशन में सबसे पहले तीन प्रकार के आहार–अशन, खादिम और स्वादिम का त्याग करें। यह तिविहार संथारा कहलाता है। अवसर देखकर पानी का भी त्याग कर दें। यह चौविहार संथारा है। आहार-पानी का त्याग करने के बाद शरीर की सार-संभाल और शरीर के प्रति रहने वाली मानसिक आसक्ति को छोड़ना आवश्यक है।

अनशनकाल में जीने की आशा और मौत के भय से मुक्त होकर चेतना खिल उठती है। ऐसी चेतना अपने लिए और दूसरों के लिए भी अमर शांति का संदेश बन जाती है।

## भाष्य

भगवान महावीर सत्य के खोजी थे। बारह वर्ष की साधना के बाद उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया। उनका सत्य वस्तु या जगत के स्वरूप-बोध तक सीमित नहीं था। उन्होंने जीवन के अज्ञात रहस्यों को परत-दर-परत उघाड़कर रख दिया। उनकी सत्योपलब्धि का एक रूप था जीवन को समग्रता से जानना। जन्म और मृत्यु–ये जीवन के दो छोर हैं। जन्म के आदिबिंदु से जीवन का प्रारंभ हो जाता है और जीवन का अंतिम बिंदु होता है मृत्यु। मृत्यु के बाद भी जीवन का प्रवाह रुकता नहीं है, पर उसका संबंध दूसरे जन्म के साथ जुड़ता है। इस दृष्टि से मृत्यु को जीवन का समापन माना जा सकता है।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने जीने की कला सिखाने का प्रयास किया है। जीवनशैली की समग्र चर्चा का संबंध जीने की कला के साथ है। जीवन कैसे जीना चाहिए? इस विषय पर कार्यशालाओं और सेमिनारों के माध्यम से विशद परिचर्चाएं आयोजित हो रही हैं, पर मरने की भी कोई कला होती है, इस बारे में सब मौन हैं। भगवान महावीर ने जीने की कला सिखाई, उसी तरह मरने की कला का भी बोध दिया।

संलेखनापूर्वक समाधिमरण का वरण वही कर सकता है, जो मरने की कला सीख चुका होता है। श्रावक की आचारसंहिता में दोनों कलाओं का समावेश है। बारह व्रतों की आराधना जीने की कला है और संलेखनापूर्वक जीवनयात्रा का समापन मरने की कला है।

जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है, किंतु मृत्यु कब होगी? इसका पता किसी को नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति संलेखना की तैयारी कब शुरू करे? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सामान्यतः संलेखना के तीन काल बताए गए हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन (36/250-255) के अनुसार जघन्य संलेखना का काल छह मास का है, मध्यम संलेखना का काल एक वर्ष का है और उत्कृष्ट संलेखना के लिए बारह वर्ष का काल मान्य किया गया है। उत्कृष्ट संलेखना करने वाला प्रथम चार वर्षों में दूध, घी आदि विकृतियों का त्याग करता है अथवा आयम्बिल तप करता है। दूसरे चार वर्षों में वह उपवास, बेला, तेला आदि करता है और पारणक में यथेष्ट भोजन लेता है। नौवें और दसवें वर्ष में वह एकांतर उपवास करता है और पारणक में आयंबिल तप करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह महीनों में वह उपवास, बेला आदि तपस्या करता है और पारणक में आयंबिल करता है। शेष छह महीनों में वह विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि करता है और पारणक में आयंबिल करता है। बारहवें वर्ष में तपस्या के दो क्रम चलाए जा सकते हैं—प्रथम क्रम के अनुसार निरंतर आयंबिल किए जाते हैं। दूसरे क्रम में प्रथम दिन आयंबिल, दूसरे दिन दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष के अंत में अर्द्धमासिक या मासिक अनशन का विधान है।

मनुष्य रोग से डरता है, आतंक से डरता है, बुढ़ापे से डरता है और मृत्यु से डरता है। मारणांतिक संलेखना मृत्यु के भय से मुक्त होने की साधना है। जागरूक श्रावक मानसिक संकल्प के रूप में संलेखना की अभिलाषा करता है। उपयुक्त समय देखकर वह पहले तीन आहार का त्याग करता है। फिर जल का भी परित्याग कर देता है। यावज्जीवन चौविहार अनशन स्वीकार कर लेता है। अनशन काल में वह शरीर के परिकर्म—स्नान, तैलमर्दन आदि को छोड़ता है और शरीर के ममत्व से भी

मुक्त हो जाता है। अनशन स्वीकार करने के बाद वह न जीने की आकांक्षा करता है और न शीघ्र मरण की बात सोचता है। उसका लक्ष्य रहता है आत्मरमण।

संलेखना व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक के लिए ज्ञातव्य हैं, आचरणीय नहीं हैं–

ऐहलौकिक आशंसा–इहलोक संबंधी सुखों की अभिलाषा।

पारलौकिक आशंसा–परलोक संबंधी सुखों की अभिलाषा।

जीवन की आशंसा–जीने की आकांक्षा।

मरण की आशंसा–मरने की आकांक्षा।

कामभोगों की आशंसा–कामभोग की आकांक्षा।

## समण संस्कृति

**51. व्रतों की विश्रुत विधा यह श्रमण संस्कृति से चली,**
**अविच्छिन्न परंपरा अध्यात्म ढांचे में ढली।**
**साधना आराधना हित शरच्चंद्र-समुज्ज्वला,**
**चली ज्यों चलती रहे, जिनधर्म की अविकल कला॥**

व्रत स्वीकार करने की यह प्रसिद्ध विधा श्रमण संस्कृति से विकसित हुई है। इसकी परंपरा अध्यात्म के सांचे में ढली हुई है और अविच्छिन्न रूप में चल रही है।

श्रावक के बारह व्रत जिनधर्म (अगार धर्म) की परिपूर्ण कला है। स्वीकृत साधना को सफल बनाने के लिए शरद ऋतु के चंद्रमा के समान उज्ज्वल व्रतों की यह धारा जिस रूप में बही है, आगे भी इसी प्रकार बहती रहे।

## भाष्य

भारत में मुख्य रूप से दो संस्कृतियां विकसित हुईं–श्रमण संस्कृति और ब्राह्मण संस्कृति। आर्य लोग हिंदुस्तान में आए, उससे पहले वहां एक संस्कृति अच्छी स्थिति में थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त अवशेषों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह संस्कृति ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति नहीं थी। पुरातत्त्वविदों के अनुसार उनका संबंध श्रमण संस्कृति के साथ है। वेदों तथा उनके पार्श्ववर्ती ग्रंथों में समागत कुछ शब्द

वातरशन मुनि, वातरशन श्रमण, केशी, व्रात्य, अर्हन् आदि श्रमण संस्कृति की प्राचीनता के प्रमाण हैं।

श्रमण संस्कृति में व्रत स्वीकार करने की परंपरा प्रारंभ से ही प्रचलित रही है। कुछ विद्वानों ने श्रमण संस्कृति का प्राचीन नाम व्रात्य संस्कृति बतलाया है। व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। उसका अर्थ है संयम या संवर। व्रत व्यक्ति को आत्मा के निकट ले जाता है और बाह्य जगत के प्रति अनासक्त बनाता है। व्रत श्रमण संस्कृति का प्राणतत्त्व है। अथर्ववेद का व्रात्यकांड व्रती संस्कृति की ओर संकेत करता है।

श्रमण संस्कृति का मूलभूत अंग है व्रत। जैन, बौद्ध आदि परंपराओं में जीवन के परिमार्जन की दृष्टि से व्रतों को अतिरिक्त मूल्य दिया गया है। उपभोक्ता मूल्योंवाले इस युग में भी जैन परिवारों में कुछ व्रतों को अनुष्ठान के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह परंपरा की अव्युच्छित्ति का सूचक है। युग-परिवर्तन के बाद भी व्रतों के प्रति घनीभूत जन-आस्था उनके त्रैकालिक महत्त्व को उजागर करती है। इक्कीसवीं सदी की अगवानी में खड़ा मनुष्य व्रत-चेतना के साथ नई सदी में प्रवेश करेगा तो युगीन खतरों के बीच में भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकेगा।

### श्रावक के विश्राम

**52. भारवाही श्रमिक के विश्राम की परिकल्पना,**
**पढे 'ठाणं' में चतुर्विध सहज सुखद विकल्पना।**
**श्रावकों के लिए त्यों विश्राम व्रत-आराधना,**
**सदा सविधि विवेकपूर्वक शांतमन हो साधना॥**

**(रामायण)**

**53. शील-अणुव्रत-गुण-आराधन,**
**श्रावक का पहला विश्राम।**
**सामायिक देशावकाश व्रत**
**आत्मरमण का दूजा धाम॥**

**54. चतुर्दशी अष्टमी आदि को,**
**पूर्णरूप से हो पौषध।**
**अंतिम संलेखन संथारा,**
**अनुपम आध्यात्मिक औषध॥ (युग्मम्)**

भारवाहक श्रमिक के लिए विश्राम की परिकल्पना की गई है। स्थानांग सूत्र में वर्णित ये सहज सुखद चार विकल्प पठनीय हैं।

इसी प्रकार श्रावक के भी चार विश्राम हैं। उनका संबंध व्रतों की आराधना से है। श्रावक सदा विधिवत विवेकपूर्वक शांत मन से उनकी साधना करें।

1. शील-अणुव्रत और गुणव्रत आदि का आराधन–यह श्रावक का पहला विश्राम है।
2. आत्मरमण में हेतुभूत सामायिक और देशावकाशिक व्रत का अनुपालन–यह श्रावक का दूसरा विश्राम है।
3. अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का अनुपालन–यह श्रावक का तीसरा विश्राम है।
4. अंतिम संलेखना और संथारे का आराधन–यह श्रावक का चौथा विश्राम आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपम औषधि है।

## भाष्य

स्थानांग सूत्र (4/362) में भारवाही श्रमिक के लिए चार विश्राम बताए गए हैं–

1. भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रखना।
2. देहचिंता से निवृत्त होने के लिए भार को नीचे रखना।
3. देवालय, धर्मशाला आदि सार्वजनिक स्थानों में रात्रि-प्रवास करना।
4. मंजिल तक पहुंचकर भार को उतार देना।

इसी प्रकार श्रमणोपासक के लिए भी चार विश्रामों का उल्लेख है–

1. शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को स्वीकार करना।
2. सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का अनुपालन करना।
3. अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक अनुपालन करना।

4. अंतिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भोजन-पानी का त्याग कर संथारा–अनशन स्वीकार कर मृत्यु के लिए अनुत्सुक होकर विहरण करना।

आज के संदर्भ में मनुष्य द्वारा ढोए जाने वाले भार, थकान और विश्राम के स्वरूप पर विचार करना नितांत आवश्यक है। आज का आदमी तनावभरा जीवन जी रहा है। आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिस्पर्द्धाएं तनाव का प्रमुख कारण हैं। प्रतिस्पर्द्धा में आगे रहने के लिए की जाने वाली दौड़-धूप तनाव को जन्म देती है। प्रतिस्पर्द्धा में पिछड़ जाने से उपजने वाली हीनभावना तनाव को बढ़ाती है। हिंसा, असत्य आदि निषेधात्मक भाव व्रत-चेतना की जागृति में बाधक हैं। अव्रती जीवन में तनाव आने की सारी संभावनाएं मौजूद रहती हैं। जैनदर्शन की भाषा में तनाव का सबसे बड़ा कारण है मोह। जब तक मोह की प्रबलता है, तनाव से मुक्ति नहीं मिल सकती। निष्कर्ष की भाषा में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ा भार है तनाव का। उसका कारण है मोह। मोहजनित थकान उतारने के लिए विश्राम की अपेक्षा है। विश्राम और कुछ नहीं, मोह के उपशम की प्रक्रिया है।

अध्यात्म की भाषा में विश्राम का अर्थ है मोह की चिकित्सा। यह चिकित्सा चार स्तरों पर की जाती है। प्रथम भूमिका की दवा है व्रतों का स्वीकार। इससे अव्रत का बोझ कुछ हलका हो जाता है। दूसरी भूमिका की चिकित्सा में समता की आराधना के साथ स्वीकृत व्रतों को पुष्ट किया जाता है। तीसरी भूमिका में पर्व-तिथियों में विशेष साधना का प्रावधान है। चौथी भूमिका में देह से मोह कम कर भेद-विज्ञान की अनुप्रेक्षा की जाती है। संलेखना-संथारा की भावना देहाध्यास को तोड़ने की प्रक्रिया है। उक्त चारों भूमिकाओं पर मोह की चिकित्सा करने वाला लाघव का अनुभव करता है और आंतरिक एवं बाह्य दोनों तरह से स्वस्थ हो जाता है।

पर्व-तिथियों में अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा–इन चार तिथियों का उल्लेख है। इन दिनों में निर्जल उपवास के साथ पौषध करने का विधान है। इससे भोजन-पानी के साथ शरीर की सार-संभाल भी छूट जाती है। उक्त तिथियों को महत्त्व देने का कारण ज्योतिषशास्त्र,

शरीरशास्त्र और विज्ञान के संदर्भ में खोजा जा सकता है। चंद्रमा की कलाओं में वृद्धि के साथ समुद्र में पानी की वृद्धि होती है। इसी प्रकार मानव-शरीर में भी अमुक तिथियों को जल-तत्त्व की वृद्धि होती है। उससे मानसिक उद्वेलन बढ़ता है। उन दिनों में जल या जल-तत्त्व की प्रधानता वाले पदार्थ शरीर में जाने से वायु बढ़ता है। वायु के मस्तिष्क में पहुंचने पर उन्माद की स्थिति पैदा हो सकती है। प्राचीनकाल में उन तिथियों को प्रतिपूर्ण पौषध का विधान होने से जल और हरियाली का सहज परिहार हो जाता। केवल हरियाली के वर्जन की परंपरा उत्तरकालीन प्रतीत होती है।

## श्रावक के मनोरथ

**(लावणी)**

**55. श्रावक के तीन मनोरथ सही श्रव्य हैं,**
**मनसा वचसा सततं ध्यातव्य नव्य हैं।**
**प्रायोगिक हैं, प्रयोग करना यदि जानें,**
**जीवन-परिवर्तन की सरणी पहचानें॥**

**(सहनाणी)**

**56. कब आएगा वह धन्य दिवस,**
**जब अपरिग्रही बनूंगा मैं।**
**कब आएगा वह धन्य दिवस,**
**घर त्याग मुनिव्रत लूंगा मैं।**
**कब आएगा वह धन्य दिवस,**
**अनशन आमरण करूंगा मैं।**
**जीने के मोह, मौत-भय से**
**बन मुक्त समाधि वरूंगा मैं॥**

स्थानांग सूत्र में श्रावक के तीन मनोरथ बताए गए हैं। उन्हें सुनना-समझना चाहिए। वे नित्य नए हैं, इसलिए मन और वचन से निरंतर उनका अनुचिंतन करना चाहिए। जो लोग प्रयोग करना जानते हैं, उनके लिए वे प्रायोगिक हैं। प्रायोगिक होने के कारण जीवन-परिवर्तन के मार्ग बन जाते हैं। उनकी पहचान आवश्यक है।

मनोरथों का चिंतन करने के लिए निम्ननिर्दिष्ट भाषा का उपयोग किया जा सकता है–

1. वह धन्य दिन कब आएगा, जब मैं परिग्रह का प्रत्याख्यान कर अपरिग्रही बनूंगा।
2. वह धन्य दिन कब आएगा, जब मैं घर का त्याग कर साधु जीवन स्वीकार करूंगा।
3. वह धन्य दिन कब आएगा, जब मैं आमरण अनशन स्वीकार करूंगा। जीने के मोह और मौत के भय से मुक्त होकर समाधि का वरण करूंगा।

## भाष्य

स्थानांग सूत्र (3/497) में श्रमणोपासक के तीन मनोरथ बताए गए हैं। मनोरथ का अर्थ है इच्छा या अभिप्राय। यह एक प्रकार से लक्ष्य-निर्धारण और संकल्पशक्ति को बढ़ाने का प्रयोग है। योग की भाषा में इसे अनुप्रेक्षा का प्रयोग कहा जा सकता है। हर व्यक्ति के सामने उसका लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। उसे क्या बनना है? कहां तक पहुंचना है? इसका निर्धारण हुए बिना वह किस दिशा में आगे बढ़ेगा? आगमकार की भाषा में मनोरथों का स्वरूप इस प्रकार है–

1. कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का प्रत्याख्यान करूंगा।
2. कब मैं मुंडित होकर अगार से अनगारत्व में प्रव्रजित होऊंगा।
3. कब मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर, भक्तपान का परित्याग कर, प्रायोपगमन अनशन कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूंगा।

इस प्रकार शुद्ध मन, वचन और काया से उक्त भावना करता हुआ श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त होता है। यह उसके ऊर्ध्वारोहण का संकेत है। श्रमणोपासक की भूमिका में महानिर्जरा और महापर्यवसान की संगति नहीं बैठती। क्योंकि वह तो आध्यात्मिक विकास की पांचवीं भूमिका पर स्थित है। महानिर्जरा और महापर्यवसान की स्थिति चौदहवीं भूमिका में होती है। इस विसंगति का निराकरण यह है कि श्रावक

का दूसरा मनोरथ साधु-जीवन स्वीकार करने का है। उस भूमिका से ऊर्ध्वारोहण करता हुआ वह चौदहवीं भूमिका तक पहुंच सकता है। वहां पहुंचने के बाद महानिर्जरा और महापर्यवसान स्वयं फलित हो जाता है।

मनोरथों के संदर्भ में एक प्रश्न यह हो सकता है कि यहां हिंसा-अहिंसा की चर्चा न करके परिग्रह का प्रत्याख्यान करने की बात क्यों कही गई? इस प्रश्न पर विचार करते समय भगवान महावीर की सूक्ष्मदर्शिता का दर्शन होता है। महावीर इस बात को जानते थे कि अनैतिकता और हिंसा की जड़ परिग्रह है। मनोरथों में जड़ को पकड़ा गया है। आचार्यश्री तुलसी का ध्यान इस बिंदु पर केंद्रित हुआ। उन्होंने एक नई अवधारणा देते हुए कहा–जैनधर्म को अहिंसा-प्रधान माना जाता है। **अहिंसा परमो धर्मः** यह सिद्धांत इसी मान्यता का फलित है, किंतु गंभीरता से सोचा जाए तो अहिंसा से भी अधिक महत्त्व अपरिग्रह का है। हिंसा, असत्य, चोरी आदि की संभावना परिग्रह के परिप्रेक्ष्य में रहती है। परिग्रह छूट जाए तो व्यक्ति उक्त निषेधात्मक भावों में जा ही नहीं पाता। इस दृष्टि से **अपरिग्रहः परमो धर्मः**–यह सिद्धांत अधिक संगत प्रतीत होता है।

परिग्रह का मोह छूटने के बाद मुनि-जीवन स्वीकार करने में सुविधा रहती है। मुनि के लिए भी हिंसा छोड़ने की बात प्रमुख नहीं है, वह तो स्वतः छूट जाती है। मुनि-जीवन की अर्हता बताते हुए कहा गया है– **संजोगाविप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो**। धन-वैभव एवं परिवार का संयोग और घर छोड़ने से मुनित्व का वरण होता है। परिग्रह-मुक्त होने के कारण ही उसके जीवनयापन का साधन भिक्षा को बताया गया है। जब तक धन, परिवार और घर के प्रति मोह है, तब तक परिग्रह है। जब तक परिग्रह नहीं छूटता है, मुनिधर्म की बात ही नहीं उठती।

तीसरा मनोरथ समाधिमरण का प्रयोग है। यह मरने की कला है। इसमें जीवन का व्यामोह और मौत का भय–दोनों छूट जाते हैं। यह जैनधर्म की मौलिक अवधारणा है। इसको संलेखना, संथारा और अनशन भी कहा जाता है।

तीन मनोरथों की आराधना में पहले परिग्रह को कम करने और उसके बाद उसे छोड़ने का निर्देश है। अपवाद रूप में एक साथ बहुत या संपूर्ण परिग्रह का त्याग किया जा सकता है। पर सामान्य क्रम में अल्प छोड़ने का अभ्यास पुष्ट होने पर अधिक का त्याग करने की मनोवृत्ति

बनती है। दूसरे चरण में मुनिधर्म का स्वीकार होता है। इसमें हिंसा आदि अपने आप छूट जाते हैं। तीसरे चरण में शरीर की आसक्ति और परिकर्म को छोड़ते हुए उसके विवेक का विधान है। यह समग्र प्रक्रिया एक प्रकार का प्रयोग है। इससे जीवन में रूपांतरण घटित होता है।

**श्रावक-प्रतिमा**

**(लावणी)**

**57. अवसर पर ग्यारह प्रतिमा श्रावक धारें,**
**कर सविधि साधना जीवन स्वयं निखारें।**
**दर्शन से श्रमणभूत तक बढ़ते जाएं,**
**जैनागम इनका विवरण विशद बताए॥**

उपयुक्त समय आने पर श्रावक ग्यारह प्रतिमा (साधना के विशेष प्रयोग) स्वीकार करें। उनकी विधिवत साधना कर अपने जीवन को निखार देते रहें। पहली प्रतिमा का नाम है दर्शन और ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम है श्रमणभूत। श्रावक दर्शन से श्रमणभूत प्रतिमा तक आगे बढ़ते रहें। जैन आगम दशाश्रुतस्कंध में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

## भाष्य

श्रावक की अनेक भूमिकाएं हैं—सुलभबोधि श्रावक, दर्शन श्रावक, व्रती श्रावक और प्रतिमाधारी श्रावक। प्रथम भूमिका में व्यक्ति की सत्संग में रुचि पैदा होती है। साधुओं के संपर्क में जाना, धर्म-श्रवण करना आदि उसे अच्छा लगता है, पर उसे सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं होती। इस भूमिका तक पहुंचने वाला भद्रक या सुलभबोधि श्रावक कहलाता है। दूसरी भूमिका में धार्मिक अभिरुचि के साथ सम्यक्त्व उपलब्ध हो जाता है। सम्यगदर्शन की प्राप्ति होने पर भी उसकी व्रत-चेतना का जागरण नहीं होता। यह दर्शन श्रावक कहलाता है। तीसरी भूमिका में प्रवेश करने वाला बारह व्रतों की साधना करता है। उससे अगली भूमिका प्रतिमाधारी श्रावक की है। 'दशाश्रुतस्कंध' सूत्र में श्रावक के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमाओं को स्वीकार करने का क्रम है, किंतु यह जरूरी नहीं है कि एक साथ सब प्रतिमाएं स्वीकार की जाएं। कुछ श्रावक दो-चार प्रतिमाएं धारण करके रुक जाते हैं, कुछ दसवीं प्रतिमा तक पहुंच पाते हैं और कुछ श्रावक ऐसे होते हैं, जो ग्यारहवीं प्रतिमा के अनुरूप साधना करते हैं।

प्रतिमा का अर्थ है अभिग्रह। साधना की दृष्टि से विशेष प्रकार की प्रतिज्ञाएं स्वीकार कर निश्चित कालावधि तक उनका पालन किया जाता है। कुछ आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावकों के तीन वर्गीकरण किए हैं। प्रथम छह प्रतिमाओं को धारण करने वाले को गृहस्थ, सातवीं से नौवीं तक तीन प्रतिमाओं के धारक को वर्णी या ब्रह्मचारी और शेष दो प्रतिमा धारण करने वाले को भिक्षुक माना गया है। कुछ आचार्यों ने इनको क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों की श्रेणी में परिगणित किया है।

समवायांग सूत्र (11/1) में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख है, पर वहां उनके स्वरूप के बारे में कोई चर्चा नहीं है। उपासकदशा सूत्र में आनन्द आदि दस श्रावकों का वर्णन है। उसके अनुसार सभी श्रावकों ने प्रतिमाओं को स्वीकार किया है, किंतु वहां न तो प्रतिमाओं के नाम दिए गए हैं और न उनके बारे में कोई जानकारी ही दी गई है। आनंद द्वारा प्रतिमा-स्वीकार का वर्णन इस प्रकार है–'आनन्द श्रमणोपासक ने प्रथम उपासक प्रतिमा स्वीकार कर उसकी यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातथ्य आराधना की। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी यावत ग्यारहवीं प्रतिमा की आराधना की। उपासक-प्रतिमाओं का विस्तृत विवरण दशाश्रुतस्कंध (3/8-18) में उपलब्ध है। उसके आधार पर उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

### 1. दर्शन प्रतिमा

समय– एक मास

विधि– सर्वधर्म (पूर्णधर्म) रुचि होना, सम्यक्त्व विशुद्धि रखना– सम्यक्त्व के दोषों का वर्जन करना।

### 2. व्रत प्रतिमा

समय– दो मास

विधि– पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध उपवास करना।

### 3. सामायिक प्रतिमा

समय– तीन मास

विधि– सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत धारण करना।

**4. पौषध प्रतिमा**

समय– चार मास

विधि– अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का पालन करना।

**5. कायोत्सर्ग प्रतिमा**

समय– पांच मास

विधि– रात्रि को कायोत्सर्ग करना। पांचवीं प्रतिमा वाला स्नान नहीं करता, रात्रिभोजन नहीं करता, धोती की लांग नहीं देता, दिन में ब्रह्मचारी रहता है और रात्रि में मैथुन का परिमाण करता है।

**6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा**

समय– छह मास

विधि– सर्वथा शील पालना।

**7. सचित्त प्रतिमा**

समय– सात मास

विधि– सचित्त आहार का परित्याग करना।

**8. आरंभ प्रतिमा**

समय– आठ मास

विधि– स्वयं आरंभ-समारंभ न करना।

**9. प्रेष्य प्रतिमा**

समय– नौ मास

विधि– नौकर-चाकर आदि से आरंभ-समारंभ न कराना।

**10. उद्दिष्टवर्जक प्रतिमा**

समय– दस मास

विधि– उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना। दसवीं प्रतिमा वाला बालों का क्षुर से मुंडन करता है अथवा शिखा धारण करता है। घर संबंधी प्रश्न पूछने पर 'मैं जानता हूं या नहीं'–इन दो वाक्यों से अधिक नहीं बोलता।

## 11. श्रमणभूत प्रतिमा

समय– ग्यारह मास

विधि– ग्यारहवीं प्रतिमा वाला बालों का क्षुर से मुंडन करता है अथवा लोच करता है। साधु का आचार, भंडोपकरण एवं वेश धारण करता है। वह साधु-वेश धारण कर-ईर्या आदि साधु-धर्मों का अनुपालन करता हुआ विचरण करता है। वह भिक्षा के लिए गृहस्थों के घरों में प्रवेश कर कहता है–'प्रतिमासंपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो।' साधु की तरह रहने पर भी वह स्वयं को श्रमणोपासक ही मानता है। इस संदर्भ में एक बात ज्ञातव्य है कि प्रतिमाधारी श्रावक भिक्षा के लिए केवल ज्ञातिजनों के घरों में ही जाता है, क्योंकि उनसे उसका प्रेम-बंधन जुड़ा रहता है।

(नोट–अगली प्रतिमा में पहली प्रतिमा का त्याग यथावत चालू रहता है)

## महास्कंध

**(सोरठा)**

**58. चार महाश्रवद्वार, महास्कंध नाम्ना विदित।**
**आजीवन परिहार, वर सक्षम श्रावक करें॥**

**(मुक्त छन्द)**

**59. महास्कंध से मुक्त महाश्रावक कहलाए,**
**जीवनभर अब्रह्मचर्य का त्याग निभाए।**
**निशि भर खान न पान, सचित्त न भक्ष्य बनाए,**
**कंदमूलभोजी वे कभी नहीं कहलाए॥**

चार महाश्रवद्वार हैं। वे महास्कंध के नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तम और शक्तिसंपन्न श्रावक उनका जीवनभर के लिए त्याग करे।

चार महास्कंध का त्याग करने वाला महाश्रावक कहलाता है। वह जीवनभर अब्रह्मचर्य का त्याग करता है। जीवनभर रात्रि में खाने-पीने का त्याग करता है। जीवनभर सचित्त भोजन-पानी का त्याग करता है और जीवनभर कंदमूल का त्याग करता है।

# भाष्य

श्रावक जीवन में व्रतों की पुष्टि के लिए अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान करने की परंपरा रही है। संलेखना सहित बारह व्रतों की साधना श्रावक धर्म का मूल आचार है। प्रतिमा, मनोरथ, विश्राम आदि के द्वारा भी उन्हीं व्रतों की परिक्रमा की जाती है। ये सब उपक्रम आगमिक हैं और महावीर-युग के श्रावकों में प्रचलित रहे हैं। इसी क्रम में स्कंध-वर्जन का भी एक प्रयोग है, पर आगमों में कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता। यह प्रयोग कब और क्यों चला? अभी तक अन्वेषण का विषय है। इसके बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उत्तरकालीन प्रयोग है।

आचार्यश्री तुलसी ने चार स्कंधों के लिए महास्कंध शब्द का प्रयोग किया है। इनको महास्कंध मानने का हेतु प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि चार महाश्रवद्वार हैं। आश्रवद्वार से कर्मों का संचय होता है। श्रावक यथाशक्ति आश्रवद्वार का निरोध करता है। निरोध के लिए त्याग आवश्यक है। कुछ चीजों का त्याग सापवाद होता है। उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सीमाएं रहती हैं। उदाहरण के रूप में हरियाली के त्याग को लिया जा सकता है। हरी सब्जी का त्याग करने वाला व्यक्ति अचार, मुरब्बा आदि का उपयोग करता है। आंवला, सेब आदि का त्याग करने वाला इनका अचार और मुरब्बा खा सकता है, किंतु स्कंध का त्याग अधिक कसा हुआ होता है। इसके अनुसार हरियाली का त्याग है तो अचार और मुरब्बा का सेवन स्वयं निषिद्ध हो जाता है।

परंपरा के अनुसार स्कंध चार माने गए हैं–अब्रह्मचर्य, रात्रिभोजन, सचित्त और हरियाली। इनमें प्रथम तीन स्कंध प्रतिमाओं से लिए गए हैं, ऐसा माना जा सकता है। व्रतों के साथ भी इनका संबंध हो सकता है, किंतु हरियाली के त्याग की बात न प्रतिमाओं में है और न बारह व्रतों में है। मनोरथ और विश्राम में भी इसके लिए कोई संकेत नहीं है। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि काल विशेष या क्षेत्र विशेष की दृष्टि से हरियाली को स्कंध माना गया है। प्राचीन समय में चातुर्मास्य के अतिरिक्त समय में हरियाली की उपलब्धि कम होती थी। राजस्थान जैसे शुष्क प्रदेशों में तो उसकी पैदावार ही बहुत सीमित होती थी। ऐसी स्थिति में सूखी सब्जी का प्रयोग स्वतः प्राप्त था। किसी युग के साधु-साध्वियों

का ध्यान इस ओर गया हो और उन्होंने सहज रूप में अव्रत टालने के लिए हरियाली के त्याग का सिलसिला शुरू किया हो, इस मान्यता में कोई बाधा नहीं है।

आचार्यश्री ने 'श्रावक संबोध' की रचना करते समय चार स्कंधों के स्वरूप पर विचार किया। उन्होंने बीसवीं सदी में संचार-साधनों के द्वारा सिमटे हुए विश्व को देखा, क्षेत्रीय परिस्थितियों का अध्ययन किया और लोगों की मानसिकता या स्वास्थ्य पर ध्यान दिया। हरी सब्जी और फल वर्तमान जीवनशैली की अपरिहार्यता मानी जाती है। जो लोग पहले से चार स्कंधों का परित्याग कर चुके हैं, वे भी कुछ कठिनाई का अनुभव करते हैं। इस सामयिक समस्या को समाहित करने के लिए आचार्यश्री ने हरियाली के स्थान पर 'कंदमूल' को स्कंध रूप में स्थापित कर दिया।

**60. नई विधा से भी हो महास्कंध का वर्जन,**
**रूढ़िमुक्ति, आसक्तिमुक्ति आवेश-विसर्जन।**
**अप्रामाणिक वृत्ति कभी क्यों जगे हृदय में?**
**अनाग्रही चिंतन हो अनेकांत की लय में॥**

प्रायोगिक रूप में नई विधा से भी चार महास्कंधों की कल्पना की गई–

1. रूढ़ि, 2. आसक्ति, 3. आवेश और 4. अप्रामाणिक वृत्ति। इन महास्कंधों का भी वर्जन किया जाए। महास्कंधों से विरत जैन श्रावक अनेकान्त के महत्त्व को समझकर अपने चिंतन में अनाग्रह का विकास करें।

## भाष्य

धर्म परंपरा का संवाहक होता है तो वह कुछ नई प्रस्थापनाएं भी करता है। श्रावक जीवन में चार स्कंधों के त्याग की परंपरा आगमकालीन नहीं है। जनसाधारण के लिए इनकी अनिवार्यता जैसी बात भी नहीं है। श्रावक धर्म की अनुपालना करते हुए साधना के विशेष प्रयोग करने वाले व्यक्ति स्कंधों का त्याग करते रहे हैं। ये त्याग व्यक्ति के जीवन और मन को विशेष रूप से प्रभावित कर सके, इस दृष्टि से श्रावक संबोध के रचनाकार आचार्यश्री तुलसी ने नई विधा से स्कंधों का निर्धारण किया है। प्रस्तुत पद्य में उन्हीं नए महास्कंधों का उल्लेख हुआ है। वे चार नए

महास्कंध ये हैं—रूढ़ि, आसक्ति, आवेश और अप्रामाणिकता। जो लोग अनेकान्त के मूल्य को समझते हैं, अपने विचारों को आग्रह के तटबंधों से मुक्त रखते हैं और प्रायोगिक धर्म को आत्मसात करने में विश्वास करते हैं, वे बारहव्रती श्रावक हों या नहीं, उक्त स्कंधों से मुक्त होकर महाश्रावक बन सकते हैं।

मनुष्य परंपराओं का उपजीवी है। उसका प्रत्येक व्यवहार रूढ़ि के आधार पर चलता है। जीवन का जो संस्कार परिपक्व बनता है, वह रूढ़ि कहलाता है। प्रस्तुत संदर्भ में रूढ़िमुक्ति का यह अर्थ विवक्षित नहीं है। जो रूढ़ि अर्थहीन हो जाती है, जो प्रतिक्रिया, हिंसा और स्पर्द्धा को जन्म देती है, वह रूढ़ि त्याज्य होती है। जो परंपरा आर्थिक दबाव को बढ़ाती है, अंधविश्वासों को गहरा करती है और संस्कारों पर विपरीत प्रभाव छोड़ती है, उसका परिवर्तन विवेक का सूचक है।

आसक्ति का त्याग अध्यात्म का बहुत बड़ा प्रयोग है। पदार्थ का त्याग करके उसकी आसक्ति से बचा जा सकता है, किंतु पदार्थ के बिना जीवन नहीं चलता। जीवन यापन के लिए पदार्थ का उपभोग आवश्यक है। पदार्थ का उपभोग करना और उसमें लिप्त नहीं होना, यह विशेष साधना है। महाश्रावक की आंतरिक अर्हताओं में एक स्थान आसक्ति-मुक्ति का है।

तीसरा नया स्कंध है आवेश। मनुष्य के व्यवहार को बिगाड़ने में आवेश का बड़ा हाथ है। इससे पारिवारिक और सामाजिक संबंधों में कटुता घुल जाती है। आवेशमुक्ति व्यवहारकौशल के साथ सफलता का भी महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हवाई जहाज की परिचारिका, चिकित्सालय की नर्स, कार्यालय की स्टेनो और दुकान की सेल्सगर्ल आदि को व्यवहारकौशल का प्रशिक्षण दिया जाता है। हर समय मुस्कराते रहना और आगंतुक के साथ अच्छा व्यवहार करना—इन दो विशेषताओं के आधार पर उन्हें अच्छी सर्विस प्राप्त हो जाती है। कार्यक्षेत्र हो या घर, व्यवहारकौशल और आवेश को नियंत्रित रखने या छोड़ने की अनिवार्यता दोनों स्थानों पर है। श्रावक के लिए आवेशमुक्ति की बात धर्म को जीवन से जोड़ने का प्रयोग है।

व्यवसाय और व्यवहार के क्षेत्र में प्रामाणिकता का विशेष मूल्य है। सामान्यतः लोगों की एक धारणा है कि प्रामाणिकता या नैतिकता के आधार पर व्यवसाय नहीं चल सकता। यह अल्पकालावधि का अनुभव

हो सकता है। दीर्घकालावधि की दृष्टि से प्रामाणिक व्यक्ति अधिक सफल होता है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में उनका निर्यात अधिक चलता है, जो ईमानदार रहते हैं। 'काठ की हांडी दूसरी बार नहीं चढ़ती'–यह कहावत इसी सचाई को चरितार्थ करती है।

## दैनिक प्रत्याख्यान

**(लावणी)**

**61. महनीय महाश्रावक की हो दिनचर्या,**
**बढ़ती ही जाए जीवन की जागर्या।**
**जो हर-हमेश व्रत की सीमा संकोचे,**
**नव नियम निरंतर प्रातः प्रत्यालोचे॥**

**62. खाद्यों की सीमा[1] वस्त्रों का परिसीमन[2],**
**पानी-बिजली का हो न अपव्यय[3] धीमन!**
**यात्रा-परिमाण[4] मौन[5] प्रतिदिन स्वाध्यायी[6],**
**हर रोज विसर्जन[7] अनासक्ति वरदायी।**
**हो सदा संघ-सेवा[8] सविवेक सफाई[9],**
**प्रतिदिवस रहे इन नियमों की परछाईं॥**

जीवन में विशेष जागृति लाने के लिए महाश्रावक की दिनचर्या को महत्त्वपूर्ण बनाना आवश्यक है। इस दृष्टि से वे स्वीकृत व्रतों की सीमा को निरंतर संक्षिप्त करते रहें। यह तभी संभव है जब वे प्रतिदिन प्रातःकाल नौ नियमों का प्रत्यालोचन कर दैनिक प्रत्याख्यान करें। उनके जीवन पर कम-से-कम निम्ननिर्दिष्ट नौ नियमों का प्रभाव अवश्य रहे–

- खाद्य पदार्थों की सीमा।
- वस्त्रों की सीमा।
- पानी, बिजली के अपव्यय से बचना।
- यात्रा की सीमा।
- मौन
- स्वाध्याय
- विसर्जन
- संघ-सेवा
- स्वच्छता

# भाष्य

धर्म का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है जागरूकता। भगवान महावीर ने साधु को चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि हर क्रिया में जागरूकता या यतना रखने का निर्देश दिया है। चलते समय जागरूकता के अभाव में जीववध न होने पर भी हिंसा का दोष लगता है। साधु की तरह श्रावक भी अपनी जीवनचर्या और दिनचर्या के प्रति जागरूक रहकर अव्रत के पाप से बचाव कर सकता है।

श्रावक के बारह व्रतों में दसवां व्रत है देशावकाशिक व्रत। पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत में किए गए त्याग को संक्षिप्त करना इस व्रत की सीमा में आ जाता है। प्राचीन परंपरा में चौदह नियमों का स्मरणपूर्वक संकल्प किया जाता था। वह परंपरा आज भी प्रचलित है। उन नियमों में सचित्त, द्रव्य, विगय, पन्नी (जूते आदि) तांबूल, वस्त्र, कुसुम (फूल, इत्र आदि), वाहन, शयन, विलेपन, अब्रह्मचर्य, दिशा, स्नान और भक्त (भोजन-पानी आदि)—इन चौदह बिंदुओं का संकलन है। इनकी प्रासंगिकता आज भी कम नहीं हुई है। पर कुछ बातें इनसे भी अधिक आवश्यक प्रतीत होती हैं। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर आचार्यश्री तुलसी ने नौ नियमों की एक सुंदर तालिका प्रस्तुत कर दी। एक दिन को सही ढंग से कैसे जीएं? इस प्रश्न का समाधान इस तालिका में निहित है।

श्रावक की दिनचर्या में खाना-पीना, बोलना, घूमना, व्यवसाय करना, मनोरंजन करना आदि तत्त्व प्रमुख हैं। कुछ लोग खाने-पीने के इतने शौकीन होते हैं कि दिनभर खाते रहते हैं। कुछ लोग एक साथ अनेक प्रकार की वस्तुएं खाते हैं। नीरो नाम का एक राजा तो ऐसा हो चुका है, जो केवल स्वाद के लिए खाता था। उसके बारे में यह कहा जाता है कि वह स्वादिष्ट भोजन करता, औषधि के प्रयोग से वमन कर उसे निकालता और फिर दूसरे प्रकार का भोजन करता। इस प्रकार एक दिन में उसके भोजन की कई आवृत्तियां हो जातीं। ऐसे व्यक्ति शरीर या भूख के लिए नहीं खाते, रसलोलुपता से खाते हैं। खाद्य-पदार्थों की सीमा करने वाला संयम-साधना के साथ स्वास्थ्य-साधना का लाभ भी कर लेता है।

व्यक्ति का परिधान उसकी सभ्यता और संस्कृति का सूचक होता है। यह सर्दी-गर्मी का निवारण करता है और सामाजिक परिवेश एवं रुचिबोध

में भी सहायक बनता है। कुछ लोगों का ध्यान परिधान पर ही केंद्रित रहता है। वे प्रतिदिन तीन-चार बार वेश-परिवर्तन कर लेते हैं। ऐसे लोग अपने व्यक्तित्व का पेरामीटर वेशभूषा को ही मानते हैं। एक-एक व्यक्ति के लिए सौ-दो सौ प्रकार के कपड़े भीतर की अतृप्त लालसा के ही द्योतक होते हैं। बाजार में नई डिजाइन का वस्त्र देखकर पहनने के लिए जरूरत न होने पर भी उसे खरीदना भोगोपभोग की असीम लालसा का परिणाम है।

एक समय ऐसा भी था, जब पानी के उपयोग में बहुत संयम बरता जाता था। उसका कारण था पानी की दुर्लभता। पानी की उपलब्धि का प्रमुख स्रोत था वर्षा। कहीं वर्षा नहीं होती या वर्षा के पानी को संगृहीत करके नहीं रखा जाता, वहां कुओं से पानी लाया जाता था। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए यांत्रिक विकास ने घर-घर में कुआं पहुंचा दिया। इस सुविधा ने पानी के उपयोग की वृत्ति को मुक्त कर दिया।

प्राचीनकाल में बिजली का उत्पादन नहीं हुआ था, इसलिए मनुष्य प्रकृति में जीता था। बिजली के उत्पादन ने मनुष्य को पराधीन बना दिया। अब वह अंधेरे में रह नहीं सकता, पंखे या कूलर के बिना सो नहीं सकता और हाथ से काम नहीं कर सकता। आज पानी और बिजली का जितना अपव्यय हो रहा है, उसके आधार पर यह संभावना की जा रही है कि आने वाले कुछ दशकों के बाद इनका भयंकर संकट उपस्थित हो सकता है।

पानी के अपव्यय से बचने की प्रेरणा महात्मा गांधी के जीवन से मिलती है। एक बार वे 'आनन्द भवन' में हाथ धो रहे थे। हाथ धुलाने वाले थे जवाहरलाल नेहरू। उन्होंने पानी कुछ अधिक डाल दिया। पानी धार बनकर बहने लगा। गांधीजी ने उनको टोकते हुए कहा–'जवाहरलाल! पानी कैसे डाल रहे हो? कितना पानी फालतू बह गया।' नेहरू बोले–'मैं संगम का निवासी हूं। मेरे यहां पानी की कमी नहीं है।' गांधीजी ने कहा–'जवाहरलाल! तुम यह क्या कह रहे हो? हमारे देश के करोड़ों लोगों को पूरा पानी नहीं मिलता और तुम कहते हो कि यहां पानी की कमी नहीं है। जरूरत के हिसाब से पानी का उपयोग किया जाए तो बहुत-सा पानी बच सकता है।' गांधीजी के इन शब्दों से नेहरू को एक बोधपाठ मिल गया।

प्राचीनकाल में अनावश्यक यातायात की मानसिकता नहीं थी। यान-वाहनों की प्रचुरता के बाद यात्रा के बारे में लोगों का दृष्टिकोण

काफी बदल गया। साधन-संपन्न लोग थोड़ी-सी दूर पैदल चलने में भी कठिनाई का अनुभव करते हैं। उनका प्रभाव आम आदमी पर भी पड़ा है। इससे पेट्रोल का अनावश्यक खर्च बढ़ा है और उसके साथ ही प्रदूषण भी बढ़ा है। ईंधन की कमी, दुर्घटनाओं में वृद्धि और भीड़-भाड़ आदि समस्याओं का समाधान है यात्रा का परिसीमन। यह नियम वर्तमान युग में अटपटा-सा लग सकता है, पर है बहुत महत्त्वपूर्ण। दिशापरिमाण व्रत के अंतर्गत दैनिक चर्या को व्यवस्थित करने का यह एक विशेष प्रयोग है।

मनुष्य के पास एक बड़ी संपत्ति है वाक्शक्ति। विचारों का आदान-प्रदान इसी शक्ति के बल पर होता है। अधिक बोलना, व्यर्थ की बातें करना, निंदा करना, चुगली करना आदि प्रवृत्तियां वाग्बल को घटाने वाली हैं। मौन और स्वाध्याय से वाक्शक्ति का विकास होता है। इनको वचनसिद्धि का साधन भी माना गया है। मौन और स्वाध्याय का नियमित अभ्यास करने के लिए समय का समुचित नियोजन करना भी आवश्यक है। खाने में, पहनने-ओढ़ने, साज-सज्जा, घूमने और बातें करने में कितना समय लगाना है तथा मौन, स्वाध्याय आदि में कितना? यह चिंतन ही व्यक्ति की दिनचर्या के क्रम को बदल देता है। इन नियमों को समय-प्रबंधन का उपक्रम माना जा सकता है।

धार्मिक जीवन जीने के लिए अनासक्ति का सिद्धांत बहुत उपयोगी है। विसर्जन की चेतना अनासक्ति का व्यावहारिक प्रयोग है। धार्मिक प्रवृत्तियों में समय का नियोजन संघसेवा की दिशा में प्रस्थान है। स्वच्छता का संबंध व्यक्ति की विवेक-चेतना से है और इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर भी होता है। नौ नियमों में आखिरी पांच नियमों का श्रावक के व्रतों से सीधा संबंध नहीं है, फिर भी ये बहुत उपयोगी हैं। मनुष्य अपने दिन को कैसे जीए? अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित कैसे रखे? इस विषय में जागरूक रहने वाला उसे प्रशस्त बना लेता है। प्रशस्त और अप्रशस्त दिनचर्या की दृष्टि से एक स्पष्ट वर्गीकरण किया जा सकता है–

| अप्रशस्त दिनचर्या | प्रशस्त दिनचर्या |
|---|---|
| 1. खाने की सीमा न करना। | खाद्य-संयम। |
| 2. वस्त्रों की सीमा न करना। | वस्त्र-संयम। |
| 3. पानी-बिजली का अपव्यय। | पानी-बिजली के व्यय में विवेक। |

4. अनावश्यक यात्रा करना। यात्रा का परिमाण।

5. बिना प्रयोजन बोलना। मौन का अभ्यास।

6. विकथा करना। स्वाध्याय।

7. जैसे-तैसे अर्जन करना। विसर्जन।

8. स्वार्थसाधना या आत्मरति। संघसेवा।

9. फूहड़पन। स्वच्छता।

**जीवनशैली**

**63. 'मैं जैनी हूं' जनता में धाक जमाए,**
**खोकर भी लाख, न अपनी साख गमाए।**
**श्रमणोपासक होना सौभाग्य-घड़ी है,**
**धार्मिक संस्कृति की संजीवनी जड़ी है॥**

श्रावकों को अपने जैन होने का गौरव बना रहे। वे जनता में अपने जैन होने का प्रभाव छोड़ें। जैन श्रावक की अपनी प्रतिष्ठा होती है। 'जाए लाख रहे साख'—इस कहावत के अनुसार जैन श्रावक लाखों रुपए खोकर भी अपनी साख को बचाते हैं। वे इस बात को भी समझते हैं कि श्रमणोपासक होना सौभाग्य की बात है। धार्मिक संस्कृति को जीवित रखने के लिए यह एक प्रकार की संजीवनी जड़ी है।

## भाष्य

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह दूसरों के बारे में सोचता है, अपने बारे में भी सोचता है। सोच के साथ संकल्प और जागरूकता की अपेक्षा रहती है। जागरूकता का सूत्र सतत स्मृति का सूत्र है। बौद्ध साहित्य का स्मृतिप्रस्थान ही जैनदर्शन की जागरूकता है। जैन श्रावक के लिए सतत स्मृति का प्रमुख बिंदु है उसका जैन होना। 'मैं जैन हूं', 'मैं श्रमणोपासक हूं'—यह एहसास उसके सौभाग्य और गौरव का सूचक है। इस एहसास के साथ वह जैनत्व को जीने के लिए भी संकल्पित होता है। इससे अगले चरण में वह अपने जैन होने का प्रभाव जनता पर छोड़ता है। उसके बढ़ते हुए प्रभाव से कुछ लोग ईर्ष्यालु हो उठते हैं। उस समय उनकी कड़ी कसौटी हो सकती है। कसौटी के क्षणों में कभी-कभी उसे नुकसान

भी उठाना पड़ता है, किंतु उसके सामने एक ही लक्ष्य रहता है–'जाए लाख रहे साख।'

जो व्यक्ति अर्थ को अतिरिक्त महत्त्व देता है, वह अपने चरित्र और प्रतिष्ठा को खोकर भी अर्थ की सुरक्षा करने का प्रयत्न करता है। वह वचन देकर बदल सकता है, किंतु जो व्यक्ति अपनी 'साख' को महत्त्व देता है, इज्जत को सुरक्षित रखना चाहता है, वह समय पर लाखों रुपयों का आर्थिक नुकसान उठा लेता है, पर अपनी 'साख' को नहीं जाने देता।

सेठ के कपड़े का व्यापार था। सेठ की प्रामाणिकता और नीतिमत्ता की शहर में छाप थी। किसी भी ग्राहक के साथ उसका व्यवहार छलनापूर्ण नहीं था। एक बार राजा को रेशमी वस्त्र की जरूरत पड़ी। उसने सेठ को बुलाकर पूछा–'तुम्हारी दुकान में रेशमी कपड़ा है क्या?' राजा से बात करने का पहला ही अवसर था। सेठ हड़बड़ा गया। उसके मुंह से निकल गया–'रेशमी कपड़ा तो नहीं है।' सेठ घर चला गया।

उधर कुछ व्यक्तियों ने सेठ की शिकायत करते हुए राजा से कहा– 'महाराज! सेठजी की दुकान में रेशमी कपड़े का ढेर हमने अपनी आंखों से देखा है। शायद वे आपको कपड़ा देना नहीं चाहते।' राजा को उनकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। किंतु उन्होंने बार-बार अपनी बात दोहराई तो राजा ने दूसरे दिन प्रातः सेठ की दुकान पर जांच कराने का निर्देश दे दिया।

इधर सेठ घर पहुंचा तब तक उसे याद आ गया कि दुकान में रेशमी कपड़ा होना चाहिए। उसने अपने पुत्र को बुलाकर पूछताछ की। पुत्र बोला–'दुकान में कपड़ा तो है।' सेठ ने पूछा–'कितना कपड़ा है?' पुत्र बोला–'एक लाख का माल है।' सेठ ने कहा–'सारा माल जला दो।' पुत्र सेठ का मुंह देखने लगा। सेठ ने सारी बात स्पष्ट करते हुए कहा–'बेटा! जाए लाख रहे साख। प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई तो जीना ही बेकार हो जाएगा।' पुत्र ने सेठ के निर्देश को क्रियान्वित कर दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल कुछ राजपुरुष सेठ की दुकान पर जांच के लिए आए। वहां कुछ भी नहीं मिला। राजपुरुष खाली हाथ लौट गए। राजा के पास सूचना पहुंचा दी गई। राजा ने झूठी शिकायत करने वाले व्यक्तियों पर कार्यवाही करते हुए उनकी जीभ काटने का आदेश दे दिया। यह संवाद सेठ को मिला। वह तत्काल राजा के पास पहुंचा। उसने कहा–'महाराज!

ये लोग सही हैं। मेरी दुकान में माल था। पर हड़बड़ी में मैंने मना कर दिया था।' राजा बोला–'फिर वह माल कहां गया?' सेठ ने कहा–'अपने वचन की सुरक्षा के लिए उसे जला दिया गया।' पूरा वृत्तांत सुन राजा प्रसन्न हुआ। उसने जलाए गए माल की क्षतिपूर्ति के रूप में सेठ को एक लाख रुपये देने का आदेश दिया।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो 'जाए साख रहे लाख' वाली मनोवृत्ति रखते हैं। यह दृष्टिकोण आर्थिक शुचिता में बाधक है। जैन श्रावक को ऐसी मनोदशा से बचने का लक्ष्य रखना चाहिए।

**64. श्रमणोपासक श्री तीर्थंकर की कृति है,**
**यह विश्वमान्य अनुपम धार्मिक संस्कृति है।**
**उसका विशिष्ट अवदान विधान स्मरें हम,**
**जैनी जीवनशैली संगान करें हम॥**

भगवान महावीर ने साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका रूप चार तीर्थों की स्थापना की। इस आधार पर कहा जा सकता है कि श्रमणोपासक की श्रेणी तीर्थंकरों की कृति है। यह संपूर्ण संसार में मान्यता प्राप्त धार्मिक–जैन संस्कृति है। इसके विशिष्ट अवदान और विधान को सामने रखकर हम 'जैन जीवनशैली' गीत का संगान करें।

## भाष्य

विश्व में अस्वास्थ्य से लेकर अपराध तक जितनी समस्याएं हैं, उनमें जीवनशैली का बहुत बड़ा हाथ है। इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए लाइफ-स्टाइल को चेंज करने का अभियान चलाया जा रहा है। इस विषय को लेकर जर्मनी में एक बड़ी कॉन्फ्रेंस बुलाई गई। अन्य अनेक देशों में भी जीवनशैली पर व्यापक बहस हो रही है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवनशैली बदलने का प्रश्न किसी एक व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र का प्रश्न नहीं है, यह पूरे विश्व का प्रश्न है।

सन् 1989 में 'योगक्षेम वर्ष' मनाया गया। उस वर्ष आचार्यश्री तुलसी ने जीवनशैली की समस्या पर ध्यान दिया। उन्होंने चिंतन और अन्वेषणपूर्वक नौ सूत्रों वाली जैन-जीवनशैली का निरूपण किया। जैन श्रमणोपासक के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैन तीर्थंकरों ने जिस

श्रमणोपासक श्रेणी की स्थापना की, जो विश्व की मान्य धार्मिक संस्कृति की संवाहिका बनी, उस श्रेणी के लोग समस्या-संकुल जीवन क्यों जीएं? इस प्रश्न ने आचार्यश्री के मानस को झकझोर दिया। उन्होंने आगमों के आलोक में लोकजीवन की समस्याओं को देखा, परखा और उन्हें समाहित करने वाली जीवनशैली का प्रस्तुतीकरण किया।

जीवनशैली के मुख्यतः तीन अंग हैं–शरीर, मन और भाव। शारीरिक अस्वास्थ्य, मानसिक असंतुलन और भावनात्मक स्तर पर होने वाली परेशानियों से बचने का एक ही उपाय है–जीवनशैली का बदलाव। जीवन की उसी शैली को अच्छा माना गया है जिसमें शरीर स्वस्थ हो, श्वास लयबद्ध हो, इंद्रियां कार्यक्षम हों, प्राण गतिशील हों, मन एकाग्र हो, भाव विशुद्ध हों और चेतना ऊर्ध्वमुखी हो। जैन जीवनशैली के नौ सूत्रों का निर्धारण इसी भूमिका पर किया गया है।

**(लय : संयममय जीवन हो)**

**जैनी जीवनशैली**

**जो भी अपनाए सुख पाए, शैली नई-नवेली।**
**बनती-बनती बन जाए, जन-जन की जीवनशैली॥**
**जैनी जीवनशैली॥ (ध्रुपद)**

**1. सम्यगदर्शन**

**65. अर्हत देव अकिंचन गुरुवर, धार्मिक त्रिपदी ध्याएं,**
**समय-प्रबंधन स्वास्थ्य-निबंधन, समुचित लाभ उठाएं,**
**प्रतिदिन अपना आपा परखें, धरकर हृदय हथेली॥**

**66. बदले हृदय व्यवस्था बदले, बने विधायक दृष्टि,**
**नहीं निषेधक भाव बढ़ें, यह सम्यगदर्शन सृष्टि,**
**अविवेकी अंधानुकरण की क्यों हो वृत्ति विषैली॥**

जैन श्रावक की अपनी जीवनशैली है। एक अपेक्षा से ही यह अभिनव शैली है। इसे जो अपनाता है, वह सुखी बन जाता है। आज जो जैन जीवनशैली है, वह धीरे-धीरे जन-जन की जीवनशैली बने, यह अपेक्षित है।

जैन जीवनशैली का पहला आयाम है सम्यगदर्शन। सम्यगदर्शन के आधारभूत तत्त्व तीन हैं–

देव– अर्हत

गुरु– अकिंचन साधु

धर्म– अहिंसा, संयम और तप की त्रिपदी।

जीवनशैली को व्यवस्थित करने के लिए समय का सही नियोजन आवश्यक है। समय का नियोजन शारीरिक और आध्यात्मिक–दोनों प्रकार के स्वास्थ्य का हेतु है। इसलिए इसका समुचित लाभ उठाना चाहिए। जैन श्रावक प्रतिदिन आत्मसाक्षी से अपने आपको परखते रहें–वे कहां हैं? और उन्हें कहां पहुंचना है? यह देखते रहें।

जीवनशैली को बदलने के लिए व्यक्ति का हृदय और व्यवस्था–दोनों में बदलाव जरूरी है। व्यक्ति का दृष्टिकोण विधायक बने और उसके निषेधात्मक भाव क्षीण हों। यह सब दृष्टिकोण सम्यक होने से ही संभव बन पाता है। ऐसा करके विवेकशून्य अंधानुकरण की विषाक्त वृत्ति को बदला जा सकता है।

## भाष्य

जैन श्रमणोपासक की जीवनशैली नई समाज-संरचना का ठोस आधार है। असंयम, असहिष्णुता और भोगवाद की कठिन चुनौती का मुकाबला व्रती समाज-रचना के आधार पर ही किया जा सकता है। भगवान महावीर द्वारा निरूपित श्रमणोपासक की श्रेणी का आधुनिकतम संस्करण है जैन जीवनशैली। यह ऐसी जीवनशैली है, जिसे व्यापक बनाने का प्रयास किया जाए तो जन जीवनशैली बन सकती है। इसके नौ सूत्रों में पहला सूत्र है सम्यगदर्शन।

मनुष्य का समग्र जीवन दर्शन के आधार पर चलता है। दर्शन का अर्थ है दृष्टिकोण। उसके ज्ञान और आचरण की व्याख्या इसी के आधार पर संभव है। **यादृग् दृष्टिस्तादृक् सृष्टिः**–यह कहावत किसी अनुभवी पुरुष की है, ऐसा असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है।

दृष्टिकोण एक व्यापक शब्द है। उसके अनेक रूप बन सकते हैं। दर्शन या दृष्टिकोण के लिए सम्यक्त्व शब्द भी प्रस्तुत होता है। **यथार्थतत्त्वश्रद्धा सम्यक्त्वम्**–जो तत्त्व जैसा है, उसको उसी रूप में जानने और समझने का

नाम सम्यक्त्व या सम्यगदर्शन है। तात्पर्यार्थ में माना जा सकता है कि यह सत्य के प्रति श्रद्धा की स्वीकृति है।

सम्यक्त्व का दूसरा रूप व्यावहारिक प्रतीत होता है। उस रूप का विकास लोकसंग्रह की दृष्टि से हुआ, ऐसा भी माना जा सकता है। उसके अनुसार सम्यक्त्व की परिभाषा है–

**अरहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।**
**जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं॥**

अर्हत मेरे देव हैं, जीवन भर पांच महाव्रतधारी साधु मेरे गुरु हैं और अर्हतों ने जो प्ररूपणा की है, वही तत्त्व है–धर्म है, यह सम्यक्त्व का स्वरूप है। मैंने इस सम्यक्त्व को स्वीकार किया है।

श्रावक का जीवन रागात्मक होता है। राग पर वीरागता का अंकुश न हो तो जीवनशैली स्वस्थ नहीं हो सकती। अर्हत वीतराग होते हैं। साधु वीतरागता के साधक होते हैं। धर्म वीतरागता का मार्ग है। इस परिप्रेक्ष्य में देव, गुरु और धर्म की प्रतिपत्ति राग को नियंत्रित करने का एक प्रयोग बन जाता है। श्रमणोपासक का लक्ष्य होता है वीतराग बनना। अर्हत वीतराग होते हैं। उन्हें वह अपना आदर्श मानता है। गुरु उसे वीतराग बनने की प्रक्रिया सिखाते हैं। उन्हें वह अपना मार्गदर्शक मानता है। धर्म वीतरागता की साधना है। उसका वह मार्ग के रूप में उपयोग करता है।

सम्यगदर्शन के साथ समय-प्रबंधन की बात आचार्यश्री तुलसी का सर्वथा नया चिंतन है। इससे एक सूक्ष्म रहस्य खुलता है। समय का नियोजन ठीक न हो तो दृष्टि का सम्यक रहना कठिन है। कोई व्यक्ति नौ बजे का समय देकर बारह बजे आता है या काम करता है तो वह लोगों की नजर में झूठा प्रमाणित होता है। ऐसे व्यक्ति का लोग भरोसा नहीं करते। वह दूसरों के दृष्टिकोण को भी मिथ्या बना देता है, इसलिए सम्यगदर्शन के साथ समय-प्रबंधन की संयोजना की गई है।

समय-प्रबंधन की बात स्वास्थ्य से भी संबंध रखती है। सब काम समय पर करने वाला व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ रहता है। स्वस्थ शरीर में मन की प्रसन्नता स्वाभाविक है। मानसिक प्रसत्ति आध्यात्मिक विकास में निमित्त बनती है। संपूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति में समय की नियमितता एक प्रमुख कारण है, इस सचाई से आंख नहीं मूंदनी चाहिए।

कुछ लोग व्यवस्था-परिवर्तन के सिद्धांत पर बल देते हैं और कुछ लोग हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं। सम्यगदर्शन का सूत्र है दोनों का समन्वय। जब तक ये दोनों अलग-अलग रहेंगे, जीवनशैली सही नहीं बन पाएगी। इस दृष्टि से हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था-परिवर्तन–इन दोनों का संयोग आवश्यक है।

निषेधात्मक भाव जीवन को सही रूप से समझने और जीने में बाधक बनते हैं। निषेधात्मक भावों की प्रबलता दृष्टिकोण को मिथ्या बनाती है। जैन साहित्य की भाषा में हिंसा, असत्य आदि अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। विधायक दृष्टिकोण को पुष्ट करके इन भावों से बचा जा सकता है।

समाज में अंधविश्वास और अंधानुकरण की प्रवृत्ति भी चलती है। इस प्रवृत्ति के मूल में भी मिथ्या दृष्टिकोण का प्रभाव काम करता है। सम्यगदर्शन पुष्ट होने से अंधानुकरण की वृत्ति से भी छुटकारा मिल जाता है। इस समग्र विस्तार का सार इतना ही है कि सत्य के प्रति श्रद्धा-यह सम्यगदर्शन का केंद्र है। अन्य सारी बातें उसकी परिधि में हैं।

## 2. अनेकांत

**67. अनेकांत सिद्धांत सामने टिके न कोई विग्रह,**
**प्रेक्षाध्यान-प्रयोगों से आवेश वृत्ति का निग्रह,**
**सोच बने सापेक्ष लचीली, क्यों अनमनी अकेली॥**

जैन जीवनशैली का दूसरा आयाम है अनेकांत। अनेकांत का सिद्धांत सामने हो तो वहां किसी प्रकार का विग्रह नहीं टिक पाता। विग्रह का प्रमुख कारण है व्यक्ति का आवेश। उसे दूर करने में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग बहुत उपयोगी हो सकते हैं। व्यक्ति का चिंतन सापेक्ष और लचीला रहे तो उसमें निराशा और संकीर्णता को अवकाश ही नहीं रहेगा।

## भाष्य

मनुष्य सामुदायिक जीवन जीता है। उसके लिए सापेक्षता, समन्वय, सहिष्णुता, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व आदि आवश्यक होते हैं। निरपेक्ष या एकांगी दृष्टिकोण से आग्रह पैदा होता है। आग्रह का परिणाम है कलह। कलह से बचने का अमोघ उपाय है अनेकांत। अनेकांत जैनदर्शन का मौलिक सिद्धांत है। इसके अनुसार हर तत्त्व, व्यक्ति या वस्तु अनेक धर्मों

का समवाय है। अनेक दृष्टियों से तत्त्व का विश्लेषण किया जाए तो आग्रह का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

अनेकांत का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा आग्रही मनोवृत्ति को बदला जा सकता है और कलह का शमन किया जा सकता है। सवाल एक ही है कि यह सब हो कैसे? अनेकांत दर्शन और वीतरागता–दोनों साथ-साथ चलने वाले तत्त्व हैं। राग-द्वेष प्रबल हों तो अनेकांत जीवनशैली का अंग नहीं बन सकता। राग-द्वेष उपशांत हों, कषाय शांत हो तो अनेकांत स्वयं फलित हो जाता है। जिस व्यक्ति ने अनेकांत का हार्द समझ लिया, उसके कषाय का शमन हो गया। जिसके कषाय का शमन हो गया, उसके जीवन में अनेकांत आ गया। इसी बात को आचार्यश्री ने जीवनशैली के दूसरे सूत्र में प्रतिपादित किया है।

सामूहिक जीवन में कलह का एक बड़ा कारण है आवेश। आवेश का निग्रह करने के लिए प्रेक्षाध्यान के प्रयोग की अनिवार्यता है। यह भी अनेकांत के साथ नई बात जोड़ी गई है। सामान्यतः अनेकांत का दार्शनिक रूप ही अधिक मुखर है। यहां उसका प्रायोगिक रूप प्रस्तुत किया गया है। कषाय का शमन न हो तो अनेकांतवादी भी आपस में झगड़ते रहते हैं।

अनेकांतवादी दृष्टिकोण का सहज फलित है सामुदायिक चेतना का विकास। यह चेतना सापेक्षता की भूमिका पर ही पल्लवित हो सकती है। जहां सापेक्षता नहीं है, वहां व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बढ़ती है। उससे अकेलेपन का अनुभव होता है और व्यक्ति कुंठित या अनमना बन जाता है।

किसान खेती करता है। खेती कैसे होती है? कारणों की मीमांसा की जाए तो एक लंबी सूची बन जाती है। इस विषय में आचार्यश्री एक पद्य सुनाया करते थे–

कोई कहै खेती होत बरसे सघन घन,
दूजो कहै खेती भूमि सेती निपजती है।
तीजो कहै बीज सेती, चौथो कहै हल सेती,
हाली सेती पांचवों बतावै सो ही छती है।
छट्ठो कहै बैल सेती, सातवों निषेधै यार,
खेती भाग सेती ऐसी हिये दरसती है।
एक बात मानैं यांमें सो ही मिथ्यादृष्टी जीव,
सात बात मानैं बो ही साचो जैनमती है॥

अनंत धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करने वाले अभिप्राय का नाम नय है। एक वस्तु के बारे में जितने विचार हो सकते हैं, वे सब नय कहलाते हैं। नय का उपयोग एक-एक धर्म को समझने के लिए किया जाता है। अनेकांत सब धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है, पर तत्त्व का प्रतिपादन करते समय मुख्यता और गौणता की विवक्षा को अस्वीकार नहीं करता। ऊपर निदर्शित खेती का दृष्टांत इसी सचाई को प्रकट करता है।

## 3. अहिंसा

**68. बचें अनावश्यक हिंसा से, अनाक्रमण की वृत्ति,**
**आत्म-हनन या भ्रूण-हनन की क्यों हो क्रूर प्रवृत्ति,**
**विकसित हो कारुण्य चेतना, अपनी सजग सहेली॥**

जैन जीवनशैली का तीसरा आयाम है अहिंसा। उसका विकास करने के लिए श्रावक अनावश्यक हिंसा से बचते रहें, अपनी ओर से किसी पर आक्रमण न करें तथा आत्महत्या और भ्रूणहत्या जैसे क्रूर कार्यों से दूर रहें। उनके हृदय में करुणा की चेतना का विकास हो। क्योंकि वही उनकी जागरूक सहेली बन सकती है।

## भाष्य

हिंसा और जीवन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता। जीवनयापन के लिए हिंसा की अपरिहार्यता और अहिंसाप्रधान जीवनशैली यह एक विसंगति-सी प्रतीत होती है। इसे विसंगति मानकर मनुष्य हिंसा पर ही ठहर जाएगा तो उसकी प्रवृत्ति अधिक घातक हो जाएगी। उस स्थिति में हिंसा से बचने का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। इस दृष्टि से अहिंसा पर गंभीरता से विचार करने वाले जैन आचार्यों ने हिंसा के अल्पीकरण का मार्ग सुझाया। अध्यात्म के क्षेत्र में इसे एक व्यावहारिक प्रयोग माना जा सकता है।

जीवन की तीन शैलियां प्रचलित हैं—अनारंभ, अल्पारंभ और महारंभ। आरंभ का अर्थ है हिंसा। विश्व की अनेक समस्याओं के प्रमुख स्रोत दो हैं—हिंसा और परिग्रह। जहां हिंसा के रास्ते चारों ओर से खुले हैं। हिंसा के लिए कोई रुकावट नहीं है, वह महारंभी जीवनशैली है। जहां हिंसा का सर्वथा परिहार है, जीवनयापन के लिए भी हिंसा की छूट नहीं है, वह

अनारंभ जीवनशैली है। महारंभी जीवनशैली स्वस्थ समाज के लिए काम्य नहीं हो सकती। अनारंभी जीवनशैली सामाजिक प्राणी के लिए संभव नहीं हो सकती। बीच का रास्ता है–अल्पारंभ का। अल्पारंभ का अर्थ है–हिंसा का अल्पीकरण।

- हिंसा के अल्पीकरण का पहला प्रयोग है–अनावश्यक हिंसा का वर्जन।
- हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है–आक्रामक वृत्ति का परित्याग।
- हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है–आत्महत्या का परित्याग।
- हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है–भ्रूणहत्या का परित्याग।

प्राचीनकाल में भ्रूणहत्या या गर्भपात का इस रूप में प्रचलन न भी हो, पर हिंसा के ये सभी रूप त्याज्य माने गए हैं। अहिंसक जीवनशैली में उक्त चारों बिंदुओं का बहुत महत्त्व है।

अनावश्यक हिंसा से बचने की जीवनशैली के लिए महात्मा गांधी को आदर्श माना जा सकता है। वे प्रतिदिन दतौन करते थे। उसके लिए वृक्ष की पूरी टहनी को तोड़ना उन्हें रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने ऐसा करने वाले सहकर्मी की ओर अंगुलिनिर्देश कर उसे तत्काल सावधान कर दिया। पलंग को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रसंग आता तो वे उसे घसीटकर नहीं ले जाने देते। वे इस बात के लिए जागरूक थे कि पलंग घसीटने से बिना मतलब किसी जीव का वध न हो जाए।

अनाक्रमण की वृत्ति भी हिंसा के अल्पीकरण की दिशा में एक प्रस्थान है। आक्रमण केवल युद्ध के संदर्भ में ही नहीं होता, जीवन के अनेक पहलू इससे प्रभावित होते हैं। वैचारिक आक्रमण भी घातक होता है। साहित्य और पत्र-पात्रिकाओं पर भी हमले होते रहते हैं। अनावश्यक रूप में किए जाने वाले इन हमलों से बचना अहिंसक जीवनशैली का ही एक अंग है।

आत्महत्या के बढ़ते हुए आंकड़े बताते हैं कि आत्महत्या करने वालों का अनुपात बढ़ा है। बौद्धिक और आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोग भी इस समस्या के शिकार होते हैं। अच्छे-अच्छे वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेते हैं। यह तनावपूर्ण युग की देन है। थोड़ी-सी प्रतिकूलता आदमी के मन में

प्रतिक्रिया को जन्म देती है और उसकी परिणति आत्महत्या के रूप में होती है। अहिंसा के विचारकों की दृष्टि में परहत्या जितना पाप है, आत्महत्या उससे कम पाप नहीं है।

भ्रूणहत्या अर्थप्रधान युग की देन है। विगत दो-तीन दशकों से गर्भजल परीक्षण की प्रक्रिया से यह पता लगा लिया जाता है कि गर्भ में पलने वाला शिशु नर है या मादा। गर्भस्थ शिशु की जांच का उद्देश्य था क्रोमोसोम संबंधी खराबी की जानकारी करना ताकि उसे विकलांगता या आनुवंशिक बीमारी से अभिशप्त जीवन से छुटकारा दिलाया जा सके, किंतु किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने पर भी केवल लड़की होने के कारण भ्रूण की हत्या करना सर्वथा अमानवीय दृष्टिकोण है। यदि कन्याभ्रूणों को समाप्त करने का प्रतिशत इसी क्रम से बढ़ता रहा तो अगली सदी में स्त्री और पुरुष का संतुलन गड़बड़ा जाएगा। देशभर के चिकित्सकीय संस्थानों की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार अप्रैल 1995 से मार्च 1996 तक कुल एक लाख चौबीस हजार नौ सौ पैंसठ गर्भपात करवाए गए हैं। उस रिपोर्ट के अतिरिक्त अज्ञात रूप में कराए जाने वाले गर्भपातों की संख्या पांच लाख छियासठ हजार चार सौ इक्यावन तक पहुंच जाती है। ये आंकड़े देश के आठ हजार सात सौ बाईस गर्भपात केंद्रों की सूचना के आधार पर आए हैं।

भ्रूणहत्या क्रूरताप्रधान जीवनशैली का प्रतीक है। जैन जीवनशैली करुणाप्रधान है। उसमें ऐसी हत्या को अवकाश नहीं मिल सकता। कानून के अनुसार किसी मनुष्य की हत्या वैध नहीं है। एक मनुष्य का हत्यारा अपराधी कहलाता है। उस पर मुकदमा चलाए जाने का प्रावधान है। एक भ्रूण को मारना और एक मनुष्य को मारना—इसमें कोई अंतर नहीं है। एक अपराधी मनुष्य की हत्या भी विहित नहीं है, ऐसी स्थिति में निरपराध भ्रूण की हत्या को वैध कैसे माना जा सकता है? मानवाधिकार आयोग को भी इस विषय में कुछ सोचना चाहिए और भ्रूणहत्या को दी गई कानूनन वैधता को एक चुनौती के रूप में लेना चाहिए।

## 4. समण संस्कृति

**69. सम शम श्रम का संगम, सदा श्रमण संस्कृति का रास्ता,**
**प्रवंचना का क्यों प्रपंच, अपने पौरुष में आस्था,**
**कड़वाहट की बात न, सब को मीठी गुड़ की भेली॥**

समानता, शांति और श्रमशीलता का संगम श्रमण संस्कृति का मार्ग है। जिस व्यक्ति का अपने पुरुषार्थ में विश्वास होता है, वह कभी प्रवंचना/धोखाधड़ी के प्रपंच में नहीं जा सकता। इसमें किसी प्रकार की कटुता को अवकाश नहीं है। गुड़ की भेली सबको मीठी लगती है। इसी प्रकार श्रमण संस्कृति का मार्ग सबके लिए श्रेयस्कर है।

## भाष्य

भारत में प्राचीनकाल से दो धाराएं प्रवाहित रही हैं–ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति। संस्कृति का निर्माण किसी एक धारा से नहीं होता। जिस समय जितनी धाराएं प्रवहमान रहती हैं, उन सबके संगम से संस्कृति का निर्माण होता है। फिर भी जिस काल में जिस धारा में मुख्य रूप से जिन तत्त्वों का समावेश होता है, उनके आधार पर उसकी पहचान हो जाती है।

श्रमण शब्द संस्कृत का है। इसका मूल शब्द है समण। समण की जीवनशैली स्वस्थ समाज के लिए आज भी बहुत उपादेय है। वर्तमान चिंतन में तीन बातों पर अधिक बल दिया जा रहा है–समानता का विकास, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और श्रम की प्रतिष्ठा। ये तीनों श्रमण संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। इनको स्वस्थ जीवन का आधार माना गया है। इसी कारण हमारे विद्वान आचार्यों ने समण शब्द की संरचना में उक्त तीनों तत्त्वों का समावेश किया है।

श्रमण संस्कृति की मुख्य दो धाराएं हैं–जैन और बौद्ध। समता या समानता जैन आचार शास्त्र का मूल तत्त्व है। लौकिक दृष्टि आर्थिक स्तर पर समानता की बात करती है। उसके साथ अन्य स्तरों पर भी समानता के विकास की चर्चा चलती रहती है। सर्वाधिक व्यापक तत्त्व है आत्मा की समानता। बाहर के भेद गौण हैं। मूलतः समानता का सिद्धांत स्वीकृत हो जाए तो उसके फलित में विषमता नहीं हो सकती।

उपशम भाव शांति का जनक है। श्रमण संस्कृति में उपशम की साधना को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। किसी समय साधु के लिए कहा गया था–**उवसमसारं खु सामण्णं।** आज के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है–**उवसमसारो खु ववहारो।** मनुष्य का व्यवहार उपशम-

प्रधान बने, यह वर्तमान की अपेक्षा है। शांतिपूर्ण और मृदुतापूर्ण व्यवहार आध्यात्मिक विकास के लिए जितना आवश्यक है, अच्छा जीवन जीने के लिए भी उतना ही जरूरी है।

कोई भी समाज तपस्या और पुरुषार्थ के बिना प्रगति नहीं कर सकता। श्रम उक्त दोनों तत्त्वों को गर्भित कर लेता है। पुरुषार्थी व्यक्ति भी तपस्या व कष्टसहिष्णुता के अभाव में सफल नहीं हो सकता। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमनिष्ठा के संस्कारों से ही संभव है। श्रमशीलता के अभाव में न तो शारीरिक स्वास्थ्य सुरक्षित रह सकता है और न मानसिक प्रसन्नता बनी रह सकती है। यांत्रिक जीवनशैली में शरीरश्रम का पल्ला काफी हलका हो गया है, पर जैन जीवनशैली श्रमनिरपेक्ष नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से इसके नौ सूत्रों में समण संस्कृति को स्थान दिया गया है।

### 5. इच्छा-परिमाण

**70. इच्छा का परिमाण भोग-संग्रह का सीमाकरणं,**
**हिंसाजन्य प्रसाधन-सामग्री का अस्वीकरणं,**
**अर्जन साथ विसर्जन हो, यह अनासक्ति अलबेली॥**

जैन जीवनशैली का पांचवां आयाम है इच्छा का परिमाण। इससे व्यक्तिगत भोग और संग्रह की सीमा होती है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन-सामग्री का परिहार होता है और अर्जन के साथ विसर्जन की मनोवृत्ति का विकास होता है। इच्छा का परिमाण अनासक्ति का अनूठा उदाहरण है।

## भाष्य

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैश्विक स्तर पर कुछ समस्याएं बढ़ रही हैं। उनमें निम्नांकित समस्याएं उपभोक्ता मूल्यों से जुड़ी हुई हैं–

- पदार्थ के भोग की सीमा का अभाव।
- पदार्थ के संग्रह की सीमा का अभाव।
- प्रसाधन-सामग्री के प्रति प्रवर्धमान आकर्षण।
- विसर्जन-शून्य अर्जन।
- पदार्थ के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति।

इन समस्याओं का समाधान हर स्तर पर खोजा जा रहा है। धार्मिक दृष्टि से इनका समाधान खोजने वाले संयम या व्रत के सिद्धांत को सामने रखते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं को देखने वाले अमीर और गरीब की बढ़ती हुई खाई को पाटना चाहते हैं। आर्थिक दृष्टि से संपन्न लोगों में विलासिता की मनोवृत्ति उन्हें अतिरिक्त भोग के लिए उकसाती है। किसी समय एक पंखे के नीचे परिवार के पांच-सात सदस्य आराम से सो जाते थे। आज व्यक्तिगत पंखे की व्यवस्था होने पर भी अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती। इस मानसिकता को संतोष देने के लिए कूलर और वातानुकूलन पर ध्यान केंद्रित होता है। एक समय था परिवार में एक वाहन यातायात की सुविधा के लिए पर्याप्त माना जाता था। अब हर व्यक्ति के लिए स्वतंत्र वाहन की जरूरत बढ़ती जा रही है।

जीवनयापन के लिए पदार्थ का भोग अनिवार्य हो सकता है, पर पदार्थ का भोग जीवन का साध्य नहीं हो सकता। पदार्थ, जो कि जीवन चलाने का साधन है, उसे साध्य मान लेने से जीवन हाशिए में चला गया है। जीवन को अपना स्थान दिलाने के लिए पदार्थ के मुक्तभोग और असीम संग्रह की मनोवृत्ति को नियंत्रित करना होगा। यह काम किसी कानून या बलप्रयोग से नहीं हो सकता। इसके लिए मनुष्य के मन को प्रशिक्षित करने की अपेक्षा है।

मनुष्य सौंदर्य का उपासक है। सौंदर्य के लिए प्रसाधनों का उपयोग प्राचीनकाल में भी होता था, पर उनका स्रोत प्रकृति थी। प्रसाधन के लिए जड़ी-बूटियों, फलों तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री को काम में लिया जाता था। आधुनिक युग के लोग प्राकृतिक संसाधनों को पिछड़ेपन का प्रतीक मानते हैं। अपने शौक पूरे करने की होड़ में वे इन्सानियत को भी भूल जाते हैं। इत्र, सेंट आदि सुगंधित द्रव्यों के निर्माण में प्रतिवर्ष हजारों 'बिज्जुओं' को मौत के घाट उतारा जाता है। 'लोरिस' बंदरों के जिगर और आंखों को पीसकर सौन्दर्य-प्रसाधन बनाए जाते हैं। लोशन की संवेदनशीलता को परखने के लिए 'गिनी पिग' की खाल पर प्रयोग किया जाता है। सुगंधित सेंट बानने के लिए 'गंध मार्जारों' को भयंकर यातना दी जाती है। 'बीवर मूषक' के प्राणों की बलि उससे प्राप्त होने वाले तेल और चमड़े के लिए दी जाती है। वह एक रोएंदार जंतु है। उसके चमड़े से कोट आदि परिधान बनाए जाते हैं। 'कराकुल भेड़ों' की चिकनी और

रोएंदार चमड़ी के लिए उनको जिस क्रूरता से मारा जाता है, उससे मनुष्यता कलंकित हो रही है।

जीवन चलाने के लिए अर्थ का अर्जन आवश्यक है, पर अर्थार्जन के अनुचित तौर-तरीके मनुष्य की असीम तृष्णा के सूचक हैं। अर्जन के साथ केवल संग्रह की मनोवृत्ति प्रशस्त नहीं है। अर्थ का प्रवाह चलता रहे, अर्जन के साथ विसर्जन होता रहे तो उसमें विकृति की संभावना कम रहती है। विसर्जन का सूत्र अनासक्ति का सूत्र है। अर्थ के प्रति तीव्र आसक्ति अनर्थ का कारण बनती है। उससे बचने के लिए विसर्जन की चेतना का निर्माण आवश्यक है।

एक ओर कहा जाता है कि इच्छाओं का विस्तार करो। क्योंकि किसी महत्त्वाकांक्षी योजना के बिना विकास नहीं हो सकता। दूसरी ओर समस्याओं के निराकरण हेतु इच्छा और उपभोग को सीमित करने की बात आती है। यह विरोधाभास की स्थिति है। उक्त विरोधी स्थितियों में संगति बिठाने वाला सूत्र है व्यक्तिगत संग्रह और व्यक्तिगत भोग की सीमा। इससे न विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है और न असीम संग्रह एवं असीम भोगजनित समस्याओं को उभरने का अवसर मिलता है।

## 6. सम्यक आजीविका

**71. आय-नियामक दुविधाशामक सूत्र जैन जीवन का,**
**लोक-घृणित व्यवसाय-विवर्जन लक्ष्य शुद्ध साधन का,**
**प्रवाहपाती प्रदूषणों से, क्यों हो गंगा मैली?॥**

जैन जीवनशैली का छठा आयाम है सम्यक आजीविका। यह आय के स्रोतों का नियमन करता है, अनियंत्रित स्रोतों के कारण पैदा होने वाली दुविधा से बचाता है, लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसायों से दूर रखता है और व्यापार में भी साधन-शुद्धि के लक्ष्य को प्रमुखता देता है। जिन उद्योग-धंधों से प्रदूषण बढ़ता हो, उनसे बचा जाए तो गंगा के मलिन होने का खतरा नहीं रहेगा।

## भाष्य

आजीविका का प्रश्न एक शाश्वत प्रश्न है। इसमें काल और क्षेत्र का कोई व्यवधान नहीं है। हर स्तर के व्यक्ति आजीविका के प्रति जागरूक

रहते हैं। वह जागरूकता साधन-शुद्धि के लिए नहीं, अर्थ की उपलब्धि के लिए रहती है। वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ या अर्थ से उपलब्ध होने वाले पदार्थ को केंद्र में रखने का युग है। इस युग की जीवनशैली के निर्धारण में भी अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण का हाथ है। विश्व व्यवस्था का आधार अर्थ है। ऐसी स्थिति में अर्थ प्राप्ति के स्रोतों की स्वच्छता पर ध्यान देना आवश्यक है। इस संदर्भ में महावीर ने चर्चा की, बुद्ध ने चर्चा की और मनुस्मृति आदि ग्रंथों में भी विचार किया गया।

आजीविका का सीधा संबंध जीवनयापन के साथ है, किंतु मनुष्य की आकांक्षाएं इतनी बढ़ गई हैं कि जीवन चलाने भर का लक्ष्य लेकर कोई आदमी चल ही नहीं पाता। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मनोवृत्ति ने मनुष्य को बाजार में लाकर खड़ा कर दिया। बाजार की प्रतिष्ठा, नैतिकता और सामाजिक स्वच्छता–इन तीन बातों को सामने रखकर ही जैन जीवनशैली में सम्यक आजीविका का प्रश्न उठाया गया है। जहां अर्जन के तौर-तरीके सही नहीं हैं, वहां न बाजार की प्रतिष्ठा सुरक्षित रह पाती है, न विश्वास जमता है और न शुद्ध चीज मिल पाती है।

बाजार की प्रतिष्ठा गिरने का एक प्रमुख कारण है अनैतिकता। जहां नैतिकता विखण्डित होती है, वहां समाज में विकृतियों का प्रवेश होने लगता है। एक विकृति दूसरी विकृति को जन्म देती है। इससे विकृतियों की परंपरा आगे सरकती है। इसलिए आजीविका-शुद्धि का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आर्थिक अशुचिता की जड़ है इच्छाओं का विस्तार। इच्छाएं जितनी अधिक होंगी, अर्जन के लिए उतनी ही अधिक दौड़धूप करनी होगी। अर्जित वैभव को संगृहीत करने की मनोवृत्ति पनपेगी। अधिक संग्रह अधिक भोग का प्रेरणास्रोत बनेगा। इस प्रकार यह एक पूरा सर्कल है, जो व्यक्ति को गलत तरीके से अर्थार्जन की प्रवृत्ति में झोंककर उसके वैशिष्ट्य का हरण कर लेता है।

चिंतन का एक छोर यह है कि ईमानदारी से आजीविका नहीं पाई जा सकती। आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ में खड़े व्यक्ति को ऐसी अनुभूति हो सकती है, किंतु चिन्तन का दूसरा कोण यह भी है कि ईमानदारी से करोड़पति या अरबपति बनने का लक्ष्य भले ही पूरा न हो,

पर जीवन अच्छे ढंग से जीया जा सकता है। अधिक धन संचय करने के लिए लोग अशुद्ध साधन काम में लेते हैं। अमीर और गरीब के बीच की खाई का एक प्रमुख कारण यह है। कुछ लोगों ने गलत तरीकों से धन कमाकर पूरे समाज को बीमार बना दिया। उनकी शानोशौकत देखकर अपरिपक्व मानसिकता वाली पीढ़ी उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जाती है। इससे अपराध बढ़ते हैं।

इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि अर्थ की जगह अर्थ ही काम आएगा। विचार की बात इतनी-सी है कि अस्मिता को बेचकर अर्थ की जरूरत को पूरा करना कहां तक उचित है? मनुष्य की अस्मिता विवेकशील मनुष्य होकर जीने में सुरक्षित रहेगी या मात्र उपभोक्ता बनने में? वह पूंजी के अतिरिक्त संग्रह को ही सफलता का मानदण्ड मानता है या उसके पास कोई जीवनदृष्टि भी है? जब तक मनुष्य की वृत्तियों पर अध्यात्म का नियन्त्रण नहीं होगा, अर्थकेंद्रित विश्वव्यवस्था से होने वाले खतरों की संभावना बनी रहेगी। आज उग्रवाद या आतंकवाद की समस्या क्यों है? कुछ लोगों की अतिसम्पन्नता ही उनके प्रति आक्रोश पैदा कर रही है। डकैती, अपहरण, हत्या आदि घटनाएं तो उसकी परिणति है, प्रतिक्रिया है। इन सब समस्याओं से बचने और समाज को स्वस्थ रखने का सुंदरतम उपाय है सम्यक आजीविका।

सम्यक आजीविका का सिद्धांत स्वस्थ समाज का दर्शन है। इसके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं–

धोखाधड़ी वाले व्यवसाय।

लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसाय।

पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले व्यवसाय।

बेमेल मिलावट, नकली को असली बताना, दिखाना कुछ और देना कुछ, झूठे दस्तावेज आदि धोखाधड़ी के अंतर्गत आते हैं। मांस, शराब, अंडे आदि का व्यापार, लड़कियों व बच्चों को बेचना, राज्यनिषिद्ध मादक वस्तुओं का आयात-निर्यात, अधिक ब्याज लेना आदि लोक में गर्हित माने जाने वाले व्यवसाय हैं। जंगलों की कटाई, धरती का अत्यधिक दोहन, कारखानों का कचरा आदि नदियों में बहाना इत्यादि कार्य पर्यावरण

को असंतुलित करने वाले हैं। नदी के पानी में गलत तत्त्वों का मिश्रण होने से जनता के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव होता है। जैन जीवनशैली व्यवसाय में साधन-शुद्धि की प्रेरणा देती है। यह महावीर के अपरिग्रह दर्शन के आधार पर ही संभव है। इसमें व्यावसायिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का समाधान सहज रूप में निहित है।

## 7. सम्यक् संस्कार

**72. सम्यक संस्कारों के संरक्षण का कार्य सुकर हो,**
**पर्व-उत्सवों में व्यवहारों में जैनत्व मुखर हो,**
**संस्कारी आलेख चित्र सज्जा घर-घर रसरेली॥**

जैन जीवनशैली का सातवां आयाम है—सम्यक संस्कार। संस्कारों की सुरक्षा का काम सरल करने के कुछ उपाय निम्न निर्दिष्ट हैं—

- पर्वों और उत्सवों के अवसर पर ऐसी कार्यपद्धति का विकास हो, जिसमें जैनत्व बोले।
- व्यवहार में ऐसे प्रयोग किए जाएं, जिनसे जैनत्व को उभरने का मौका मिले।
- वाक्य-लेखन, चित्र-निर्माण, गृहसज्जा आदि में जैनत्व को प्रधानता दी जाए।

इन उपायों को काम में लेने से घर-घर में सम्यक संस्कारों का प्रवाह बह सकता है।

## भाष्य

वैदिक परंपरा के अनुसार मनुष्य के जीवन में सोलह संस्कारों को महत्त्वपूर्ण माना गया है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमंत, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारंभ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अंत्येष्टि। जैन शास्त्रों में उक्त संस्कारों का कोई वर्णन नहीं मिलता। फिर भी इनमें से अनेक संस्कार जैन परिवारों में मान्य हैं। जैनों की सामाजिक परंपरा ने भी उनको मान्य कर लिया है। इस विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श किया जाए तो लगता है कि जैनों के सामने धार्मिक दृष्टि से प्रखर संघर्ष की स्थिति रही थी। उस समय

अपना अस्तित्व बचाने के लिए उन्हें अन्य धर्मों के साथ सामंजस्य बिठाना पड़ा। इसके सिवाय उनके पास कोई चारा भी नहीं था। आचार्य सोमदेव सूरि ने इस विषय में अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए कहा–

**सर्व एव हि जैनानां सम्मतः लौकिको विधिः।**
**यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥**

जैन लोग सब प्रकार की लौकिक विधियों को मान्य कर सकते हैं, पर उनमें दो शर्तें हैं–

- सम्यक्त्व की सुरक्षा
- व्रतों की पुष्टि

कुछ ऐसी परंपराएं होती हैं, जिन्हें लोक-व्यवहार मानकर निभाया जाए तो सम्यक्त्व की क्षति नहीं होती। किंतु ऐसी बातें भी हैं, जिनसे श्रावक के व्रतों को पौषण नहीं मिलता। उन प्रवृत्तियों से बचने के लिए 'जैन संस्कार-विधि' का प्रयोग अपेक्षित है। दीपावली आदि विशेष पर्वों को मनाना हो, जन्म, विवाह आदि उत्सवों का प्रसंग हो अथवा मिलन एवं पत्र-व्यवहार का प्रसंग हो, उस समय जैन संस्कारों के अनुरूप कार्य किया जाए तो वे संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुष्ट होते रहते हैं।

समाज में बहुत लोग ऐसे हैं, जो जीवन को हलका बनाना चाहते हैं, पर उसकी प्रक्रिया नहीं जानते या नहीं अपनाते। केवल सोचने या चाहने मात्र से जीवन हलका नहीं बन सकता। 'अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद्' ने एक सुचिंतित प्रक्रिया के रूप में 'जैन संस्कार-विधि' का निर्धारण किया है। उसने नामकरण, विवाह, अंत्येष्टि आदि कुछ संस्कारों के अवसर पर उपयोगी 'जैन-संस्कार-विधि' नाम से एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की है। दीपावली पर्व को भगवान महावीर के परिनिर्वाण दिवस के रूप में मनाने की विधि भी उक्त पुस्तिका में संकलित है। समाज-निर्माण की दिशा में यह एक मनोवैज्ञानिक उपक्रम है। इसको व्यापक रूप दिया जा सके तो सम्यक संस्कारों की पौध हरी-भरी रह सकती है।

व्यक्ति के मन को प्रभावित करने वाले अनेक घटकों में एक घटक है घर का परिवेश। घर में उपासना कक्ष हो, साहित्य हो, संस्कृतिसूचक वाक्य अंकित हों, तीर्थंकरों और आचार्यों के चित्र हों तो हर आगंतुक को बिना बताए ही यह बोध हो जाता है कि अमुक घर किसी जैन का

है। प्राचीनकाल में जैनों की एक पहचान थी कि वे रात्रिभोजन नहीं करते। वर्तमान परिस्थितियों में यह पहचान खो गई है। उपासना-विधि और संस्कार-विधि—ये दो ऐसे माध्यम हैं, जिनके बल पर जैनत्व को अभिव्यक्ति दी जा सकती है। बच्चों के संस्कार-निर्माण में भी इन माध्यमों की सक्रिय भूमिका है। इसलिए जैन जीवनशैली में एक सूत्र रखा गया है सम्यक संस्कार।

### 8. आहार-शुद्धि व व्यसन-मुक्ति

**73. आमिष मद्य नशीले द्रव्यों का संपर्क कभी क्यों?**
**व्यसन-मुक्त चर्या श्रावक की, इसमें तर्क कभी क्यों?**
**खाने-पीने का संयम, क्यों उलझे स्वास्थ्य-पहेली॥**

जैन जीवनशैली का आठवां आयाम है आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्ति। श्रावक के लिए मांस, शराब आदि अभक्ष्य तथा नशीले पदार्थों का सेवन और संपर्क ही वर्जित है। जैन श्रावक की चर्या सहज रूप में व्यसन-मुक्त होती है। इसमें कभी किसी तर्क को अवकाश ही नहीं है। खान-पान का संयम सबसे पहले आवश्यक है। खाद्य-संयम सध जाए तो स्वास्थ्य की पहेली सहज रूप में सुलझ सकती है।

## भाष्य

भारतीय साहित्य में आहार-शुद्धि पर पूरा बल दिया गया है। हर धर्म इस विषय में लिखता रहा है और कहता रहा है। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक आहार के बारे में भी भारतीय मनीषियों ने काफी लिखा है। प्रस्तुत संदर्भ में मद्य, मांस और अंडों को सामने रखकर आहार के बारे में चिंतन किया गया है। चिंतन का दूसरा हिस्सा नशीले द्रव्यों से संबंधित है। संक्षेप में कहा जाए तो जैन जीवनशैली के आठवें सूत्र का प्रतिपाद्य है आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्ति।

स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए आहार-शुद्धि आवश्यक है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य में वृद्धि के लिए आहार-शुद्धि की भूमिका है। संवेगों को नियंत्रित रखने के लिए आहार-शुद्धि अपेक्षित है। अपराधों से बचने के लिए आहार-शुद्धि जरूरी है। व्यसन-मुक्ति के साथ भी ये सब उद्देश्य जुड़े हुए हैं। केवल धार्मिक दृष्टि से ही

नहीं, पारिवारिक और सामाजिक स्वस्थता के लिए भी आहार-शुद्धि एवं व्यसन-मुक्ति के सिद्धांत पर विचार करना आवश्यक लगता है।

इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो वैदिक परंपरा में मद्य और मांस को वर्जित माना गया है। श्रमण परंपरा में बौद्ध धर्म ने मादक पदार्थों का निषेध किया है, पर मांस को निषिद्ध नहीं माना। जैनधर्म के अनुसार मांसाहार को निषिद्ध माना गया है। यह भगवान महावीर का प्रमुख अवदान है। उन्होंने साधु के लिए 'अमद्यमांसाशी' शब्द का प्रयोग कर उसे भोजन के बारे में पूरी तरह से सजग कर दिया। श्रावकाचार में भी उन्होंने मद्य-मांस के उपयोग की छूट नहीं दी।

आचार्यश्री ने 'श्रावक-संबोध' में यह संकेत दिया है कि श्रावक की चर्या सब प्रकार से व्यसनमुक्त रहे। उसके खान-पान में शराब, मांस और अंडों का समावेश हो ही नहीं, इनका मिश्रण भी नहीं होना चाहिए। पान पराग, गुटखा, चुटकी, जरदा, अफीम, मारिजुआना, हेरोइन, हशीश आदि नशीले पदार्थों का संपर्क भी सर्वथा वर्जित रहना चाहिए। चिकित्सा विज्ञान ने मांस और अंडों के सेवन से होने वाले रोगों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। इंग्लैंड के प्रोफेसर हैगे ने अपनी पुस्तक 'यूरिक एसिड और रोगों का कारण' में लिखा है–'मांस और अंडे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, श्वास, अनिद्रा, मधुमेह, नेत्रविकार आदि बीमारियां हो सकती हैं।' यह भी कहा जाता है कि पोल्ट्री फार्म में मुर्गियों को घातक औषधियां दी जाती हैं। उनका काफी अंश अंडों में चला जाता है। उनके सेवन से बौद्धिक और भावनात्मक विकास रुक जाता है। इसी प्रकार मादक और नशीले पदार्थों के सेवन से व्यक्ति अनेक प्रकार की मुसीबतों में फंस जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में आचार्यश्री ने एक नई दृष्टि और दी है। उन्होंने आहार-शुद्धि और व्यसन-मुक्ति के साथ खान-पान के संयम पर भी बल दिया है। इसे एक प्रकार से आहार-शुद्धि का अंग माना गया है। संयम-साधना का अंग माना गया है। प्रासंगिक फल के रूप में वह स्वास्थ्य का भी साधक है। वर्तमान जीवनशैली में स्वास्थ्य के आधार पर भी कुछ परिवर्तन किए जा रहे हैं। सदा मांसाहारी रहने वाले पश्चिम में आज भोजन के बारे में बहुत बड़ी क्रांति आ गई है। यूरोप और अमेरिका में बड़ी

संख्या में लोग मांसाहार छोड़ रहे हैं। क्यों? उनके सामने अहं प्रश्न है स्वास्थ्य का। जैन श्रावक के लिए आहार-शुद्धि और आहार-संयम की बात नैतिकता, अध्यात्म या धर्म का पहलू है वैसे ही स्वास्थ्य का भी एक प्रमुख पहलू है। इस ओर उचित ध्यान दिया जाए तो स्वास्थ्य की पहेली उलझने की नौबत टाली जा सकती है।

## 9. साधर्मिक वात्सल्य

**74. शैली का आयाम आखिरी साधर्मिक वत्सलता,**
**भ्रातृभाव के अभिसिंचन से संघ-कल्पतरु फलता,**
**दक्षिण का इतिवृत्त श्रुतिश्रुत, दिल को छूता डेली॥**

जैन जीवनशैली का आखिरी आयाम है साधर्मिक वात्सल्य। एक धर्म में श्रद्धा रखने वाले लोगों के प्रति भाईचारे की भावना को सिंचन देने से संघ रूप कल्पवृक्ष फलता-फूलता है। इस विषय में कानों सुना दक्षिण भारत के जैनों का इतिहास हमेशा दिल को छूता रहता है।

## भाष्य

श्रावक जीवन की आधारशिला है सम्यगदर्शन। सम्यगदर्शन के अभाव में एक श्रावक श्रोता हो सकता है, पर उसकी अस्थियों और मज्जा तक धर्म की श्रद्धा नहीं पहुंच पाती। सम्यगदर्शन के आठ आचार हैं– निःशंका, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वत्सलता और प्रभावना। इनमें प्रथम चार तात्त्विक हैं और शेष चार व्यावहारिक हैं।

वीतराग-वाणी पर दृढ़ श्रद्धा का नाम है निःशंका। वीतराग दर्शन से भिन्न दर्शन के प्रति मानसिक और वाचिक अनाकांक्षा का नाम है निष्कांक्षा। धार्मिक क्रिया के फल में किसी भी प्रकार के संदेह का अभाव है निर्विचिकित्सा। वीतराग दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की आकर्षक गतिविधियों से भी अप्रभावित रहना अमूढदृष्टि है। इनका संबंध व्यक्ति की आस्था और विचारों के साथ है। इस दृष्टि से इनको तात्त्विक माना गया है।

साधर्मिक व्यक्ति की विशेषताओं का खुले मन से गुणगान करना उपबृंहण है। धर्म के क्षेत्र में अस्थिर साधर्मिक को प्रेरणा देकर पुनः धर्म या

संयम में स्थिर करना स्थिरीकरण है। वत्सलता का अर्थ है साधर्मिकों के प्रति आत्मीयतापूर्ण व्यवहार। प्रभावना का अर्थ है जिनशासन या धर्मसंघ के चतुर्मुखी विकास के कार्यों में संलग्न रहना। इन चारों में साधर्मिक वात्सल्य को जैन जीवनशैली का नौवां सूत्र माना गया है।

साधर्मिक वात्सल्य जैनों का पारिभाषिक शब्द है। युगीन संदर्भ में इसे भाईचारे का रूप दिया जा सकता है। समानधर्मी व्यक्ति के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर है साधर्मिक वात्सल्य। यह संघीय विकास का प्रमुख आधार है। दक्षिण भारत में जैनधर्म के विस्तार का मुख्य कारण साधर्मिक वात्सल्य रहा है। दक्षिण का इतिहास बताता है कि एक समय वहां जैनों की संख्या में अप्रत्याशित रूप में बढ़ोतरी हुई। वहां के किसानों ने व्यापक रूप में जैनधर्म स्वीकार किया।

दक्षिण के जैन लोगों ने चार प्रकार के दान द्वारा सबका दिल जीत लिया। उनका दान उनके अहं की पुष्टि से नहीं, विशुद्ध भाईचारे की भावना से अभिप्रेरित था। उन्होंने जीवन की मूलभूत या प्राथमिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर दान की व्यवस्था की। उन्होंने अन्नदान के नाम पर हर व्यक्ति को आजीविका प्राप्त कराने का प्रयास किया। औषधिदान के द्वारा चिकित्सा सुलभ कराई। ज्ञानदान द्वारा शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। अभयदान सबके आश्वासन का निमित्त बना।

मनुष्य को अच्छा जीवन जीने के लिए भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा और चिकित्सा की अपेक्षा रहती है। इन सबकी उपलब्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सुरक्षा का आश्वासन। मनुष्य जिस समाज या राष्ट्र में जीता है, निश्चिंत होकर जीना चाहता है। शरीर की सुरक्षा के लिए सरकार 'कमाण्डो' की व्यवस्था दे सकती है, पर आश्वासन नहीं बन सकती। कहीं कुछ भी अनुकूल-प्रतिकूल होगा तो हम तुम्हारे साथ हैं, तुम्हें घबराने की जरूरत नहीं है, तुम अकेले नहीं हो, पहले तुम और पीछे हम–इस प्रकार के आश्वस्तिमूलक वचन व्यक्ति को बांधकर रखते हैं। सहानुभूति और सहयोग का आश्वासन ही एक प्रकार से अभयदान है। सामाजिकता और साधर्मिकता के स्तर पर उक्त चारों दान साधर्मिक वात्सल्य के प्रायोगिक रूप हैं।

**75. नव-आयामी शुभ परिणामी शैली सतत प्रवाहित,**
**त्रैकालिक तात्कालिक विविध समस्या स्वयं समाहित,**
**'तुलसी' वर विवेक-जागरणा, पाई चित्राबेली॥**

नौ आयामों वाली और शुभ फल लाने वाली यह जैन जीवनशैली निरंतर गतिशील रहे। इससे मनुष्य की शाश्वत और सामयिक विविध प्रकार की समस्याएं सुलझती हैं। मेरी दृष्टि में यह चित्राबेली–एक ऐसी बेल, जिसके स्पर्श से पदार्थ अखूट हो जाता है–की उपलब्धि है। इससे मनुष्य के सद्विवेक की जागरणा होती रहे, यही काम्य है।

## भाष्य

आज पूरे विश्व में 'लाइफ स्टाइल' के बारे में चिंता या चिंतन किया जा रहा है। संसार में जो बदलाव आएगा, उससे जैन लोग भी अप्रभावित नहीं रह पाएंगे। ऐसी स्थिति में 'जैन जीवनशैली' का यह नया संस्करण क्यों? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पद्य की दूसरी पंक्ति में निहित है। मनुष्य अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। कुछ समस्याएं शाश्वत होती हैं। उनका अस्तित्व तीनों कालों में रहता है। कुछ समस्याएं सामयिक होती हैं। ये समय-समय पर बदलती रहती हैं। मिथ्यादर्शन, निषेधात्मक दृष्टिकोण, आग्रह, विग्रह, आवेश, क्रूरता, विषमता, आसक्ति, असंयम आदि समस्याएं हर काल में मनुष्य को परेशान करती हैं। कुछ समस्याएं सदा रहती हैं, किंतु किसी काल विशेष में उनका रूप उत्कट बन जाता है। उनको तात्कालिक समस्याओं के रूप में भी देखा जा सकता है। अनास्था, अंधानुकरण की वृत्ति, भ्रूणहत्या, संग्रह की मनोवृत्ति, श्रम की उपेक्षा, हिंसाजन्य प्रसाधन सामग्री, आतंकवाद आदि युगीन समस्याएं हैं। जैन जीवनशैली में उक्त दोनों प्रकार की समस्याओं के समाधान निहित हैं।

आचार्यश्री ने जैन जीवनशैली को चित्रा नामक लता की उपमा दी है। यह ऐसी लता है, जिसकी तुलना अक्षीणमहानस लब्धि से की जा सकती है। यह लब्धि जिसके पास होती है, वह थोड़े-से खाद्य पदार्थों से हजारों व्यक्तियों को भोजन करा देता है। फिर भी वे पदार्थ ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इसी प्रकार चित्रा बेल के संपर्क से पदार्थ अखूट हो जाता है। इस विषय में एक कहानी प्रचलित है–

ग्रामीण व्यक्ति जंगल में गया। उसने एक बेल उखाड़ी। उसकी इंडूणी (खींप, सिणिया आदि घास के सींकों से बनाई हुई इंडूणी, आश्रयी) बनाई। उस पर घी का घड़ा रखा। घी बेचने के लिए वह शहर की ओर जा रहा था। मार्ग में कोई जानकार व्यक्ति मिला। उसने चित्रा बेल की इंडूणी देखी। वह घी खरीदने के लिए तैयार हो गया। पर उसका आग्रह था कि वह इंडूणी के साथ ही घी का घड़ा खरीदेगा। ग्रामीण के मन में शंका हुई कि यह इतना आग्रह क्यों करता है? उसने घी बेचने से मना कर दिया। कुछ समय बाद ग्रामीण व्यक्ति बोला–'सेठ साहब! आप मुझे यह बता दीजिए कि इस इंडूणी में क्या करामात है?' सेठ ने कहा–'मूर्ख! तू जानता नहीं है। यह चित्रा बेल है। इस पर कोई भी पात्र रखकर उसमें डाली हुई वस्तु निकालते जाओ, वह कभी खाली नहीं होगा।' ग्रामीण इस जानकारी से बहुत खुश हुआ।

जैन जीवनशैली भी एक चामत्कारिक जीवनशैली है। इसे अपनाने वाले व्यक्ति स्वस्थ समाज-संरचना की इकाई बन सकते हैं।

# श्रावक-संबोध
## (अपर भाग)

# श्रावक-संबोध

## (अपर भाग)

**तत्त्व जिज्ञासा**

**(दोहा)**

**1. श्रावक अपने आप से, करे सतत आह्वान।**
**मैं क्या हूं? मैं कौन हूं? क्या मेरी पहचान?**

**(सहनाणी)**

**2. मेरी गति जाति काय क्या है?**
**कति इंद्रिय-शक्ति-समासृत हूं?**
**पर्याप्ति प्राण कितने शरीर?**
**कितने कर्मों से आवृत हूं?**
**किस गुणस्थान में मैं स्थित हूं?**
**किस आत्मा में? किन भावों में?**
**दृष्टित्रय ध्यान-चतुष्क, षट्क-**
**लेश्या के प्रबल प्रभावों में?**

**(दोहा)**

**3. ऐसे ऊहापोह में, श्रावक हों संलग्न।**
**स्वस्थ चेतना में सतत, निश्चित रहें निमग्न।।**

श्रावक अपने आपसे निरंतर आह्वान करे, पूछे–'मैं क्या हूं? कौन हूं? और मेरी पहचान क्या है?'

श्रावक द्वारा अपने आपसे पूछे जाने वाले कुछ प्रश्न निम्न निर्दिष्ट हो सकते हैं–

- चार गतियों में मेरी गति कौन-सी है?
- पांच जातियों में मेरी जाति क्या है?
- छह काय में मेरी काय कौन-सी है?
- मैं कितनी इंद्रियों की शक्ति से युक्त हूं?

- मुझमें पर्याप्तियां कितनी हैं?
- मुझमें प्राण कितने हैं?
- मुझमें शरीर कितने हैं?
- मैं कितने कर्मों से आवृत हूं?
- मैं किस गुणस्थान में अवस्थित हूं?
- मैं किस आत्म-पर्याय में हूं?
- मैं किन भावों में हूं?
- तीन दृष्टियों में से मुझमें कौन-सी दृष्टि है?
- चार ध्यान में से मुझमें कितने ध्यान हैं?
- छह लेश्याओं में से मैं किस लेश्या के प्रभाव में हूं?
- मुझमें कितनी लेश्याएं हैं?

दूसरे पद्य में उठाई गई जिज्ञासाओं को सामने रखकर श्रावक ऊहापोह-चिंतन-मनन में संलग्न रहें। ऐसा करने वाले श्रावक निश्चित रूप से निरंतर अपनी स्वस्थ चेतना में निमग्न रहते हैं।

## भाष्य

मानव इस सृष्टि का महत्त्वपूर्ण प्राणी है। मानव-जीवन के मुख्यतः दो अंग हैं—अस्तित्व और व्यक्तित्व। अस्तित्व शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हो सकता है—सत्ता और स्वरूप। सत्ता की दृष्टि से विचार किया जाए तो अन्य प्राणियों की तरह ही मानव का अस्तित्व है। स्वरूप की व्याख्या उसे अन्य प्राणियों से अलग पहचान देती है। वर्तमान के विचारणीय प्रश्नों में मानव का स्वरूप भी एक बहुचर्चित विषय रहा है। इस संदर्भ में शरीर-संरचना, मस्तिष्क, चेतना, पारिपार्श्विक वातावरण आदि अनेक दृष्टिकोणों से विचार करने की जरूरत है। प्रस्तुत प्रकरण में ग्रंथकार ने चौदह बिंदुओं को सामने रखकर विचार किया है।

जैनदर्शन में मानव के स्वरूप को विविध दृष्टियों से विश्लेषित किया गया है। उनमें उसकी उत्पत्ति, अवस्थिति, शरीर-संरचना, चेतना की अभिव्यक्ति, पौद्गलिकशक्ति, प्राणशक्ति, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर,

कर्मशरीर या संस्कार, आध्यात्मिक विकास, चेतना की परिणति, दृष्टिकोण, विचारप्रवाह, भावधारा आदि प्रमुख हैं। जब तक इनके बारे में प्राथमिक ज्ञान नहीं होता, व्यक्ति अपने स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सकता। स्वरूप-निर्धारण बिना विकास की यात्रा संभव नहीं है। इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि श्रावक बनने से पहले स्वरूप का बोध होना आवश्यक है।

श्रावक बनने का फलित है व्रती होना। व्रती होने के लिए भोगों से विरत होना जरूरी है। भोगों से विरक्ति ज्ञानपूर्वक ही हो सकती है। इस बात को ध्यान में रखकर आगमों में बताया गया है–'जो जीव और अजीव को सम्यक प्रकार से जानता है, वही संयम को जान पाता है। जो जीव और अजीव के स्वरूप को समझता है, वही जीव की बहुविध गतियों को जान पाता है। जीवों की बहुविध गतियों को जानने वाला पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष के बारे में जान सकता है। जो पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जानता है, वही देवों और मनुष्यों के भोगों से विरक्त हो पाता है।' इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रतों की भूमिका पर आरोहण करने के लिए मनुष्य को अपने स्वरूप पर विचार करना चाहिए। आध्यात्मिक और भावनात्मक स्तर पर परिवर्तन होता रहता है, इस दृष्टि से मानव के स्वरूप को कोई निश्चित अवधारणा नहीं दी जा सकती। फिर भी सामान्य भूमिका पर खड़ा श्रावक उक्त बिंदुओं को ध्यान में रखकर अपने स्वरूप का निर्धारण कर सकता है। एक श्रावक की पहचान के घटक तत्त्व निम्नलिखित हैं–

1. गति – मनुष्य गति
2. जाति – पंचेंद्रिय
3. काय – त्रसकाय
4. इन्द्रिय – पांच
5. पर्याप्ति – छह
6. प्राण – दस
7. शरीर तीन–औदारिक, तैजस, कार्मण
8. कर्म – आठ

9. गुणस्थान – पांचवां–देशविरति गुणस्थान

10. आत्मा – सात–चारित्र आत्मा को छोड़कर

11. भाव तीन–औदयिक, क्षायोपशमिक[1], पारिणामिक

12. दृष्टि एक–सम्यगदृष्टि

13. ध्यान तीन–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान

14. लेश्या – छह–कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल

उक्त बिंदुओं पर ऊहापोह करने वाला व्यक्ति आध्यात्मिक सचाइयों का ज्ञान कर सकता है। ज्ञान का अगला चरण है–आचरण। आचरण को उन्नत बनाने के लिए चेतना को स्वस्थ रखना आवश्यक है। स्वस्थ चेतना का अर्थ है–वैराग्य की चेतना। वैराग्य चेतना का जागरण भोग-विरति की पृष्ठभूमि है। भोग-विरति की मानसिकता से ही अच्छा जीवन जीने की दिशा में प्रस्थान हो सकता है।

### प्रश्न-सप्तक

**(वंदना आनंद)**

**4. प्रश्न-सप्तक हर उपासक के लिए अधिगम्य है,**
**किए गौतम ने विनय से वीर-चरण प्रणम्य हैं।**
**भव्य है कि अभव्य? सम्यगदृष्टि-मिथ्यादृष्टि है?**
**है परित्त भव-भ्रमण, अपरित्त भव की सृष्टि है?**

**5. सुलभ-दुर्लभ-बोधि सनतकुमार सुरपति हे प्रभो!**
**सही आराधक-विराधक चरिम या अचरिम विभो!**
**शुक्लपक्षी-कृष्णपक्षी? प्रश्न की अंतिम कड़ी,**
**समाहित हो खिली गौतम-दिल-कमल की पांखड़ी।**
**प्रश्न प्रकरणगत सहेतुक समाधान महान है,**
**'भगवती' तीजे शतक श्री वीर का अवदान है॥ (युग्मम्)**

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर के चरणों में विनयपूर्वक प्रणत होकर कुछ प्रश्न पूछे। वे प्रश्न प्रत्येक श्रावक के लिए समझने योग्य हैं। श्री गौतम बोले–'भंते! कृपा कर बताएं कि तीसरे स्वर्ग का इंद्र सनत्कुमार

1. भव्य है या अभव्य?

2. सम्यगदृष्टि है या मिथ्यादृष्टि?

3. परीतसंसारी है या अपरीतसंसारी?

4. सुलभबोधि है या दुर्लभबोधि?

5. आराधक है या विराधक?

6. चरम है या अचरम?

7. शुक्लपक्षी है या कृष्णपक्षी?

उक्त प्रश्न देवेंद्र सनत्कुमार के घटना-प्रसंग से संबंधित हैं। भगवान ने उन सबका समाधान वैसा होने के हेतुओं का उल्लेख करते हुए दिया है। भगवती सूत्र के तीसरे शतक (3/72, 73) का यह वर्णन श्रावक के तात्त्विक ज्ञान को बढ़ाने वाला भगवान महावीर का एक अवदान है।

## भाष्य

प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसके स्वरूप और व्यवहार में कुछ ऐसी बातें भी होती हैं, जो उसे अन्य जनों से पृथक् करती हैं। पृथक्करण में हेतुभूत विलक्षणता का नाम है व्यक्तित्व। व्यक्ति के शरीर, मन और चरित्र इन सबका समावेश उसके व्यक्तित्व में हो जाता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति को संवेदनाएं, कल्पनाएं, स्मृति, बुद्धि, विवेक आदि मानसिक शक्तियां व्यक्तित्व का आधार बनती हैं। मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व को मापने के कुछ पेरामीटर हैं। मूलतः व्यक्तित्व के दो रूप हैं—अंतर्मुखता और बहिर्मुखता। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—अंतर्मुखी और बहिर्मुखी। अंतर्मुखी व्यक्ति आत्मलीन होकर रहना पसंद करते हैं। वे चेतन मन से स्वार्थी होकर भी अवचेतन में दूसरों की भलाई का लक्ष्य रखते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति पदार्थाभिमुखी चेतना में जीते हैं। उन्हें प्रशंसा में आनंद की अनुभूति होती है। इसलिए वे उन कार्यों की खोज में रहते हैं, जो उन्हें प्रशंसा दिला सके।

व्यक्तित्व का संबंध केवल मनुष्य के साथ ही नहीं है, संसार के सभी प्राणियों का अपना व्यक्तित्व होता है। स्वर्ग के देव भी इसमें अपवाद नहीं हैं। सनत्कुमार तीसरे स्वर्ग का इंद्र है। गणधर गौतम के मन में सनत्कुमार के व्यक्तित्व को लेकर कुछ जिज्ञासाएं उभरीं। वे भगवान महावीर के उपपात में पहुंचे। उन्होंने भगवान के सामने अपने सारे प्रश्न उपस्थित कर दिए।

उनके प्रश्न जैनदर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्दों में हैं। उनकी संक्षिप्त परिभाषाएं यहां प्रस्तुत हैं–

- भव्य –जिस व्यक्ति में मोक्ष जाने की योग्यता हो।
- अभव्य –जिसमें मोक्ष जाने की योग्यता न हो।
- सम्यगदृष्टि –जो तत्त्व या सत्य के प्रति आस्थावान हो, जिसके मिथ्यात्व मोह का परिष्कार हो चुका हो।
- मिथ्यादृष्टि –जिसकी तत्त्वश्रद्धा विपरीत हो।
- परीतसंसारी –जिसके संसार की सीमा हो गई हो।
- अपरीतसंसारी –जिसके संसार की कोई सीमा न हो।
- सुलभबोधि –जिसको सम्यक्त्व की उपलब्धि आसानी से होने की संभावना हो।
- दुर्लभबोधि –जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति मुश्किल से हो।
- आराधक –जिसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना दोषमुक्त हो।
- विराधक –जिसने साधना में लगने वाले दोषों की आलोचना न की हो।
- चरम –जो अपने वर्तमान भव में दूसरी बार जन्म न ले, जो उसी भव में मोक्षगामी हो।
- अचरम –जिसका वर्तमान भव में पुनः जन्म न हो, जो वर्तमान भव में मोक्ष जाने वाला न हो।
- शुक्लपक्षी –जो कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्त जितने काल में मोक्ष जाने वाला हो।
- कृष्णपक्षी –जिसके संसार में रहने का समय अर्ध पुद्गलपरावर्त से अधिक हो।
- पुद्गलपरावर्त –एक जीव को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से औदारिक आदि सातों वर्गणाओं के पुद्गलों को क्रमशः या व्युत्क्रम से काम में लेने में जितना समय लगता है, वह एक पुद्गलपरावर्त कहलाता है।

भगवान ने गणधर गौतम की जिज्ञासाओं को समाहित करते हुए कहा–

1. देवेंद्र सनत्कुमार भव्य है, अभव्य नहीं है।

2. सम्यगदृष्टि है, मिथ्यादृष्टि नहीं है।

3. परीतसंसारी है, अपरीतसंसारी नहीं है।

4. सुलभबोधि है, दुर्लभबोधि नहीं है।

5. आराधक है, विराधक नहीं है।

6. चरम है, अचरम नहीं है।

भगवती सूत्र के तीसरे शतक (3/72, 73) में महावीर-गौतम के संवाद में उक्त छह प्रश्न आए हैं। ग्रंथकार ने इनके साथ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और जोड़कर प्रश्नों की संख्या सात कर दी। वह प्रश्न भी इसी कोटि का है, इसलिए अस्वाभाविक जैसा नहीं लगता। उस प्रश्न की भाषा यह है–

7. **प्रश्न**–देवेन्द्र सनत्कुमार कृष्णपक्षी है या शुक्लपक्षी?

**उत्तर**–देवेन्द्र सनत्कुमार शुक्लपक्षी है, कृष्णपक्षी नहीं है।

गणधर गौतम अपने प्रश्नों के उत्तर पाकर समाहित हुए, पर उनके मन में एक नई जिज्ञासा पैदा हो गई। उन्होंने पूछा–'भंते! आपके कथनानुसार देवेन्द्र सनत्कुमार भव्य, सम्यगदृष्टि, परीतसंसारी, सुलभबोधि, आराधक और चरम है। मैं जानना चाहता हूं कि इसकी इन अर्हताओं का हेतु क्या है?' भगवान बोले–'गौतम! देवेन्द्र सनत्कुमार साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ चतुष्टय का हित चाहता है, सुख चाहता है, पथ्य–दुःख का निवारण चाहता है। वह उसके प्रति अनुकंपित है, उसके निःश्रेयस की चिंता करने वाला है। उसके हित, सुख और निःश्रेयस के लिए सदा जागरूक है। इसी कारण उसमें उपर्युक्त अर्हताओं का विकास हुआ है।'

प्रश्न हो सकता है कि गणधर गौतम के मन में देवेन्द्र सनत्कुमार के बारे में ही इतनी जिज्ञासाएं क्यों हुईं? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पद्य में ही उपलब्ध है। यद्यपि सीधे शब्दों में वहां कुछ भी नहीं है, किंतु 'प्रश्न प्रकरणगत सहेतुक'–इन शब्दों के द्वारा स्वयं ग्रंथकार ने सूचना दे दी है कि भगवती सूत्र के तीसरे शतक में तामली बालतपस्वी का पूरा प्रकरण

है। तामली तापस मृत्यु के बाद प्रथम स्वर्ग का इन्द्र बना। प्रथम और दूसरे स्वर्ग के इंद्रों के बीच विवाद उपस्थित होने पर उन्होंने तीसरे स्वर्ग के इंद्र सनत्कुमार की स्मृति की। देवेन्द्र सनत्कुमार ने वहां उपस्थित होकर उनका विवाद सुलझाया। इस प्रसंग को सुनने पर गणधर गौतम के मन में प्रश्न पैदा हुए और भगवान ने उनका समाधान किया।

### अनेकान्त

**6. 'अस्ति-नास्ति' 'अनित्य-नित्य' 'अनेक-एक' विकल्प हैं,**
**'सम-विषम' या 'वाच्य और अवाच्य' भी अविकल्प हैं।**
**यों विरोधी युगल से स्याद्वाद का आस्वाद लें,**
**अनेकांत-स्वरूप का अवबोध अप्रतिवाद लें।**
**चतुर्भंगी 'सादि-सांत' 'अनाद्यनंत' स्वयं गढ़ें,**
**द्रव्य क्षेत्र सकाल भाव चतुष्टयी प्रतिपद पढ़ें॥**

जैनदर्शन अनेकांत का दर्शन है। एक ही वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों को स्वीकार करने वाले सिद्धांत का नाम अनेकांत है। उस सिद्धांत के निरूपण की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सम-विषम और वाच्य-अवाच्य—ये एक वस्तु में निश्चित रूप से पाए जाने वाले विकल्प हैं। इन विरोधी युगलों को समझकर स्याद्वाद का स्वाद चखा जा सकता है और अनेकांत के स्वरूप का निर्विवाद रूप में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्भंगी के द्वारा भी वस्तु का अवबोध किया जाता है। सादि-सांत, सादि-अनंत, अनादि-सांत और अनादि-अनंत—यह चतुर्भंगी है। इसको निम्ननिर्दिष्ट भाषा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. आदि सहित—अंत सहित 2. आदि सहित—अंत रहित,

3. आदि रहित—अंत सहित 4. आदि रहित—अंत रहित।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये भी वस्तुबोध की चार दृष्टियां हैं। प्रत्येक पदार्थ के संदर्भ में इनका अनुचिंतन उपयोगी है।

## भाष्य

अस्तित्व-बोध और व्यक्तित्व की पहचान के बाद श्रावक का दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत पद्य में गर्भित

है। वैसे दृष्टिकोण भी उसके व्यक्तित्व का ही एक अंग है। एकांगी या आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण कुंठित मानसिकता का सूचक है। अनेकान्त जैनदर्शन का मौलिक सिद्धांत है। एक वस्तु में अनेक धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार करना ही अनेकांत है। यह प्रत्येक वस्तु को अनेक विरोधी और अविरोधी धर्मों का समवाय मानता है। दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से इसका महत्त्व है। आचार्य सिद्धसेन ने अनेकांत की व्यावहारिक उपयोगिता स्वीकार करते हुए उसे नमस्कार किया है–

**जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।**
**तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥**

संसार के एक मात्र गुरु उस अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार है, जिसके बिना लोक के किसी व्यवहार का प्रवर्तन भी संभव नहीं है।

विरोधी विचार वाले व्यक्ति और राजनीतिक दल आमने-सामने बैठकर विचार-विमर्श करते हैं, यह अनेकांत का प्रयोग है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों, सामाजिक संगठनों, परिवारों और धर्म-संप्रदायों में सामंजस्य स्थापित करने में अनेकांत की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकती है। एकांगी आग्रह तनाव का जनक है। तनाव से मुक्त होने और रहने में भी अनेकांत की बहुत उपयोगिता है।

अस्ति-नास्ति, अनित्य-नित्य, अनेक-एक, सम-विषम और वाच्य-अवाच्य–इन पांच विरोधी युगलों का यहां उल्लेख हुआ है। ग्रंथकार ने इनके माध्यम से अनेक विरोधी युगलों के सहअस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है। जिस समय उसका अस्तित्व है, उसी समय पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उसका नास्तित्व है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा नित्य और एक है। पर्याय की अपेक्षा से वह अनित्य और अनेक बन जाता है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से ही एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ के साथ समानता है। द्रव्य तत्त्व को गौण कर दिया जाए तो हर पदार्थ में विपरीत धर्म दृष्टिगत होते हैं। किसी भी पदार्थ के एक धर्म को लेकर प्रतिपादन करना हो तो वह वाच्य-वाणी का विषय हो जाएगा। किंतु अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन करने के प्रसंग में वह अवाच्य बन जाएगा। इस प्रकार विरोधी युगलों के निरूपण का काम स्याद्वाद के द्वारा ही हो सकता है।

जैन आगमों में अनेक प्रकार की चतुर्भंगियों का उल्लेख मिलता है। उनका निर्माण करने में भी अनेकांत दृष्टि का उपयोग करना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रसंग में दो भंगों का स्पष्ट निर्देश करते हुए चतुर्भंगी के निर्माण का संकेत किया गया है। वह इस प्रकार है–

1. सादिसांत–जिसकी आदि भी हो और अंत भी हो।
2. सादिअनंत–जिसकी आदि हो, पर अंत न हो।
3. अनादिसांत–जिसकी आदि न हो, पर अंत हो।
4. अनाद्यनंत–जिसकी न आदि हो और न जिसका अंत हो।

अनेकान्त की चार प्रायोगिक दृष्टियां हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने वस्तु को समझने के लिए स्पेश-क्षेत्र और टाइम-काल इन दो दृष्टियों का उपयोग किया। भगवान महावीर ने वस्तु-बोध के लिए चार दृष्टियों का निरूपण किया है। इनके आधार पर जड़ और चेतन सब प्रकार के पदार्थों का सम्यक अवबोध किया जा सकता है।

विरोधी युगल, चतुर्भंगी और दृष्टिचतुष्टयी–इन सबका मूल आधार अनेकांत है। यहां अनेकांत की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। इसे विशद रूप में समझकर व्यवहार के धरातल पर इसका उपयोग अनेक समस्याओं को समाहित कर सकता है।

**7. प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय, पर मूल में ध्रुव तत्त्व है,**
**'उप्पण्णे विगमे धुवे वा' त्रिपदिका का सत्त्व है।**
**द्रव्य गुण पर्याय-परिणति-प्रक्रिया जो सीख ले,**
**प्रकृति का विज्ञान, श्रावक-ज्ञान की वनिका फले॥**

प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश होता रहता है। पर उसके मूल में जो ध्रौव्य है, वह शाश्वत है। **उप्पण्णे इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा**'–इस त्रिपदिका का यही सार है।

प्रत्येक द्रव्य में गुण और पर्याय के परिणमन की प्रक्रिया चालू रहती है। उसे समझ लिया जाए तो द्रव्य की प्रकृति का विज्ञान संभव है और श्रावक के ज्ञान की वाटिका फलित हो सकती है।

# भाष्य

भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष साधना कर केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान के आलोक में संसार के स्थूल और सूक्ष्म, निकटवर्ती और दूरवर्ती सब पदार्थ प्रकाशित हो गए। सत्य का साक्षात्कार होने के बाद भगवान ने देशना दी। गणधर गौतम ने तीन निषद्या–प्रणिपातपूर्वक की गई पृच्छा से महावीर-वाणी का ग्रहण कर चौदह पूर्वों का निर्माण किया। गणधर गौतम के तीन प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने तीन पदों का व्याकरण किया। वे पद हैं–उत्पन्न, विगम और ध्रुव। इन तीन पदों को त्रिपदी कहा जाता है। उत्पन्न का अर्थ है उत्पादधर्मा और विगम का अर्थ है विनाशधर्मा। संसार में जितने पदार्थ हैं, उनमें उत्पन्न और विनष्ट होने का सहज स्वभाव है। उत्पाद और विनाश की यह प्रक्रिया ध्रुवता से जुड़ी हुई है। ध्रुव का अर्थ है स्थिर या शाश्वत। हर पदार्थ अपने स्वरूप की दृष्टि से शाश्वत होता है। उत्पाद और विनाश उसके पर्याय हैं। पर्याय बदलते रहते हैं, पर मूल द्रव्य स्थिर रहता है।

जैनदर्शन के अनुसार गुण और पर्याय के आधारभूत तत्त्व को द्रव्य माना गया है। गुण वस्तु के साथ रहने वाला उसका स्वाभाविक धर्म है और पर्याय परिवर्तनशील धर्म है। द्रव्य, गुण और पर्यायों के परिणमन का सिद्धांत समझने वाला श्रावक ही सृष्टि का विज्ञान समझ सकता है। जैनतत्त्वविद्या का विशेषज्ञ बनने के लिए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की त्रिपदी तथा द्रव्य, गुण और पर्याय की त्रिपदी का गंभीर ज्ञान आवश्यक है। इसी के आधार पर श्रावक के तत्त्वज्ञान की वाटिका हरी-भरी रह सकती है।

**8. चक्र उद्भव-मरण का, पर सदा शाश्वत जीव है,**
**स्वर्ण कंकण मुद्रिका का उदाहरण सजीव है।**
**हर विरोधी युगल का सापेक्ष सहअस्तित्व है,**
**प्रमुखता या गौणता ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है॥**

जन्म और मरण का चक्र चलता रहता है, फिर भी जीव सदा शाश्वत है। इस सचाई को समझने के लिए सोने का सजीव उदाहरण हमारे सामने है। सोने के कंगन को तोड़कर अंगूठी बनाई जाती है। इसमें अंगूठी का उद्भव और कंगन का विनाश होता है, पर सोना अपने रूप में स्थिर रहता है।

जितने विरोधी युगल हैं, उन सबका अपेक्षाभेद से सहअस्तित्व है। उनमें एक धर्म की प्रमुखता और अन्य धर्मों की गौणता के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व, पदार्थ का अस्तित्व बनता है।

## भाष्य

जीव एक शाश्वत तत्त्व है। उसकी सत्ता त्रैकालिक है। वह हर काल में जीव ही रहता है। फिर भी उसकी समस्याएं बदलती रहती हैं। बदलाव का सबसे बड़ा उदाहरण है जन्म और मृत्यु। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है। यह उसका उद्‌भव है। जन्म लेने वाला हर प्राणी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होता है। यह उसका तिरोभाव है। मृत्यु के बाद वह फिर जन्म ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया का फलित यह है कि जन्म से पहले और मृत्यु के बाद भी जीव की सत्ता विद्यमान रहती है। जीव द्रव्य है, वह शाश्वत है। जन्म और मरण उसके पर्याय हैं। वे बदलते रहते हैं।

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को समझाने के लिए ग्रंथकार ने सोने का उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति ने सोने का कंगन बनवाया। कंगन पुराना हो गया तो उसने कंगन को तुड़वाकर अंगूठी आदि अन्य आभूषण बनवा लिए। कंगन का विनाश और अंगूठी का उत्पाद होने पर भी सोना अपने मूल रूप में स्थिर रहता है। इसी प्रकार जन्म और मृत्यु के चक्र में परिवर्तन करते रहने पर भी जीव सदा स्थायी रहता है। यह बात अनेकांत के द्वारा ही बुद्धिगम्य हो सकती है।

वस्तु अनंत धर्मात्मक होती है, इस सिद्धांत को कुछ अन्य दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं। अनेकांत का अभ्युपगम इससे विलक्षण है। उसके अनुसार एक ही वस्तु में विराधी धर्मों के अनंत युगल रह सकते हैं। विरोधी युगल परस्पर सापेक्ष रहकर ही अपने अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। लोकतंत्रीय शासनप्रणाली में सत्तापक्ष के समानांतर प्रतिपक्ष का होना जरूरी माना जाता है। अन्यथा शासनप्रणाली में लोकतंत्र नहीं आ सकता। विरोधी पक्षों का सहअस्तित्व अनेकांत के धरातल पर ही संभव है। तुम भी रहो और मैं भी रहूं—यह अनेकांत की भाषा है।

प्रश्न हो सकता है कि पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों की सत्ता स्वीकार करने पर उसकी पहचान का आधार क्या होगा? इस प्रश्न को ग्रंथकार ने

बहुत यौक्तिक ढंग से समाहित किया है। उनके अनुसार वस्तु के अनेक धर्मों में किसी को प्रधान और किसी को गौण मानकर उसकी पहचान की जा सकती है।

किसी परिवार या संस्थान में रहने वाले सब व्यक्ति एक साथ प्रमुख बन जाएं तो उस परिवार या संस्थान का संचालन नहीं हो सकता। परिवार या संस्थान की व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए एक व्यक्ति को प्रमुखता के आसन पर प्रतिष्ठित करना जरूरी होता है। इसी प्रकार वस्तु में पाए जाने वाले अनंत धर्मों में एक धर्म की प्रमुखता और अन्य धर्मों की गौणता के आधार पर उसकी पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

## संतुलन की दिशा

**(लावणी)**

**९. श्रावक सचेत अनिकेत-संत-समुपासक,**
**धृतिधारी स्वयं स्वयं के हैं अनुशासक।**
**धार्मिक धर्मानुग धर्माऽऽख्यायी होते,**
**धम्मेणं चेव वृत्ति अपनी संजोते॥**

श्रावक गृहत्यागी संतों के जागरूक उपासक होते हैं। वे धैर्यवान और अपने पर अपना अनुशासन रखने वाले होते हैं। आगमों में उनके अनेक गुण बतलाए गए हैं। उनमें से कुछ गुणों का यहां उल्लेख किया गया है। वे धार्मिक, धर्म के अनुगामी, धर्म के व्याख्याता और अपनी वृत्ति—जीविका में भी धर्म को सुरक्षित रखने वाले होते हैं।

## भाष्य

साधु समाज के बीच में रहते हैं, पर सामाजिक व्यवस्थाओं से मुक्त होते हैं। उनके सामने प्रमुख लक्ष्य है आत्मसाधना। उनकी साधना से प्रभावित होकर या उनसे आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए श्रावक उनकी उपासना करते हैं। श्रमणोपासना अथवा धर्मोपासना से उनके जीवन में भी कुछ विशिष्ट गुणों का समावेश हो जाता है। प्रस्तुत पद्य में उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। इनके आधार पर आगम साहित्य में उपलब्ध श्रावक के गुणात्मक विशेषणों की एक सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है—

1. अल्पारंभ–अनर्थ और क्रूर हिंसा से बचने वाला।
2. अल्पपरिग्रह–परिग्रह के अतिसंग्रह और आसक्ति से बचने वाला।
3. धार्मिक–श्रुत और चारित्र धर्म का आचरण करने वाला।
4. धर्मानुग–धर्म का अनुगमन करने वाला।
5. धर्मिष्ठ–धार्मिक व्यक्तियों में अग्रणी।
6. धर्माख्याति–धर्म का आख्यान करने वाला।
7. धर्मप्रलोकी–धर्म को उपादेय तत्त्व के रूप में देखने वाला।
8. धर्म-वृत्तिकार–धर्म का अतिक्रमण किए बिना जीविका चलाने वाला।
9. सुशील–चरित्रसंपन्न।
10. सुव्रत–व्रतों का पालन करने वाला।
11. पापपरिहारी–पापभीरु, यथासंभव पाप से बचने का लक्ष्य रखने वाला।
12. श्रमणोपासक–श्रमणों की उपासना करने वाला।
13. तत्त्वज्ञ–जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों को जानने वाला।
14. सहायानपेक्षी–कष्ट की स्थिति में भी देवों का सहयोग नहीं चाहने वाला।
15. दृढ़श्रद्धालु–धर्म के प्रति गहरी श्रद्धा रखने वाला।
16. स्वच्छहृदय–छल-कपट आदि से बचने वाला।
17. विश्वस्त–सबके लिए विश्वासपात्र।
18. धर्माराधक–धर्म की आराधना करने वाला।
19. अतिथिसंविभागी–संयमी व्यक्तियों के संयम में सहयोग देने के लिए आहार, पानी आदि का विधिवत दान देने वाला।
20. बाह्याडम्बरवर्जक–बाह्य आडम्बरों से दूर रहने वाला।
21. धैर्यवान–हर स्थिति में धैर्य धारण करने वाला।

**10. दोनों ही नय निश्चय-व्यवहार निभाते,**
**लौकिक-लोकोत्तर में संतुलन बिठाते।**
**उनका कर मिश्रण नहीं मूढ कहलाते,**
**घी-तम्बाकू की घटना भूल न पाते॥**

जैनदर्शन में दो नय–निश्चय और व्यवहार माने गए हैं। निश्चय नय वास्तविक होता है और व्यवहार नय में उपचार चलता है। निश्चय नय लोकोत्तर है और व्यवहार नय लौकिक है। श्रावक इन दोनों नयों में संतुलन बिठाते हैं। भिक्षु स्वामी द्वारा निरूपित घी और तम्बाकू के मिश्रण की घटना उनकी स्मृति में रहती है। इसलिए वे लोकोत्तर और लौकिक का मिश्रण करके मूढता का परिचय नहीं देते।

## भाष्य

श्रावक सामाजिक प्राणी होते हैं। वे सामाजिक व्यवस्थाओं से बंधे हुए होते हैं और धर्म की आराधना भी करते हैं। वे न समाज को छोड़ सकते हैं और न धर्म से विरत हो सकते हैं। इस दृष्टि से वे निश्चय नय और व्यवहार नय–इन दोनों नयों को आधार मानकर चलते हैं। निश्चय नय के अनुसार आत्मा ही सब कुछ है। केवल आत्मा को केंद्र में रखकर जीने वाला व्यक्ति सामाजिक नहीं हो सकता। इसलिए उसे व्यवहार नय को भी सामने रखकर चलना होता है।

श्रावक के सामने दो मार्ग होते हैं–लौकिक और लोकोत्तर–आध्यात्मिक। निश्चय नय के अनुसार लोकोत्तर मार्ग ही श्रेयस्कर है। पर व्यवहार नय लौकिक मार्ग की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह कहता है कि आत्मा है, किंतु शरीर के बिना आत्मा का उपयोग क्या है? क्या कोई अशरीरी आत्मा, सिद्धात्मा किसी को जीवन के लिए दिशाबोध दे सकती है? तीर्थंकर अनंतज्ञानी होते हैं। अपने संपूर्ण ज्ञान को अभिव्यक्ति देने की क्षमता उनमें भी नहीं है। दूसरों को ज्ञान देते समय उन्हें श्रुतज्ञान का सहारा लेना ही होगा। अन्यथा उनका ज्ञान समाज के लिए अनुपयोगी हो जाएगा। व्यवहार नय कहता है कि लोकोत्तर धर्म उत्कृष्ट होता है, पर लौकिक कर्तव्यों की उपेक्षा करने का भी कोई औचित्य नहीं है। इसलिए श्रावक लौकिक और लोकोत्तर दोनों में संतुलन स्थापित करते हैं। संतुलन की दिशा प्रशस्त न हो तो दोनों का मिश्रण हो जाता है। बेमेल पदार्थों को मिला देने से जो परिणाम आता है, वही लौकिक-लोकोत्तर के मिश्रण से आता है। इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु द्वारा निदर्शित घी-तम्बाकू के मिश्रण की घटना पठनीय है।

एक व्यापारी घी और तंबाकू दोनों का व्यापार करता था। एक दिन किसी कार्यवश उसे दूसरे गांव जाना था। उसने पुत्र को दुकान पर बैठने के

लिए कहा। पुत्र आया तो व्यापारी बोला–'एक ओर घी के पीपे रखे हुए हैं तथा दूसरी ओर तंबाकू के पीपे हैं। एक घी का और एक तंबाकू का–ये दो पीपे खुले हैं। जब तक ये दोनों बिक न जाएं, नए पीपे मत खोलना।' पुत्र ने घी और तंबाकू का मूल्य पूछा तो व्यापारी बोला–'दोनों चीजों का मूल्य बराबर है।'

व्यापारी चला गया। पीछे से पुत्र ने पीपे संभाले। दोनों पीपे आधे-आधे थे। पुत्र ने सोचा–पिताजी की समझ भी कैसी है? बिना मतलब दो पात्र रोक रखे हैं। उसने तंबाकू का पीपा उठाया और घी वाले पीपे में उंड़ेल दिया। दोनों चीजों को मिलाकर राब-सी बना ली। ग्राहक घी लेने आया। उसने राब दिखाई। ग्राहक लौट गया। दूसरा ग्राहक आया। उसने तंबाकू की मांग की। वही राब सामने आई। ग्राहक खाली हाथ लौट गया। ग्राहक आते गए और लौटते गए। जब तक वह माल नहीं बिके तब तक दूसरे पीपे खोलने को मनाही थी। वह सांझ तक दुकान में बैठा रहा, पर किसी ग्राहक ने कुछ भी नहीं खरीदा।

दूसरे दिन व्यापारी लौटकर आया। उसने पुत्र से हिसाब मांगा। उसने पूरी रामकहानी सुना दी। व्यापारी बोला–'अरे बेवकूफ! तुम इतना भी नहीं जानते तो व्यापार कैसे करोगे? माना कि घी और तंबाकू का भाव एक है। पर इन दोनों को मिलाने की बुद्धि किसने दी? इस राब का उपयोग न घी के स्थान पर हो सकता है और न तंबाकू के स्थान पर। ऐसी स्थिति में इसे कौन खरीदेगा?'

घी और तंबाकू के मिश्रण से व्यापारी के पुत्र को जिस कठिनाई का सामना करना पड़ा, वही कठिनाई लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्तियों के मिश्रण से उपस्थित हो जाती है। समाज-व्यवस्था से संबंधित सारी प्रवृत्तियां लौकिक हैं और आत्मोत्थानमूलक प्रवृत्तियां लोकोत्तर हैं। श्रावक इनमें संतुलन स्थापित कर दोनों क्षेत्रों में अपना दायित्व निभाता है। वह दोनों को मिलाने वाला मूढतापूर्ण कार्य नहीं करता।

**11. है धर्म जिनाज्ञा, जिनमत-मर्म यही है,**
**आज्ञा-बाहर आध्यात्मिक कर्म नहीं है।**
**जिनमत-सम्मत संयम व्रत और अहिंसा,**
**जिनवाणी-बाह्य असंयम अव्रत हिंसा॥**

जिस कार्य में जिन भगवान की आज्ञा है, वह धर्म है। यह जैनदर्शन का मूल मर्म है। कोई भी आध्यात्मिक कार्य जिनाज्ञा से बाहर नहीं है। संयम, व्रत और अहिंसा जिनमत में मान्य हैं। असंयम, अव्रत और हिंसा जिन भगवान की आज्ञा से बाहर हैं।

## भाष्य

धर्म शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। हर संदर्भ धर्म का नया अर्थ दे देता है। ऐसी स्थिति में श्रावक अपने विवेक का उपयोग कर धर्म के सही स्वरूप को समझता है। धर्म के दो रूप हैं–आध्यात्मिक और लौकिक। लौकिक धर्म का संबंध पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों के साथ है। आध्यात्मिक धर्म का संबंध सीधा आत्मा से है। उसकी दो परिभाषाएं मिलती हैं–व्यापक और आगमिक। **आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः**–आत्मा की विशुद्धि के जितने साधन हैं, उन सबका धर्म में समावेश हो जाता है। यह धर्म की व्यापक परिभाषा है। **यत्र जिनाज्ञा तत्र धर्मः**–जिस कार्य में जिन भगवान (तीर्थंकर) की आज्ञा है, वह धर्म है। इस अभिमत का आगमिक आधार है–**आणाए मामगं धम्मं**। भगवान महावीर ने कहा–'मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है।' इस कथन में किसी प्रकार का अहं नहीं, यथार्थ की अभिव्यक्ति है, क्योंकि वीतराग कभी उस कार्य की आज्ञा नहीं दे सकते, जो आध्यात्मिक न हो। निष्कर्ष के रूप में यह स्थापना की जा सकती है–

- जहां तीर्थंकर की आज्ञा, वहां धर्म है, अध्यात्म है।
- जहां तीर्थंकर की आज्ञा नहीं, वहां न धर्म है और न अध्यात्म है।

इस आगमिक परिभाषा को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने धर्म की व्याख्या की। उसी को आधार मानकर यहां ग्रंथकार ने धर्म का विवेक दिया है। धर्म और अधर्म के बीच में इतनी स्पष्ट भेदरेखा संभवतः यहीं प्राप्त है। इसके अनुसार धर्म की तीन परिभाषाएं हो जाती हैं–

- जहां संयम है, वहां धर्म है। जहां संयम नहीं, वहां धर्म भी नहीं है।
- जहां व्रत है, वहां धर्म है। जहां व्रत नहीं, वहां धर्म भी नहीं है।
- जहां अहिंसा है, वहां धर्म है। जहां अहिंसा नहीं, वहां धर्म भी नहीं है।

असंयम, अव्रत और हिंसा से जुड़ी हुई किसी भी प्रवृत्ति में तीर्थंकरों की आज्ञा नहीं है। आज्ञा से बाहर होने के कारण इन्हें किसी भी परिस्थिति में धर्म नहीं माना जा सकता।

**12. हिंसा क्या कभी अहिंसा हो सकती है?**
**काकाली कभी कालिमा धो सकती है?**
**श्रावक गृहस्थ, गृहत्यागी संत नहीं है,**
**करना ही होगा अंकन सही-सही है॥**

**13. अनपेक्षित एक बूंद भी घी क्यों जाए?**
**हो अगर अपेक्षा मन-टन स्वयं बहाए।**
**पाई भी व्यर्थ गमाई हुई हताशा,**
**हित निहित सामने तो श्रावक भामाशा॥**

**14. चींटी भी क्यों अपने प्रमाद से मारें?**
**अनिवार्य अगर, समरांगण में ललकारें।**
**श्रावक परिवार-समाज-भूमिका में हैं,**
**दुनियादारी-दायित्व हाथ थामे हैं॥**

बहुत लोग ऐसे भी हैं, जो आवश्यक हिंसा को अहिंसा मान लेते हैं। श्रावक ऐसी भूल न करें। जैसे काकाली–कौवों की पंक्ति कभी सफेद नहीं हो सकती। वैसे ही हिंसा कभी अहिंसा नहीं हो सकती। श्रावक गृहत्यागी संत नहीं हैं, वे गृहस्थ हैं। गृहस्थ होने के कारण वे हिंसा से सर्वथा बच नहीं सकते। इस वास्तविकता का सही-सही अंकन करना होगा।

विवेकसंपन्न व्यक्ति अपव्यय नहीं करता। वह बिना मतलब घी की एक बूंद भी नहीं खोता। यदि सामने विशेष अपेक्षा होती है तो वह मन, टन (1000किलो) घी स्वयं बहा देता है। बिना प्रयोजन एक पाई (पैसा) भी खो जाए तो वह हताश हो जाता है, किंतु सामने विशेष हित का प्रसंग उपस्थित होने पर वह मेवाड़ का जैन श्रावक भामाशाह बन जाता है। भामाशाह ने मेवाड़ की सुरक्षा के लिए अपना विशिष्ट खजाना महाराणा प्रताप को समर्पित कर दिया था।

श्रावक इतने जागरूक होते हैं कि वे अपने प्रमाद से एक चींटी को भी नहीं मारते। किंतु जहां राष्ट्रीय दायित्व की दृष्टि से अनिवार्यता की स्थिति उपस्थित हो जाए तो वे युद्धभूमि में जाकर चुनौती दे सकते हैं।

श्रावक परिवार और समाज के धरातल पर जीते हैं। दुनियादारी के दायित्व को हाथ में थामे हुए हैं। (इसलिए उसकी जीवनशैली में अहिंसा की प्रधानता रह सकती है, किंतु पूर्ण हिंसाविरति नहीं हो सकती।)

## भाष्य

श्रावक गृहत्यागी साधु नहीं है। वह घर में रहता है, परिवार के साथ रहता है। जीवनयापन के लिए उसके सामने हिंसा की अनिवार्यता रहती है। अहिंसा में उसका विश्वास होता है। उसका प्रस्थान अहिंसा की ओर हो सकता है। फिर भी हिंसा के बिना उसका काम नहीं चलता। आवश्यक होने पर भी हिंसा सदा हिंसा ही रहती है। आवश्यकता के आधार पर हिंसा को अहिंसा नहीं माना जा सकता है। इस तथ्य को समझाने के लिए ग्रंथकार ने एक व्यावहारिक उदाहरण दिया है। कौवा काला होता है, वह सदा काला ही रहेगा। सैकड़ों-हजारों कौवे मिलकर भी सफेद नहीं हो सकते। इसी प्रकार किसी भी प्रयोजन से जीव हिंसा की जाए, वह कभी अहिंसा नहीं हो सकती। हिंसा को अहिंसा मानना दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। गृहस्थ की भूमिका में श्रावक द्वारा की जाने वाली हिंसा आश्चर्य का विषय नहीं है। आश्चर्य की बात है आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानने का आग्रह।

श्रावक अपने विवेक को जाग्रत रखता है। वह अपने करणीय और अकरणीय के प्रति जागरूक रहता है। बिना मतलब एक पैसे का भी व्यय उसके लिए असह्य होता है। विशेष प्रयोजन उपस्थित होने पर वह अपना सर्वस्व भी समर्पित कर देता है। इस संदर्भ में यहां दो प्रसंग उद्धृत किए जा रहे हैं।

1. सेठ को मकान बनवाना था। उसने ठेकेदार को बुलाकर मकान का ठेका दे दिया। ठेकेदार बोला–'सेठ साहब! मकान की नींव में एक मन घी लगाना आवश्यक है।' सेठ इस बात से सहमत हो गया। सेठ के घी की दुकान थी। ग्राहक घी लेने आया। सेठ ने उसको घी दिखाया। घी की एक बूंद नीचे गिर गई। सेठ ने नीचे गिरे घी को उठाकर चाट लिया। सामने बैठे ठेकेदार के मस्तिष्क में बिजली-सी कौंध गई। ग्राहक के चले जाने पर वह सेठ के निकट आकर बोला–'सेठजी! मैं आपका मकान नहीं बना सकता।' सेठ ने कारण पूछा तो उसने कहा–'सेठ साहब! मकान के लिए

मन भर घी की जरूरत होगी। मुझे लगता है कि आप वह व्यवस्था नहीं कर पाएंगे। एक बूंद घी के प्रति आपकी इतनी आसक्ति है। ऐसी स्थिति में आप इतना घी कैसे दे पाएंगे?'

ठेकेदार की बात सुन सेठ गंभीर हो गया। उसने कहा–'ठेकेदारजी! आप समझते नहीं हैं। किसी भी चीज का अपव्यय करने से क्या लाभ? बिना मतलब एक बूंद भी घी व्यर्थ क्यों जाए? मकान का जहां तक सवाल है, अपनी दुकान में घी का पूरा स्टॉक है। आपको मन, दो मन जितना घी चाहिए, ले जाएं।' सेठ की विवेकपूर्ण स्पष्टोक्ति ने ठेकेदार को स्तब्ध कर दिया।

2. बादशाह अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। उस समय महाराणा प्रताप मेवाड़ के शासक थे। उन्होंने अकबर का मुकाबला किया। अकबर की विशाल सेना के सामने महाराणा की सेना सफल नहीं हो पाई। महाराणा ने हल्दीघाटी में युद्ध करने का निश्चय किया। वहां महाराणा की थोड़ी-सी सेना ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया। उस युद्ध में महाराणा को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। सरदारों का परामर्श रहा कि महाराणा एक बार युद्धभूमि से हट जाएं और लड़ने के लिए पूरी साधन-सामग्री जुटाएं।

महाराणा मोर्चा छोड़कर चले गए। अकबर ने मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। महाराणा जंगलों और पहाड़ों में सुरक्षित स्थान देखकर परिवार के साथ रहने लगे। वहां उन्हें पेट भर भोजन भी नहीं मिलता था। अकबर की ओर से बार-बार संदेश आते रहे कि यदि महाराणा नाम मात्र की अधीनता स्वीकार कर लें तो उन्हें सारा राज्य लौटा दिया जाएगा। किंतु महाराणा ने यह बात स्वीकार नहीं की।

एक दिन महारानी ने अपने भूखे बच्चों को खाने के लिए रोटी दी। अचानक एक वनबिलाव आया और उनके हाथ से रोटी छीनकर ले गया। बच्चे रोने लगे। महाराणा के लिए वह स्थिति असह्य हो गई। उन्होंने मेवाड़ छोड़ने का चिंतन कर लिया। यह बात चारों ओर फैल गई। महाराणा अपने चिंतन की क्रियान्विति करने वाले ही थे, कि एक भील दौड़ता हुआ आया। उसने भामाशाह के आने की सूचना दी। भामाशाह ने उपस्थित होकर कहा–'अन्नदाता! आप यह क्या कर रहे हैं? आपके चले जाने से मेवाड़ अनाथ हो जाएगा।'

महाराणा विवश थे। वे बोले–'राजा के पास राज्य की रक्षा के लिए सेना न हो, सेना को खिलाने के लिए अन्न और वेतन चुकाने के लिए धन न हो तब क्या किया जाए?' महाराणा की दुःखभरी बात सुन भामाशाह ने कहा–'धन की कमी के कारण आपको मेवाड़ छोड़ना पड़े, इसे मैं सहन नहीं कर सकता। आप ठहरिए। ऊंट आ रहे हैं। उन पर इतनी संपत्ति है कि बीस हजार सैनिकों से बारह वर्ष तक निरंतर युद्ध कर सकेंगे।'

भामाशाह की उस अद्‌भुत उदारता से महाराणा का हौसला बढ़ा। उन्होंने पुनः सेना एकत्र कर युद्ध का बिगुल बजा दिया। मुगल सेना को ऐसी कोई संभावना नहीं थी। वह सजग नहीं थी। युद्ध में भामाशाह महाराणा के साथ थे। वे विजयी बने। मेवाड़ फिर स्वतंत्र हो गया। इतिहासकार इस विजय का श्रेय भामाशाह को देते हैं। भामाशाह कौन थे? वे महाराणा संग्रामसिंह के समय में रणथम्भौर के प्रसिद्ध दुर्ग के शासक भारमलजी के पुत्र थे। भारमलजी मेवाड़ के ओसवाल (कावड़िया गोत्र) जैन घराने में जनमे थे। उनके दो पुत्र थे–ताराचंद और भामाशाह। भारमलजी की मृत्यु के बाद महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना मंत्री नियुक्त किया था।

ओसवाल जाति के पूर्वज क्षत्रिय थे। जैनाचार्यों की प्रेरणा से वे जैन बने। क्षत्रिय होने के कारण वे जैन धर्म को स्वीकार करने के बाद भी सैकड़ों वर्षों तक देशरक्षा के लिए युद्ध करते रहे। उनका यह अभिमत था कि बिना प्रयोजन अपने प्रमाद से एक चींटी को मारना भी पाप है, किंतु देशरक्षा का प्रसंग उपस्थित होने पर युद्ध करना भी वर्जित नहीं है। इस अभिमत के आधार पर ही जैन श्रावक सेनापति बने और उन्होंने युद्ध भी किए। ये सारे काम वे धर्म मानकर नहीं, अपना दायित्व समझकर करते थे।

**15. चेटक सम्राट और वह वरुण कहानी,**
**नैतिक निष्ठा की रण में हुई न हानी।**
**थे शांति कुंथु अर चक्रीश्वर तीर्थंकर,**
**पहले लौकिक कर्त्तव्य ततः लोकोत्तर॥**

**16. हिंसा को सबने हिंसा ही माना है,**
**अनिवार्य भले आदेय नहीं जाना है।**
**दसविध मिथ्यात्वदृष्टि से बचने वाले,**
**सम्यगदर्शन के स्वस्तिक रचने वाले॥**

वैशाली गणतंत्र के सम्राट चेटक और उनके रथिक नाग का पौत्र वरुण–दोनों बारह व्रतधारी श्रावक थे। वे इतने नीतिनिष्ठ थे कि युद्धस्थल में भी उन्होंने अपनी नैतिक निष्ठा को नहीं छोड़ा। शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ–ये तीनों पहले चक्रवर्ती बने, फिर तीर्थंकर हुए। इन्होंने पहले लौकिक कर्तव्य का निर्वाह किया। उसके बाद ये लोकोत्तर पथ पर अग्रसर हुए।

जैनतत्त्वविद्या को समझने वाले सभी व्यक्तियों ने हिंसा को हिंसा ही माना है। उन्होंने गृहस्थ के लिए हिंसा की अनिवार्यता स्वीकार की है, पर उसे कभी ग्राह्य नहीं समझा। ऐसे तत्त्वज्ञ श्रावक दस प्रकार के मिथ्यात्व से बचते हैं और जीवन में सम्यक्त्व के स्वस्तिक–मंगलचिह्न उकेरते रहते हैं।

## भाष्य

बहुत लोगों में एक भ्रांति है कि जैन श्रावक समाज-व्यवस्था या राज्य-व्यवस्था का संचालन नहीं कर सकते। क्योंकि व्यवस्था के संचालन में कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं, जो धर्मसम्मत नहीं हैं। यह बात जैन साधुओं पर तो लागू हो सकती है, किंतु जैन श्रावकों के लिए धर्म का कोई ऐसा नियंत्रण नहीं है, जिससे वे सामाजिक या राष्ट्रीय दायित्व न निभा पाएं। जैनधर्म का दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। जो धर्म जीवन के समग्र पहलुओं को प्रभावित न कर सके, वह एकांगी हो जाता है। बारह व्रतों का पालन करने वाले जैन श्रावक भी गृहस्थ हैं। गृहस्थ होने के कारण समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था में उनकी संभागिता जरूरी हो जाती है। लौकिक कर्तव्यों का पालन करते हुए भी वे श्रावकधर्म की आराधना कर सकते हैं। इसके उदाहरण हैं सम्राट चेटक और रथिक नाग का पौत्र वरुण।

1. सम्राट चेटक वैशाली के शक्तिसंपन्न राजा थे। वैशाली गणतंत्र में मल्लवी और लिच्छवी जाति के नौ-नौ राजा थे। चेटक उन सबके प्रमुख थे। वे भगवान महावीर के मामा थे। बारह व्रतधारी श्रावक थे। राज्य की सुरक्षा के लिए उन्हें अनेक बार युद्ध करने पड़े। उनका यह संकल्प था कि वे किसी निरपराध पर वार नहीं करेंगे। वे एक कुशल धनुर्धर थे। उनका यह भी संकल्प था कि वे एक दिन में एक ही बार बाण छोड़ेंगे।

चेटक और कौणिक का युद्ध इतिहास-प्रसिद्ध है। उस युद्ध में उन्होंने कालिककुमार आदि दस भाइयों को प्रतिदिन एक बाण छोड़कर दस दिनों

में धराशायी कर दिया था। महाशिलाकंटक नामक उस संग्राम में देवेन्द्रों की सहायता से राजा कौणिक ने विजय का वरण किया। सम्राट चेटक को उसमें पराजित होना पड़ा, पर उन्होंने अपना संकल्प खण्डित नहीं होने दिया। उनकी नैतिक निष्ठा का सब पर विशेष प्रभाव था।

2. सम्राट चेटक के रथिक नाग का पौत्र वरुण भगवान महावीर का भक्त था और बारह व्रतधारी श्रावक था। वह चेटक का सेनापति था। सेनापति होने के कारण युद्ध में जाने के प्रसंग आते ही रहते थे। वरुण का यह संकल्प था कि वह अपनी ओर से बाण चलाकर किसी पर आक्रमण नहीं करेगा। उसने अपने इस संकल्प को अच्छी तरह निभाया।

एक बार चेटक और कौणिक के बीच रथमुशल संग्राम छिड़ा। वरुण को युद्धभूमि में जाने का निर्देश मिला। उस दिन उसके बेले की तपस्या थी। वह तेले की तपस्या स्वीकार कर युद्ध में गया। कौणिक के सेनापति ने वरुण को युद्ध के लिए ललकारा। वरुण बोला–'मैं किसी अनाक्रांता पर प्रहार नहीं करूंगा। तुम पहल करो, मैं उसका उत्तर दूंगा।' यह बात सुन प्रतिपक्ष के सेनापति ने बाण चलाकर वरुण को भयंकर रूप से घायल कर दिया। वरुण ने प्रत्याक्रमण में बाण चलाया और कौणिक का सेनापति परलोक पहुंच गया। अवसर देखकर वरुण युद्धस्थल से बाहर निकला। एकांत स्थान में पहुंचकर उसने विधिवत अनशन किया। पवित्र भावधारा के साथ मृत्यु का वरण कर वह प्रथम स्वर्ग में देव बना।

शांतिनाथ (16वें तीर्थंकर), कुंथुनाथ (17वें तीर्थंकर) और अरनाथ (18वें तीर्थंकर) ये तीनों राज-परिवार में जनमे, चक्रवर्ती बने। हजारों वर्षों तक अपने लौकिक कर्तव्य का निर्वाह करते हुए उन्होंने साम्राज्यश्री का भोग किया। किंतु वे वहीं पर अटके नहीं। उपयुक्त समय देखकर वे साधु बने। साधना कर केवलज्ञान का वरण करने में सफल हुए। फिर धर्मतीर्थ की स्थापना कर वे तीर्थंकर बने। उनके आध्यात्मिक कर्तव्यों का क्रम शुरू हो गया। इससे फलित होता है कि जीवन के दोनों पक्ष अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगी हैं।

लौकिक कर्तव्यों के पालन में हिंसा की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर हिंसा अन्ततोगत्वा हिंसा ही है। गृहस्थ जीवन

में हिंसा की अनिवार्यता हो सकती है, किंतु किसी भी तत्त्वविद् ने उसका समर्थन नहीं किया। हिंसा को अहिंसा मानना अथवा उसकी उपादेयता स्वीकार करना दृष्टिकोण का मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के दस प्रकार हैं–

1. धर्म को अधर्म समझना।
2. अधर्म को धर्म समझना।
3. मार्ग को कुमार्ग समझना।
4. कुमार्ग को मार्ग समझना।
5. जीव को अजीव समझना।
6. अजीव को जीव समझना।
7. साधु को असाधु समझना।
8. असाधु को साधु समझना।
9. मुक्त को अमुक्त समझना।
10. अमुक्त को मुक्त समझना।

श्रावक का दृष्टिकोण सम्यक होता है, इसलिए वे दस प्रकार के मिथ्यात्व से बचकर अपने जीवन को सही दिशा में अग्रसर करते रहते हैं।

## श्रावक का दायित्व

**(वंदना आनन्द)**

**17. श्रमण-गण-समुपासना सब श्रावकों का धर्म है,**
**संघ की संभाल भी क्या नहीं उनका कर्म है?**
**श्रावकों के लिए पथदर्शक सदा से संत हैं,**
**साधुओं के लिए श्रावक अपेक्षित अत्यंत हैं।**

**18. संघ की संवर्धना-स्थायित्व का अभियान है,**
**साधुओं की तरह श्रावक-श्राविका का स्थान है।**
**कहा 'अम्मापिउसमाणा' श्रावकों को सूत्र में,**
**और निश्रास्थान हितसंधान अत्र अमुत्र में॥**

श्रमणों की उपासना करना श्रावकों का धर्म है, वैसे ही संघ की सार-संभाल करना भी उनका कर्तव्य है। साधु हमेशा श्रावक समाज के लिए पथदर्शक होते हैं। श्रावक भी साधुओं के लिए बहुत अपेक्षित और उपयोगी हैं।

संघ के विकास और स्थायित्व के अभियान में साधु-साध्वियों की तरह श्रावक-श्राविकाओं की भी पूरी भागीदारी है। जैन आगमों में श्रावकों को साधु के अम्मापिउ–माता-पिता के समान बताया गया है। उन्हें इहलोक और परलोक संबंधी हित साधने की दृष्टि से साधु के लिए निश्रास्थान–आश्रय-स्थल भी कहा गया है।

## भाष्य

श्रावक का एक नाम है श्रमणोपासक। वह श्रमणों की उपासना करता है, इसलिए श्रमणोपासक कहलाता है। उपासना का अर्थ है निकट बैठना। श्रमणों के साथ वार्तालाप का प्रसंग हो या नहीं, प्रवचन श्रवण का मौका मिले या नहीं, उनके उपपात में बैठने की भी सार्थकता है। इसकी पुष्टि निम्ननिर्दिष्ट संस्कृत श्लोक से होती है–

**परिचरितव्याः सन्तो, यद्यपि ते कथयंति नो सदुपदेशम्।**
**यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवंति शास्त्राणि॥**

संतजन उपदेश न दें, फिर भी उनके सान्निध्य का लाभ उठाना चाहिए। उनका पारस्परिक आलाप-संलाप भी किसी दृष्टि से शास्त्र का काम कर देता है।

उपासना का लाभ समझकर श्रावक श्रमणों की उपासना करते हैं, किंतु उनके कर्त्तव्य की इयत्ता यही नहीं है। धर्मसंघ की संभाल रखना भी उनका दायित्व है। संघ की प्रभावना में सहयोगी बनना और संघ की अप्रभावना वाले कार्यों से दूर रहना–ये दोनों इस दायित्व की सीमा में आ जाते हैं। साधु और श्रावक का संबंध किसी परिस्थिति विशेष की देन नहीं है। श्रावकों को निरन्तर साधुओं से आध्यात्मिक पथदर्शन मिलता रहता है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय समस्याओं के कुछ ऐसे प्रसंग हो सकते हैं, जिनके बारे में हर किसी से परामर्श नहीं लिया जा सकता। साधु इतने विश्वस्त होते हैं कि उनके सामने व्यक्ति अपना दिल खोलकर रख सकता है। साधु श्रावक के लिए जितने उपयोगी हैं, श्रावक भी साधुओं के लिए उतने ही अपेक्षित हैं। श्रावकों का उपयुक्त सहयोग न मिले तो साधुओं की साधना में भी बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो सकती है।

धर्मसंघ के चार अंग होते हैं–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। चारों मिलकर ही धर्मसंघ को पूर्णता देते हैं। धर्मसंघ की इनके आध्यात्मिक विकास में जो भूमिका है, उसे देखते हुए संघ के विकास में सबकी भागीदारी आवश्यक है। साधु-साध्वियों पर संघीय दृष्टि से जो दायित्व है, श्रावक-श्राविकाएं भी उससे मुक्त नहीं हैं।

स्थानांग सूत्र (4/430) में श्रमणोपासक को साधु-साध्वियों के माता-पिता की उपमा दी गई है। तत्त्वचर्चा का प्रसंग हो या जीवन-निर्वाह का–दोनों प्रसंगों में वे माता-पिता जैसे वात्सल्य का परिचय देते हैं। इस उपमा से श्रावक का कितना गौरव बढ़ा है, यह स्वयं समझा जा सकता है।

स्थानांग सूत्र (5/192) में साधु के पांच निश्रास्थान बतलाए गए हैं–षट्काय, गण–श्रमण संघ, राजा, गृहपति–उपाश्रय देने वाला और शरीर। निश्रास्थान का अर्थ है आलंबन-स्थान या उपकारक-स्थान। उक्त पांच निश्रा स्थानों में गृहपति शब्द का प्रयोग श्रावक के लिए हुआ है। संयम-साधना में वसति या उपाश्रय को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। एक प्राचीन श्लोक है–

**धृतिस्तेन दत्ता मतिस्तेन दत्ता,**
**गतिस्तेन दत्ता सुखं तेन दत्तम्।**
**गुणश्रीसमालिंगितेभ्यो वरेभ्यो,**
**मुनिभ्यो मुदा येन दत्तो निवासः॥**

संयम-साधना में रत मुनियों को निवास-स्थान देने वाला व्यक्ति उन्हें धृति, मति, गति, सुख आदि सब कुछ दे देता है।

**19. अंगुलि-निर्देश संतों के लिए श्रावक करें,**
**समय पर अनुशासनात्मक कार्यवाही भी करें।**
**नहीं हस्तक्षेप किंचित-मात्र निर्हेतुक कभी,**
**सदा अपने क्षेत्र में शालीनता साधें सभी॥**

साधु-साध्वियों द्वारा किसी प्रकार का प्रमाद होने पर श्रावक को अंगुलि-निर्देश करने का अधिकार है। समय पर वे अनुशासनात्मक कार्यवाही भी कर सकते हैं, किंतु बिना कारण वे साधुओं के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। उनकी जो सीमाएं हैं, उनमें वे सदा शालीनता का व्यवहार करें।

## भाष्य

साधु और श्रावक के आध्यात्मिक संबंध को मान्य कर लेने पर उनके दायित्व में सहज रूप से कुछ काम जुड़ जाते हैं। श्रावक कहीं गलती करता है तो उसकी ओर साधु अंगुलि-निर्देश करें, यह बात स्वतः प्राप्त है। ऐसा करना किसी को अखरता भी नहीं है, किंतु ग्रंथकार ने तो यहां तक कह दिया कि कोई साधु गलती करे तो श्रावकों का दायित्व है कि उसके लिए अंगुलि-निर्देश करें, संबंधित साधु को सजग करें।

गलती होने पर उसकी ओर इंगित करना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अनुशासनात्मक कार्यवाही। आचार्य भिक्षु ने श्रावकों को यह अधिकार दिया है कि वे कभी साधु को संघीय दृष्टि से प्रतिकूल आचरण करते देखें तो अनुशासनात्मक कदम उठा सकते हैं। तेरापंथ के इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग घटित हुए हैं। यहां एक प्रसंग प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुनि लच्छीरामजी और ऋषिरामजी (सिसाय) सांसारिक दृष्टि से पिता-पुत्र थे। एक समय उनकी गणना संघ के प्रभावशाली साधुओं में होती थी। कुछ वर्षों बाद मुनि ऋषिरामजी का दृष्टिकोण बदल गया। वे आग्रही और अहंकारी हो गए। इस कारण उन्हें कई बार उपालंभ मिला।

वि.सं. 1989 में कालूगणी राजलदेसर में प्रवास कर रहे थे। वहां मुनि लच्छीरामजी ने कोई गलती की। कालूगणी ने उनको गलती के लिए प्रायश्चित्त सुझाया। उन्होंने प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं किया। कालूगणी ने संघीय परंपरा के अनुसार उनका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। मुनि ऋषिरामजी को उक्त घटना की जानकारी मिली। वे कालूगणी के पास जाकर बोले–'प्रायश्चित्त देने में पक्षपात चलता है। अमुक साधु बड़ी भूल करते हैं। फिर भी उन्हें इतना प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता। इनको छोटे-से प्रमाद पर बड़ा प्रायश्चित्त दिया गया है।'

कालूगणी ने कहा–'तुम्हारे पिता के बारे में मैं तुमसे अधिक जानता हूं। ये कितनी बार प्रमाद करते हैं, यह भी मुझे ज्ञात है। आगमों में लिखा है कि कोई मुनि बार-बार गलती करे तो उसे छोटी गलती पर भी बड़ा प्रायश्चित्त दिया जा सकता है।' इतना समझाने पर भी मुनि ऋषिरामजी ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा तो कालूगणी ने उनको भी संघ से अलग करने

की चेतावनी दी। वे शांत हो गए। उन्होंने मुनि लच्छीरामजी को समझाया। वे प्रायश्चित्त स्वीकार करने के लिए तैयार हो गए। विशेष प्रार्थना पर उन्हें पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया गया।

वि.सं. 1990 में कालूगणी ने मुनि ऋषिरामजी को पचपदरा चातुर्मास करने का निर्देश दिया। चातुर्मास से पूर्व उनके एक सहयोगी साधु मुनि चिरंजीलालजी पारस्परिक सामंजस्य की कमी के कारण संघ से अलग हो गए। वहां से विहार कर वे सुजानगढ़ गए। वहां कालूगणी के दर्शन कर उन्होंने पूरी बात बताई। उनकी प्रार्थना पर कालूगणी ने उनको यथोचित प्रायश्चित्त देकर संघ में ले लिया। यह बात मुनि ऋषिरामजी और लच्छीरामजी तक पहुंची। वे बोले–'हमें पूछे बिना उनको संघ में कैसे ले लिया?' उनका मन पहले से ही साफ नहीं था। इस घटना के बाद उन्होंने साधु-साध्वियों व कालूगणी के बारे में दुष्प्रचार करना शुरू कर दिया।

कालूगणी को स्थिति की जानकारी मिली। उन्होंने समदड़ी के श्रावक वृद्धिचन्दजी जीरावला (जो उस समय कालूगणी की सेवा में थे) को घटना की सही जानकारी करने का निर्देश दिया। वे पचपदरा गए। सारी स्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। पचपदरा के श्रावक खूबचंदजी चोपड़ा और बस्तीमलजी चोपड़ा भी उनके साथ थे। उन्होंने भाद्रपद शुक्ला तृतीया को कालूगणी के दर्शन कर पूरी बात निवेदित की। कालूगणी ने उनको संघविमुख और अविनीत समझकर उनका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया।

श्रावकों ने पचपदरा पहुंचकर कालूगणी का आदेश सुनाया तो दोनों साधु आवेश में आ अनर्गल बोलने लगे। श्रावकों ने संघीय पुस्तक-पन्ने मांगे तो वे इंकार हो गए। उन्होंने स्थानीय हाकिम के पास जाकर पुकार की। हाकिम बोले–'हम राजकर्मचारी हैं। हमें काम करने के लिए सरकारी रजिस्टर, दवात, कलम आदि मिलते हैं। हम नौकरी छोड़ दें या सरकार हमें छोड़ दे तो हम उक्त वस्तुएं साथ नहीं ले जा सकते। उसी तरह आप संघीय वस्तुओं को साथ ले जाने के हकदार नहीं हैं।' हाकिम का उत्तर सुनकर वे मौन हो गए। उन्होंने पुस्तक-पन्ने श्रावकों को सौंप दिए। बालोतरा में चातुर्मास्य कर रही साध्वी सोहनांजी (राजनगर) पचपदरा जाकर पुस्तक-पन्ने ले आईं। उक्त प्रसंग में वृद्धिचंदजी जीरावला

(समदड़ी), खूबचंदजी-बस्तीमलजी चोपड़ा (पचपदरा) और जोधपुर निवासी प्रतापमलजी मेहता तथा माणकचंदजी भंडारी ने पूरी सूझबूझ और निष्ठा के साथ काम किया।

## आगम-युग के श्रावक

**(लावणी)**

**20. अध्यात्म क्षेत्र में बड़ा स्थान श्रावक का,**
**है गौरवमय आख्यान 'पूणिया' तक का।**
**क्या बात और की, श्रेणिक स्वयं चकित-सा,**
**रह गया अभय-सा श्रावक भी विस्मित-सा॥**

अध्यात्म के क्षेत्र में श्रावक का बहुत बड़ा स्थान है। इस विषय में 'पूणिया' श्रावक का गौरवमय कथानक पढ़ा जा सकता है। भगवान महावीर ने अपने मुखारविंद से 'पूणिया' श्रावक का नामोल्लेख किया तो वहां उपस्थित लोग देखते ही रह गए। और लोगों की तो बात ही क्या, स्वयं सम्राट श्रेणिक और अभयकुमार जैसे श्रावक भी विस्मित हो गए।

# भाष्य

भगवान महावीर उन दिनों राजगृह नगर में थे। सम्राट श्रेणिक भगवान के दर्शन करने गुणशिलक चैत्य में गया। उसके साथ चेलना आदि रानियां, पुत्र अभयकुमार और नगर के संभ्रान्त नागरिक भी थे। नगर का क्रूरतम कसाई कालसौकरिक भी कुतूहलवश वहां आया। अचानक उस सभा में एक वृद्ध कोढ़ी पहुंचा। उसके शरीर से पीप झर रहा था। वह सीधा भगवान के निकट पहुंचा और शरीर से झरते हुए पीप को उनके शरीर पर रगड़ने लगा। उसी समय भगवान को छींक आई। वह वृद्ध बोला–'प्रभो! जल्दी मरो।' श्रेणिक को छींक आने पर उसने कहा–'राजन्! आप चिरायु बनें।' उसी समय अभयकुमार को छींक आ गई। वृद्ध बोला–'राजकुमार! आप चाहे जीएं, चाहे मरें।' कालसौकरिक कसाई को छींक आने पर उसने कहा–'भैया! तुम न मरो, न जीओ।'

वृद्ध के अशिष्ट व्यवहार से सभा में हलचल हो गई। श्रेणिक ने उसे पकड़ने का आदेश दिया। सैनिक उसे पकड़ने के लिए उठे तो वह अदृश्य हो गया। श्रेणिक का मन जिज्ञासा से भर गया। उसने उस विचित्र व्यक्ति

के बारे में भगवान से प्रश्न किया। भगवान ने कहा–'वह कोई मनुष्य नहीं, देव था। उसके शरीर से जो पीप झर रहा था, वह सुगंधित चंदन था। उसने जो कुछ कहा, वह उसका प्रलाप नहीं, सत्य का उद्घाटन था।'

श्रेणिक के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर भगवान ने रहस्य से पर्दा उठाते हुए कहा–'राजन्! उसने मेरे लिए 'शीघ्र मरो' इन शब्दों का प्रयोग किया। इसका अभिप्राय यह है कि मैं देह का त्याग कर शीघ्र ही परिनिर्वाण का वरण करूं।' श्रेणिक ने अपने प्रति किए गए शब्द-प्रयोग का अर्थ पूछा तो भगवान बोले–'राजन्! यह एक कटु सत्य है।' श्रेणिक की जिज्ञासा समाहित नहीं हुई। उसके विनम्र निवेदन पर भगवान ने कहा–'राजन्! इस शरीर को छोड़कर तुम्हें प्रथम नरकभूमि में उत्पन्न होना पड़ेगा, इसलिए देव ने तुम्हारे चिरायु होने की कामना की है।'

भगवान से उक्त बात सुन श्रेणिक का मन आहत हो गया। वह बोला–'भंते! आपका भक्त नरक में जाएगा, क्या यह विश्वास करने जैसी बात है?' भगवान ने उसको विस्तार से पूरा घटनाचक्र बताते हुए कहा–'तुम्हारा नरक का आयुष्य पहले बंध गया। तुम मेरे भक्त बाद में बने हो। कर्म का जो बंधन हुआ है, उसका फल तो भोगना ही होगा। अब तुम जो सत्क्रिया कर रहे हो, उसके फलस्वरूप आगामी चौबीसी में तुम मेरे समान पद्मनाभ नामक प्रथम तीर्थंकर बनोगे।' भगवान के इन वचनों से श्रेणिक आश्वस्त हुआ।

भगवान ने पुनः मूल प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा–'अभयकुमार बहुत जागरूकता का जीवन जी रहा है। वह जब तक जीवित रहेगा, सुखपूर्वक जीएगा। अगले जन्म में वह अनुत्तरविमान का देव बनेगा। इसलिए उसका जीना और मरना–दोनों ही श्रेयस्कर हैं।' कालसौकरिक कसाई के बारे में कही गई बात का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान बोले–'कालसौकरिक महान क्रूरकर्मा है। वह दिन-रात हिंसा में रत रहता है। उसे यहां कष्ट झेलने पड़ रहे हैं और मृत्यु के बाद सातवीं नरकभूमि में जाना पड़ेगा। इस दृष्टि से न तो उसका जीना अच्छा है और न मरना।'

भगवान द्वारा तीर्थंकर बनने का आश्वासन पाने के बाद भी श्रेणिक के मन का उद्वेलन कम नहीं हुआ। उसने अत्यधिक विनम्रता के साथ नरकगति में जाने से बचने का उपाय पूछा। भगवान ने कुछ उपाय सुझाए,

पर वे संभव नहीं बन पाए। श्रेणिक के असमाहित मन ने फिर समाधान मांगा। भगवान बोले–'राजन्! पूणिया श्रावक की एक सामायिक का फल तुम्हें मिल जाए तो तुम्हारी नरकगति टल सकती है।' यह बात सुनकर श्रेणिक और अभयकुमार–दोनों ही विस्मित हो गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही श्रेणिक पूणिया श्रावक के घर पहुंचा। अचानक राजा को अपने घर-आंगन में देख पूणिया प्रसन्न हुआ। प्रसन्नता के साथ उसके मन में भय भी था। वह राजा के आगमन का कारण नहीं समझ पाया। पूणिया कोई इतना बड़ा आदमी नहीं था कि उसके घर राजा आए। वह रूई की पूनियां बनाकर बेचता और उसी से अपने परिवार का निर्वाह करता था। उसने बद्धांजलि होकर पूछा–'महाराज! आपने अनुग्रह करके मेरी कुटिया को पावन बनाया है। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूं?' श्रेणिक बोला–'श्रावकजी! मुझे और कुछ नहीं चाहिए, केवल आपकी एक सामायिक की जरूरत है।'

एकदम नई बात सुन पूणिया श्रावक कुछ सोचने लगा तो श्रेणिक ने कहा–'आप चिंता न करें। मैं आपकी सामायिक मुफ्त में नहीं लूंगा। उसके लिए जितना पैसा लेना चाहो, ले लो।' पूणिया बोला–'मेरे पास जो कुछ है, वह आपका ही है। मैं आपके किसी काम आ सकूं, इससे बढ़कर मेरा क्या सौभाग्य होगा।' श्रेणिक सामायिक लेने के लिए तैयार और पूणिया देने के लिए तैयार, किंतु उसके मूल्य को लेकर समस्या खड़ी हो गई। आखिर दोनों भगवान के पास पहुंचे। श्रेणिक ने भगवान से सामायिक का मूल्य पूछा। भगवान बोले–'राजन्! एक सामायिक की दलाली का मूल्य तुम्हारे राज्य के समग्र वैभव से अधिक है। अब तुम्हीं सोच लो कि एक सामायिक का मूल्य कितना होगा।'

भगवान के इस कथन ने श्रेणिक को हतप्रभ बना दिया। आखिर वह समझ गया कि सामायिक समता की वह उत्कृष्ट साधना है, जिसके लिए हर भौतिक मूल्य अकिंचित्कर है। वह निःश्वास छोड़ता हुआ बोला–'भंते! क्या मैं मान लूं कि नरक मेरी भवितव्यता है?' भगवान ने इस सचाई को स्वीकार किया। इस घटना से यह बात सिद्ध होती है कि सामायिक की साधना के प्रसंग में पूणिया श्रावक का जो स्थान था, वह सम्राट श्रेणिक का भी नहीं था।

**21. 'आनंद' 'शिवानंदा' सह दस प्रमुखों में,**
**पहला श्रावक समभावक सुखों-दुखों में।**
**क्या जीवन जीया संयम श्रम समता का,**
**वह मौत भवाम्बुधि-पोत पवित्र पताका॥**

**22. दे दर्शन 'गौतम' अनिमिष-नयन निहारे,**
**यह अवधि तुम्हें! मा मृषा-वचन संथारे।**
**प्रभु-निर्देशन, गौतम! तुम सही नहीं हो,**
**प्रतिकार भूल का क्षमायाचना ही हो॥**

**23. आए गौतम अपना परिमार्जन करने,**
**आनंद-हृदय आनंद-स्रोत से भरने।**
**कैसा वह क्षमायाचना का अवसर था,**
**अद्‌भुत आत्मालोचन का अंतःस्वर था॥**

भगवान महावीर के दस प्रमुख श्रावकों में पहला नाम आनन्द का था। उसकी पत्नी का नाम शिवानन्दा था। आनन्द श्रावक सुख और दुःख में समभाव का साधक था। उसने संयम, श्रम और समता का जो जीवन जीया, वह विलक्षण था। उसकी मृत्यु भी संसार-समुद्र से पार पहुंचाने वाले पोत की पवित्र पतवार थी।

श्रावक आनन्द के अनशन-काल में गणधर गौतम ने उसको दर्शन दिए। आनन्द के मुंह से विशिष्ट अवधिज्ञान उपलब्ध होने की बात सुन वे विस्मित हो गए। कुछ क्षण अपलक देखते रहे। फिर बोले—'आनन्द! तुम्हें इतना बड़ा अवधिज्ञान हुआ है, यह बात सही नहीं लगती। इस समय तुम संथारे में हो। असत्य संभाषण मत करो। जो प्रमाद हो गया, उसकी आलोचना करो।'

आनन्द को दर्शन देकर लौटते समय गौतम अपने कथन पर संदिग्ध हो गए। उन्होंने स्थान पर पहुंचकर भगवान महावीर के सामने अपनी शंका रखी। भगवान ने निर्देश दिया—'गौतम तुम सही नहीं हो, क्योंकि आनन्द को वैसा अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। तुम्हारी इस भूल का प्रतिकार एक ही है—आनन्द के पास जाकर क्षमायाचना करना।'

अपनी भूल की जानकारी मिलते ही उसका परिशोधन करने के लिए गौतम पुनः आनन्द के घर गए। उनके दर्शन पाकर आनन्द के हृदय में

आनंद का स्रोत खुल गया। वह क्षमायाचना का विचित्र अवसर था। उस समय गौतम के अंतर्मन से निकली हुई आवाज अद्‌भुत आत्मालोचन की आवाज थी।

## भाष्य

उपासकदशा सूत्र में भगवान महावीर के प्रमुख दस श्रावकों का वर्णन है। उनमें प्रथम स्थान पर आनन्द का नाम है। वह वाणिज्यग्राम के कोल्लाग सन्निवेश में रहने वाला एक समृद्ध किसान था। उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं और चालीस हजार गायें थीं। उसने भगवान महावीर का प्रवचन सुना। उसके मन में निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसने श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर लिए। उसकी पत्नी शिवानन्दा भी बारहव्रती श्राविका बन गई।

आनन्द श्रावकधर्म की सम्यक् अनुपालना कर रहा था। उचित अवसर देखकर उसने एक-एक कर ग्यारह उपासक-प्रतिमा स्वीकार की। प्रतिमा का वहन करते हुए उसने विविध प्रकार की तपस्या की। उपयुक्त समय पर उसने अनशन (संथारा) स्वीकार किया। अनशन में उसको अवधिज्ञान उपलब्ध हुआ।

उन दिनों वाणिज्यग्राम के दूतिपलाश चैत्य में भगवान महावीर का आगमन हुआ। उस दिन गणधर गौतम के दो दिनों की तपस्या का पारणक था। दिन के तीसरे प्रहर में गौतम भिक्षा के लिए नगर में गए। उन्होंने लोगों के मुंह से आनन्द के अनशन का संवाद सुना। गौतम आनन्द को दर्शन देने के लिए उसकी पौषधशाला में गए।

गणधर गौतम के दर्शन पाकर आनन्द बहुत प्रसन्न हुआ। उसने निवेदन किया—'भंते! मैं शारीरिक अक्षमता के कारण आपके निकट आकर वंदन-नमस्कार करने में असमर्थ हूं। कृपा कर आप इधर पधारें और मेरी चरण-स्पर्श की भावना पूरी करें।' आनन्द की प्रार्थना पर गौतम उसके निकट गए। आनन्द ने तीन बार मस्तक झुकाकर उनके चरणों में वंदन-नमस्कार किया।

गणधर गौतम को वंदना कर आनन्द बोला—'भन्ते! गृहस्थ को गृहवास में रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है क्या?' गौतम ने आनन्द के इस

कथन को स्वीकृति दी तो आनन्द बोला—'भन्ते! मैं पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण समुद्र के पांच-पांच सौ योजन पर्यंत क्षेत्र को जानता-देखता हूं। उत्तर दिशा में चुल्लहिमवंत वर्षधर पर्वत पर्यंत क्षेत्र को जानता-देखता हूं। ऊर्ध्व दिशा में प्रथम देवलोक सौ धर्म कल्प तक जानता-देखता हूं तथा नीची दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्युत नरकावास पर्यंत क्षेत्र को जानता-देखता हूं।'

आनन्द की बात सुन गौतम बोले—'आनन्द! गृहस्थ को गृहवास में रहते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, पर इतना बड़ा नहीं। तुम इस कथन की आलोचना करो और मृषाभाषण के लिए प्रायश्चित्त रूप तप स्वीकार करो।' आनन्द ने गौतम से पूछा—'भंते! जिनशासन में सत्य संभाषण के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है क्या?' गौतम बोले—'नहीं, सत्य संभाषण के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।' इस पर आनन्द ने कहा—'भंते! तब तो आपको ही इस कथन के लिए आलोचना और प्रायश्चित्त स्वीकार करना होगा।'

श्रावक आनन्द के ऐसा कहने पर गौतम अपने प्रति संदिग्ध हो गए। वे सीधे भगवान महावीर के पास पहुंचे। उन्होंने भगवान को सारी घटना सुनाकर पूछा—'भंते! उस आलोचनीय स्थान का यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म श्रमणोपासक आनन्द को स्वीकार करना चाहिए या मुझे?' गौतम के प्रश्न को समाहित करते हुए भगवान ने कहा—'गौतम! आनन्द को उतना बड़ा अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। इसलिए आलोचना और प्रायश्चित्त करने के अधिकारी तुम हो। तुम जाओ और आनन्द से क्षमायाचना करो।'

गौतम ने भगवान के कथन को 'तहत्ति' ऐसा कहकर विनम्रतापूर्वक स्वीकार किया। वे तत्काल आनन्द की पौषधशाला में पहुंचे। उन्होंने सरलता से अपना प्रमाद स्वीकार किया, आनन्द के ज्ञान को सही बताया और प्रमाद के लिए उससे क्षमायाचना की। गौतम की उदारता के सामने आनन्द नतमस्तक था। एक महीने का अनशन संपन्न कर वह प्रथम स्वर्ग में पैदा हुआ। उसके श्रावक जीवन का कालमान बीस वर्षों का रहा।

**24. सद्दालपुत्र आजीवक-मत-अनुगामी,**
**सुर-प्रेरित श्रीप्रभुवर-चरणं प्रणमामि।**
**निर्मूल हो गई नियतिवाद की धारा,**
**श्री वर्धमान भगवान अटल ध्रुवतारा॥**

सद्दालपुत्र आजीवक मत का अनुगामी था। देववाणी से प्रेरणा पाकर वह भगवान महावीर के चरणों में प्रणत हुआ। भगवान से प्रतिबोध पाकर नियतिवाद से उसकी आस्था निर्मूल हो गई। भगवान वर्धमान (महावीर) के पुरुषार्थवादी अभिमत में उसकी आस्था ध्रुवतारे की तरह अटल हो गई।

## भाष्य

पोलासपुर नाम का नगर था। वहां सद्दालपुत्र (शकडालपुत्र) नाम का संपन्न कुंभकार रहता था। वह आजीवक मत का उपासक था। मिट्टी के पात्र बनाकर बेचना उसका प्रमुख व्यवसाय था। नगर में उसकी पांच सौ दुकानों वाली कुंभकारशाला थी। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। एक समय वह अशोकवनिका में बैठा धार्मिक चिन्तन कर रहा था। अचानक एक देव प्रकट होकर बोला–'देवानुप्रिय! कल तुम्हारे शहर में महामाहन आएंगे। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। तुम उनके पास जाना। उन्हें वंदन-नमस्कार करना। उनकी पर्युपासना करना। उन्हें पीढ़, फलक आदि देना।' सद्दालपुत्र ने सोचा–महामाहन, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तो मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक हैं। लगता है, वे कल यहां आएंगे। यह मेरा अहोभाग्य है। मैं उनकी सेवा करूंगा।

दूसरे दिन सूर्योदय के बाद सद्दालपुत्र गोशालक के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उस समय उसे संवाद मिला कि नगर के सहस्राम्रवन में भगवान महावीर आए हैं। कुछ क्षणों के लिए वह असमंजस में खो गया। देववाणी पर वितर्क पैदा हुआ, किंतु तत्काल ही उसने सोच लिया कि महावीर भी तो महामाहन हैं। संभव है, देव का संकेत इनके लिए ही हो। मुझे जाना चाहिए।

सद्दालपुत्र भगवान महावीर के समवसरण में गया। उसने प्रवचन सुना। प्रवचन के बाद भगवान ने उससे पूछा–'सद्दालपुत्र! कल अपराह्न में तुम्हें देव द्वारा कोई संकेत मिला था कि यहां महामाहन आने वाले हैं। तुमने उसे गोशालक के आगमन का संकेत समझा था। क्या यह बात सही है?' सद्दालपुत्र ने इस बात को स्वीकार किया तो भगवान बोले–'अब तो तुम समझ गए हो कि वह कथन गोशालक के लिए नहीं था।' सद्दालपुत्र ने इस कथन के साथ भी अपनी सहमति प्रकट की।

सद्दालपुत्र ने भगवान को अपनी कुम्भकारशाला में आने का अनुरोध किया। भगवान वहां पधारे और आज्ञा लेकर ठहर गए। सद्दालपुत्र मिट्टी के पात्रों को हवा में सुखाने के लिए उपस्थानशाला से बाहर ले जा रहा था। भगवान ने पूछा–'सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के पात्र कैसे निष्पन्न हुए हैं?' सद्दालपुत्र बोला–'भंते! पहले मिट्टी होती है। उसे पानी में भिगोया जाता है। उसके साथ राख और गोबर मिलाए जाते हैं। उसे चाक पर चढ़ाया जाता है। इस विधि से मिट्टी के अनेक प्रकार के पात्र बनाए जाते हैं।'

भगवान का दूसरा प्रश्न था–'सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के पात्र उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से बनते हैं या ऐसे ही बन जाते हैं?' सद्दालपुत्र बोला–'भंते! इनके निर्माण में उत्थान, कर्म आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। इनका बनना नियत था, ये बन गए।'

भगवान ने तीसरा प्रश्न पूछा–'सद्दालपुत्र! कोई पुरुष तुम्हारे हवा में सुखाए मिट्टी के पात्रों को चुरा ले, फोड़ दे, इधर-उधर कर दे अथवा तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ विपुल भोगों का भोग करे तो तुम उसे क्या दंड दोगे?' सद्दालपुत्र बोला–'भंते! मैं उस पुरुष पर आक्रोश करूंगा, उसे पीटूंगा और जान से मार डालूंगा।'

भगवान का चौथा प्रश्न था–'सद्दालपुत्र! तुम ऐसा कैसे करोगे? तुम तो मानते हो कि सब भाव नियत हैं। फिर वह पात्र फोड़ने वाला कौन है? तुम्हारी पत्नी के साथ भोग भोगने वाला कौन है? और उसे दंडित करने वाला कौन है? यदि कोई पुरुष ऐसा करता है और तुम उसे दंडित करने की बात सोचते हो तो क्या नियतिवाद की धारणा मिथ्या नहीं है?'

भगवान द्वारा उपस्थित प्रश्न ने सद्दालपुत्र को नियतिवाद के प्रति संदिग्ध कर दिया। अवसर देखकर भगवान ने उसको बोध दिया। वह संबुद्ध हो गया। उसने भगवान के पास धर्म सुनने की इच्छा प्रकट की। भगवान ने उसको उपदेश दिया। उस निर्ग्रंथ प्रवचन के प्रति आस्था व्यक्त की और वह बारहव्रती श्रावक बन गया। उसने अपनी पत्नी अग्निमित्रा को प्रेरणा दी। वह भी भगवान से प्रतिबोध पाकर श्राविका बन गई। भगवान वहां से विहार कर चले गए।

इधर गोशालक को सद्दालपुत्र के धर्मपरिवर्तन का संवाद मिला। वह उसे समझाने के लिए उसकी कुंभकारशाला में आया, किंतु सद्दालपुत्र ने

उसको अधिमान नहीं दिया। गोशालक को उससे यह आशा नहीं थी। उसे प्रभावित करने के लिए गोशालक ने भगवान महावीर का गुणानुवाद किया। सद्दालपुत्र ने गोशालक से पूछा–'देवानुप्रिय! आप मेरे धर्माचार्य भगवान महावीर के साथ धर्मचर्चा कर सकते हैं क्या?' गोशालक ने इसमें अपनी असमर्थता प्रकट की। सद्दालपुत्र बोला–'देवानुप्रिय! आपने मेरे धर्माचार्य का गुणोत्कीर्तन किया है, इसलिए मैं आपको कुंभकारशाला में ठहरने का अनुरोध करता हूं।'

गोशालक वहां ठहरा। उसने सद्दालपुत्र को समझाने का बहुत प्रयास किया, पर उसे सफलता नहीं मिली। निराश होकर उसने वहां से विहार कर दिया।

सद्दालपुत्र की उक्त घटना से दो बातें फलित होती हैं–अनाग्रह और सत्य के प्रति अटल आस्था। पहले आजीवक मत का अनुगामी होने के कारण वह पक्का नियतिवादी था, किंतु जब भगवान महावीर ने युक्तियां प्रस्तुत कर नियतिवाद की अयथार्थता प्रमाणित कर दी तो उसने निर्ग्रंथ प्रवचन स्वीकार कर लिया। यदि वह आग्रही होता तो तत्त्व समझने के बाद भी अपनी आस्था नहीं बदलता। वह जितना अनाग्रही था, सत्य के प्रति उतना ही आग्रही था। भगवान महावीर से उसने सत्य की उपलब्धि की। गोशालक ने उसे विचलित करने की पूरी कोशिश की, किंतु वह अडिग रहा। सचाई को समझकर उस पर अडिग रहने वाले श्रावक दूसरों के लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं।

**(सहनाणी)**

**25. अर्जुन-आतंक राजगृह में,**
**उस पार वीर का समवसरण।**
**भयभीत मौत-भय से श्रावक,**
**तत्रस्थ वंदना चरण-शरण।**
**चल पड़ा 'सुदर्शन' साहस धर,**
**'मुद्गरपाणी' पाणी-पाणी।**
**पहुंचाया वीर-पदाम्बुज में**
**इतिहास अभय की सहनाणी॥**

राजगृह के परिसर में मुद्‌गरपाणि यक्ष से आविष्ट अर्जुन नामक माली का आतंक फैला हुआ था। भगवान महावीर का समवसरण उस स्थान से आगे था। राजगृह के श्रावक समवसरण में जाने के लिए उत्सुक थे, किंतु मौत के भय से घबराकर वे बोले–'भगवान तो ज्ञानी हैं। वे सब कुछ जानते हैं। हम यहीं से वंदना कर भगवान की शरण स्वीकार कर रहे हैं।'

श्रावक सुदर्शन को उक्त विधि से वंदना करने की बात से संतोष नहीं हुआ। वह साहस कर समवसरण की दिशा में चल पड़ा। बीच में अर्जुन मिल गया। सुदर्शन को देखते ही मुद्‌गरपाणि पानी-पानी हो गया। वह अर्जुन के शरीर को छोड़कर चला गया। अर्जुन शिथिल होकर गिर पड़ा। सुदर्शन ने उसको सहारा देकर महावीर के चरण-कमलों तक पहुंचा दिया। सुदर्शन की अभय साधना का यह एक ऐतिहासिक उदाहरण है।

## भाष्य

मगध देश का प्रसिद्ध नगर राजगृह। नगर के बाहर फूलों का बगीचा। बगीचे में मुद्‌गरपाणि नामक यक्ष का मंदिर। वहां अर्जुन नाम का माली अपनी पत्नी बन्धुमती के साथ रहता था। वह यक्ष की पूजा करता और फूल बेचता था। एक दिन अर्जुन यक्ष की पूजा कर रहा था। दूसरी ओर बन्धुमती फूल बीन रही थी। उस समय नगर से छह मित्र बगीचे में आए। उनका चरित्र ऊंचा नहीं था। उन्होंने वहां बन्धुमती को देखा। उन पर कामुकता का नशा छा गया। उन्होंने अर्जुन को यक्ष की प्रतिमा से बांधा। बन्धुमती घबराई। वे उसके पीछे पड़ गए। उन्होंने उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया। अर्जुन अपनी आंखों से सब कुछ देख रहा था, पर बंधा हुआ होने के कारण वह विवश था। उसके मन में आक्रोश उभरा तथा आंखों से खून बरसने लगा।

रोषारुण अर्जुन ने यक्ष को आड़े हाथों लिया। उसने स्पष्ट चेतावनी देते हुए कहा कि इस अवांछनीय घटना का प्रतिकार नहीं हुआ तो वह पूरे यक्षायतन में तोड़-फोड़ कर देगा। अर्जुन के आवेश ने यक्ष को उत्तेजित किया। वह अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। अर्जुन की शक्ति बढ़ गई। उसने एक झटके से अपने बंधन तोड़ डाले। वह प्रतिमा के हाथ में रहे मुद्‌गर को लेकर दौड़ा। उसने मुद्‌गर के एक-एक प्रहार से उन छहों मित्रों

और बन्धुमती को परलोक पहुंचा दिया। फिर भी उसका आवेश शांत नहीं हुआ। वह नगर की ओर दौड़ा। मार्ग में उसे जो भी मिला, वह मारा गया। नगर में हाहाकार छा गया। राजा श्रेणिक तक बात पहुंची। राजा ने नगर के द्वार बंद करवा दिए। इधर अर्जुन ने यह संकल्प कर लिया कि वह प्रतिदिन छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या करेगा। इस संकल्प को पूरा करने के लिए वह हाथ में मुद्गर लिए नगर की चारदीवारी के पास घूमता रहता। कहीं भी कोई मनुष्य दिखाई देता, वह उसे मार डालता।

उन्हीं दिनों भगवान महावीर राजगृह पधारे। वे नगर से बाहर उद्यान में ठहरे। राजगृह की जनता भगवान के दर्शन पाने के लिए उत्सुक थी। राजा श्रेणिक भी दर्शन करना चाहता था, किंतु अर्जुन के भय से नगर के द्वार खोलने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने सोचा–भगवान सर्वज्ञ हैं। वे राजगृह की परिस्थिति को जानते-देखते हैं। हम यहीं से भगवान को वंदना कर संतोष का अनुभव करेंगे।

राजगृह में सुदर्शन नाम का एक सेठ था। उसने भी भगवान के आगमन के संवाद सुने। उसके मन में भगवान को वंदन-नमस्कार करने का भाव जागा। उसने अपने माता-पिता को सूचित कर उद्यान में जाने की आज्ञा मांगी। माता-पिता बोले–'पुत्र! यक्षाविष्ट अर्जुन उसी दिशा में है, जहां भगवान ठहरे हैं। इसलिए हम तुम्हें वहां जाने की अनुमति नहीं दे सकते। तुम यहीं से भगवान को वंदन-नमस्कार कर लो।'

सुदर्शन का मानस इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ। वह बोला–'भगवान यहां पधारे और मैं उनके पास न जाऊं, यह कैसे संभव है? आप मुझे आज्ञा दें, मैं वहीं जाकर दर्शन करूंगा।' सुदर्शन के माता-पिता उसे नहीं समझा पाए। आखिर उन्होंने उसको जाने की आज्ञा दे दी।

सुदर्शन भगवान के प्रवास-स्थल की ओर चला। यक्षायतन के निकट यक्षाविष्ट अर्जुन ने सुदर्शन को अपनी ओर आते देखा। वह कुपित हो मुद्गर को उछालता हुआ सुदर्शन की ओर बढ़ा। अर्जुन को आते देखकर भी सुदर्शन घबराया नहीं। वह अभय होकर वहीं खड़ा हो गया। उसने सागारी अनशन स्वीकार कर कायोत्सर्ग प्रतिमा का प्रयोग किया। अर्जुन के माध्यम से मुद्गरपाणि यक्ष ने मुद्गर को आकाश में उछाला, किंतु सुदर्शन पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। सुदर्शन की दृढ़ता के सामने यक्ष खड़ा

नहीं रह पाया। वह अर्जुन के शरीर को छोड़कर भाग खड़ा हुआ। यक्ष के जाते ही अर्जुन धड़ाम से गिर पड़ा। सुदर्शन ने उपसर्ग टला हुआ जान कायोत्सर्ग-प्रतिमा सम्पन्न की।

कुछ समय बाद अर्जुन स्वस्थ हुआ। उसने सुदर्शन का परिचय पूछा। सुदर्शन से सारी बात जानकर वह भी उसके साथ भगवान महावीर के समवसरण में पहुंच गया। भगवान का उपदेश सुन अर्जुन प्रतिबुद्ध हुआ। वह मुनि बनकर विशेष साधना में संलग्न हो गया। इस प्रसंग में सेठ सुदर्शन का श्रद्धाबल और संकल्पबल अत्यधिक मुखर है। सामने उपसर्ग देखकर भी वह प्रकंपित नहीं हुआ। इससे उसका मनोबल उजागर हुआ। सुदर्शन उपायज्ञ था। उपसर्ग की स्थिति पर विजय पाने के लिए उसने कायोत्सर्ग किया। इस प्रकार का कायोत्सर्ग 'अभिभव कायोत्सर्ग' कहलाता है। कायोत्सर्ग ने यक्ष को अविलंब अभिभूत कर लिया। इससे केवल सुदर्शन का उपसर्ग ही दूर नहीं हुआ, पूरा नगर आतंक मुक्त हो गया।

**(दोहा)**

**26. संख पोक्खली की कथा, सूत्र 'भगवती' सार।**
**'खमत-खामणा' सरल मन, अंतःशल्य निवार॥**

**27. मत हीला-निंदा करो, सुश्रावक है 'संख'।**
**'सुदक्खु'-जागरिए सतत, दृढ़धर्मी निश्शंक॥**

शंख, पोक्खलि आदि श्रावकों की कथा संक्षेप में भगवती सूत्र (12/1-29) में मिलती है। पोक्खलि आदि श्रावकों ने अपने भीतर का शल्य निकालकर सरल मन से शंख के साथ 'खमत-खामणा' किया।

शंख के प्रति शिकायत-भरे भाव देखकर भगवान ने पोक्खलि आदि श्रावकों से कहा–'श्रावको! आप शंख की अवहेलना और निंदा मत करो। यह सुश्रावक है, श्रावक की जागरिका 'सुद्रष्टा जागरिका' से जाग्रत है और वह असंदिग्ध रूप से दृढ़धर्मी है।'

## भाष्य

श्रावस्ती नाम की नगरी थी। वहां भगवान महावीर के अनेक श्रद्धालु श्रावक रहते थे। उनमें शंख, पोक्खली आदि प्रमुख थे। एक बार वहां भगवान महावीर का आगमन हुआ। नगरी से बाहर कोष्ठक चैत्य में

भगवान ठहरे। नागरिक जन वहां गए। भगवान ने प्रवचन किया। नागरिक चले गए। शंख, पोक्खली आदि श्रावक भगवान के निकट गए। उन्होंने कुछ प्रश्न पूछे। भगवान से समाधान पाकर वे कोष्ठक चैत्य से बाहर आ गए। अपने-अपने घरों की ओर अभिमुख श्रावकों को संबोधित कर शंख बोला–'देवानुप्रियो! आज हम विपुल मात्रा में भोजन-पानी की व्यवस्था करें, सामूहिक भोजन करें और पाक्षिक पौषध कर धर्मजागरणा करें।'

शंख का प्रस्ताव सबको पसंद आया। वे सब अपने-अपने घर गए। भोजन तैयार करवाया। उसके बाद वे निर्धारित स्थान पर एकत्रित हो गए। प्रायः सभी श्रावक आ चुके थे, पर शंख नहीं पहुंचा। वहां उपस्थित श्रावकों ने परस्पर विचार कर शंख को बुलावा भेजने का निर्णय लिया। इस निर्णय के बाद श्रावक पोक्खली बोला–'बंधुओ! आप शांति से बैठें, विश्राम करें, मैं शंख को बुलाकर लाता हूं।'

उधर घर पहुंचते ही शंख के विचार बदल गए। उसने सोचा– आज पाक्षिक प्रतिक्रमण का दिन है। आज आरंभ-समारंभ से विरत हो पौषधशाला में विशेष धर्माराधना के साथ पौषध करना चाहिए। इस चिंतन के बाद उसने अपनी पत्नी उत्पला को सूचित किया और पौषधशाला में जाकर पौषध स्वीकार कर लिया। साधनारत होने के कारण वह सामूहिक भोजन के लिए निर्धारित स्थान पर नहीं पहुंच सका।

शंख को बुलाने के लिए पोक्खली उसके घर पहुंचा। पोक्खली को घर आया देख शंख की पत्नी उत्पला ने उसका आदर-सत्कार किया। पोक्खली ने शंख के बारे में पूछताछ की। उत्पला ने बताया कि वह पौषधशाला में पौषध कर रहा है। पोक्खली वहां से सीधा पौषधशाला में गया। उसने प्रतीक्षारत श्रावकों का हवाला देते हुए शंख को चलने का अनुरोध किया। शंख बोला–'बंधुप्रवर! मैंने यहां प्रतिपूर्ण पौषध स्वीकार कर लिया, इसलिए मैं आपके साथ चलने में असमर्थ हूं।' यह बात पोक्खली को प्रिय नहीं लगी। वह वहां से चलकर श्रावकों के पास पहुंचा। उसने शंख के नहीं आने की सूचना देकर कहा–'अब आप लोग भोजन करने के लिए स्वतंत्र हैं।' सब श्रावकों ने भोजन किया और वे पाक्षिक पौषध स्वीकार कर धर्मजागरणा में लीन हो गए।

दूसरे दिन प्रातःकाल शंख ने भगवान महावीर के दर्शन करने के बाद पौषध संपन्न करने का निर्णय लिया। वह समय पर भगवान के चरणों में

पहुंचा। पोक्खली आदि श्रावक भी वहां उपस्थित थे। भगवान ने धर्मदेशना दी। श्रावक संतुष्ट हुए। भगवान को वंदन कर वे शंख के पास गए और उपालंभ की भाषा में बोले–'वाह! शंखजी! आपने हमारे साथ यह कैसा धोखा किया! आपके निर्देश से ही तो हमने भोजन तैयार करवाया और आप ही नहीं आए।'

श्रावकों के संवाद को बीच में ही रोकते हुए भगवान बोले–'आर्यो! तुम शंख श्रावक की अवहेलना, निंदा, खिंसा, गर्हा और अवमानना मत करो। शंख श्रावक प्रियधर्मी है, दृढ़धर्मी है और 'सुद्रष्टा की जागरिका' से जाग्रत है।' भगवान के वचन सुनकर सब श्रावक घबरा गए। उन्होंने विनयपूर्वक भगवान को वंदन किया। उसके बाद वे फिर शंख श्रावक के पास गए। उन्होंने विनयपूर्वक शंख से क्षमायाचना की।

प्रस्तुत प्रसंग की समीक्षा की जाए तो सामान्यतः यह प्रतीति हो सकती है कि शंख का व्यवहार छलनापूर्ण था, किंतु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि भगवान के मन में शंख के प्रति राग नहीं था व अन्य श्रावकों के प्रति द्वेष नहीं था। उन्होंने शंख की प्रशंसा करके यह प्रमाणित कर दिया कि उसका दृष्टिकोण गलत नहीं था। एक मात्र आध्यात्मिक प्रेरणा से ही उसने पौषधशाला में पौषध किया था। श्रावकों द्वारा क्षमायाचना की बात से भी एक बोधपाठ मिलता है कि जहां कहीं व्यवहार का अतिक्रमण हो, वहां क्षमायाचना का मार्ग ही प्रशस्त है।

## आगम-युग की श्राविकाएं

**(वंदना आनंद)**

**28. नृप सहस्रानीक-पुत्री 'जयंती' सुश्राविका,**
**प्रथम सेज्जातरी गहरी धर्म-मर्म-प्रभाविका।**
**भाग्य की क्या बात, वर्णित ख्यात देखो 'भगवती',**
**प्रवर प्रश्नोत्तर विधा से सती-महिमा महकती॥**

**29. जीव क्यों भारी बने? हल्का बने? जिज्ञासितं,**
**निज शुभाशुभ वृत्ति से ही जयंती! जिनभाषितं।**
**जीव सोते-जागते बलवान या निर्बल भले?**
**उद्यमी या आलसी? यों मुक्त प्रश्नोत्तर चले॥**

कौशाम्बी-नरेश सहस्रानीक की पुत्री जयन्ती एक विशिष्ट श्राविका थी। वह भगवान महावीर के साधु-साध्वियों की प्रथम शय्यातरी और गंभीरता से धर्म के मर्म को समझने-समझाने वाली थी। उसके भाग्य की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। उसका इतिहास भगवती सूत्र के बारहवें शतक में मिलता है। उसने प्रश्नोत्तर की श्रेष्ठ विधा से स्वयं को महिमामंडित कर लिया।

श्राविका जयन्ती ने भगवान से जिज्ञासा की—'भंते! जीव हलका और भारी कैसे बनता है?' भगवान ने उत्तर दिया—'जयन्ती! जीव अपनी शुभ और अशुभ प्रवृत्ति से ही हलका-भारी बनता है।' इस प्रकार भगवान और जयंती के बीच मुक्तता के साथ प्रश्नोत्तर चले। उनमें से कुछ प्रश्न ये हैं—'भंते! जीव सोते अच्छे हैं या जागते? बलवान अच्छे हैं या निर्बल? उद्यमी अच्छे हैं या आलसी?'

## भाष्य

कौशाम्बी नगरी में जयन्ती नाम की प्रसिद्ध श्राविका रहती थी। वह सहस्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की बहन और उदयन राजा की बुआ थी। वह जितनी रूप-लावण्य संपन्न थी, उतनी ही तत्त्वज्ञा थी। वह धर्म के मर्म को समझने वाली थी। भगवान महावीर के साधु-साध्वियों की प्रथम शय्यातरी थी—सबसे पहले अपने मकान में रहने की प्रार्थना करने वाली थी। वह समय-समय पर भगवान महावीर की उपासना करके अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया करती थी।

श्राविका जयन्ती के जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उस समय की सामाजिक स्थिति स्त्रियों के अनुकूल थी। धर्मोपासना, धर्मजिज्ञासा और साधुओं को दान देने के प्रसंग में उनका अच्छा वर्चस्व था। जयन्ती समर्थ राजपुत्री थी। भगवान महावीर और उनके शिष्यों के प्रति उसका प्रशस्त धर्मानुराग था। संभव है, जयन्ती का मकान नगर के बाहर था, इसलिए कौशाम्बी आने वाले साधु-साध्वियों को वहां ठहरने में सुविधा रहती थी। वह जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का गहरा ज्ञान रखती थी। भगवान महावीर के साथ हुई उसकी धर्मचर्चा की संक्षिप्त-सी सूचना प्रस्तुत पद्यों में मिलती है। भगवती सूत्र (12/41-65) में उसके अनेक

प्रश्न और भगवान के यौक्तिक उत्तर उपलब्ध हैं। यहां केवल उनतीसवें पद्य में संकेतित प्रश्न और उनके उत्तर संक्षेप में उद्धृत किए जा रहे हैं–

**प्रश्न–**भंते! जीव भारी कैसे होते हैं?

**उत्तर–**जयन्ती! प्राणातिपात आदि पापस्थानों में प्रवृत्त होने से।

**प्रश्न–**भंते! जीव हलके कैसे होते हैं?

**उत्तर–**जयन्ती! प्राणातिपात आदि पापस्थानों में विरत होने से।

**प्रश्न–**भंते! जीवों का सोना अच्छा है या जागना?

**उत्तर–**जयन्ती! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।

**प्रश्न–**भंते! किस अपेक्षा से कहा जाता है कि कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है?

**उत्तर–**जयन्ती! अधार्मिक जीवों का सोना अच्छा है, क्योंकि वे सोते हुए क्रूर एवं अधार्मिक प्रवृत्तियों से विरत रहते हैं। धार्मिक जीवों का जागना अच्छा है, क्योंकि वे जाग्रत रहते हुए धर्माचरण में रत रहते हैं।

**प्रश्न–**भंते! जीवों का बलवान होना अच्छा है या दुर्बल होना अच्छा है?

**उत्तर–**जयन्ती! कुछ जीवों का बलवान होना अच्छा है और कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है।

**प्रश्न–**भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जाता है कि कुछ जीवों का बलवान होना अच्छा है और कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है?

**उत्तर–**जयन्ती! अधार्मिक जीवों का दुर्बल होना अच्छा है और धार्मिक जीवों का बलवान होना अच्छा है।

**प्रश्न–**भंते! जीवों का उद्यमी होना अच्छा है या आलसी होना अच्छा है?

**उत्तर–**जयन्ती! कुछ जीवों का उद्यमी होना अच्छा है और कुछ जीवों का आलसी होना अच्छा है।

**प्रश्न**—भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जाता है कि कुछ जीवों का उद्यमी होना अच्छा है और कुछ जीवों का आलसी होना अच्छा है?

**उत्तर**—जयन्ती! अधार्मिक जीवों का आलसी होना अच्छा है और धार्मिक जीवों का उद्यमी होना अच्छा है।

इनके अतिरिक्त जीवों के द्वारा संसार को अपरिमित व परिमित, दीर्घकालिक व अल्पकालिक करने, जीवों की भव्यता, अभव्यता, भव्य जीवों की मोक्षगामिता, भव्य जीवों से संसार की शून्यता, इंद्रियों की वशवर्तिता से होने वाले बंधन आदि के विषय में श्राविका जयन्ती ने अनेक गंभीर प्रश्न किए। भगवान ने एक-एक कर सब प्रश्नों को समाहित कर दिया। उनके समाधानों से केवल जयंती श्राविका ही लाभान्वित नहीं हुई, समवसरण में उपस्थित अन्य लोगों को भी नया प्रकाश मिला। भगवती सूत्र का स्वाध्याय करने वाले लोग वर्तमान में भी इस प्रश्नोत्तर शैली में हुई धर्मचर्चा से लाभान्वित हो सकते हैं।

**(रामायण)**

**30. 'अम्बड़' संन्यासी ने की कड़ी कसौटी,**
**'सुलसा' जीवन की रही उच्चतम कोटी।**
**'रेवती' सती ने जीवन धन्य बनाया,**
**जिससे प्रभुवर ने 'पाक बिजोरा' पाया॥**

सुलसा सम्राट श्रेणिक के रथिक 'नाग' की पत्नी थी। भगवान महावीर की विशिष्ट श्राविकाओं में एक नाम उसका था। अम्बड़ संन्यासी ने सुलसा की कड़ी कसौटी की। उसमें वह खरी उतरी। यह सुलसा के जीवन में व्याप्त उच्च धार्मिकता का प्रमाण है।

भगवान महावीर की परम उपासिका रेवती मींढ़ागांव नामक नगर की रहने वाली थी। उसके घर में एक बार बिजोरा पाक बनाया गया। भगवान ने सिंह मुनि को भेजकर वह पाक मंगाया। रेवती ने अपने जीवन में धन्यता का अनुभव किया।

## भाष्य

1. मगध के सम्राट श्रेणिक के एक रथिक का नाम था नाग। वह श्रेणिक का विश्वासपात्र और प्रीतिपात्र सारथि था। वह राजगृह में रहता

था। उसकी पत्नी का नाम सुलसा था। वह पतिव्रता और दृढ़धर्मिणी महिला थी। वह भगवान महावीर की प्रमुख श्राविकाओं में एक थी। सुलसा की धर्मसाधना में रूढ़ता नहीं थी। उसने भगवान द्वारा निरूपित समत्व को जीने का अभ्यास किया था। एक बार देवेन्द्र ने देवसभा में उसके समत्वभाव की प्रशंसा की। एक देव ने उसकी परीक्षा ली। उस परीक्षा में सुलसा पूरी तरह से उत्तीर्ण हुई।

महावीर युग में अम्बड़ नाम का एक संन्यासी था। वह बेले-बेले की तपस्या करता और श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता था। तपस्या के बल से उसे अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त हो गई थीं। एक बार वह चंपानगरी में भगवान महावीर का प्रवचन सुनने गया। प्रवचन सुनकर जाते समय वह बोला—'मैं यहां से राजगृह जा रहा हूं। अवसर हो तो आप भी कभी राजगृह पधारने की कृपा करना।' भगवान ने प्रसंगवश कहा—'वहां सुलसा श्राविका है। वह श्रद्धा में बहुत पक्की है।' अम्बड़ ने सोचा—भगवान जिसकी इतनी प्रशंसा कर रहे हैं, उसकी परीक्षा करनी चाहिए।

अम्बड़ संन्यासी राजगृह पहुंचा। लोगों को प्रभावित करने के लिए उसने वैक्रिय लब्धि का प्रयोग किया। वह एक प्रसिद्ध संन्यासी का रूप बनाकर नगर के पूर्व दिशा के द्वार पर बैठ गया। हजारों लोग उसे देखने गए, पर सुलसा नहीं गई। दूसरे दिन उसने दक्षिण दिशा के द्वार पर दूसरे संन्यासी का रूप बनाया। लोगों का मेला लग गया, पर सुलसा नहीं गई। तीसरे दिन पश्चिम दिशा के द्वार पर वह फिर नया रूप बनाकर उपस्थित हुआ। शहर में उसके चमत्कारों की चर्चा थी। लोगों के झुण्ड के झुण्ड उस दिशा में गए, पर सुलसा नहीं गई। चौथे दिन उसने उत्तर दिशा में भगवान महावीर का रूप बनाकर समवसरण की रचना की। महावीर के नाम से लोग उमड़ पड़े। सुलसा को भी सूचना मिली, किंतु उसके मन में कोई उत्सुकता नहीं जागी।

सुलसा किसी भी दिन अम्बड़ संन्यासी के पास नहीं गई तो वह स्वयं महावीर के रूप में सुलसा के घर पहुंच गया। सुलसा को संबोधित कर उसने कहा—'बहन! तू मेरे प्रति इतनी श्रद्धा रखती है, फिर भी दर्शन करने क्यों नहीं आई?' सुलसा बोली—'मेरी श्रद्धा भगवान महावीर के प्रति है।' अम्बड़ ने पूछा—'क्या मैं महावीर नहीं हूं?' सुलसा ने उत्तर दिया—'मेरे

धर्माचार्य भगवान महावीर अभी श्रावस्ती नगरी में प्रवास कर रहे हैं। वे यहां कैसे आएंगे?' अम्बड़ ने कहा–'मैं महावीर क्यों नहीं हूं?' सुलसा बोली–'भगवान महावीर की आंखें कभी क्रोध से लाल नहीं होती। आपकी आंखों में क्रोध की लालिमा उतर रही है। आप कभी महावीर नहीं हो सकते।'

अम्बड़ सुलसा की दृढ़ता देखकर विस्मित रह गया। अपने मूल रूप में प्रकट होकर वह बोला–'सुलसा! तुम कसौटी पर खरी उतरी हो। भगवान महावीर ने तुम्हारी प्रशंसा में जो शब्द कहे, तुमने उनको सत्यापित कर दिया। इससे मैं आज बहुत प्रसन्न हूं।' सुलसा ने अम्बड़ को पहचान लिया। उससे भगवान का सुख-संवाद पूछा। महावीर का भक्त होने के नाते उसे साधर्मिक भाई मानकर उसका सम्मान किया।

धर्म और धर्माचार्य के प्रति जिसकी आस्था निश्छिद्र होती है, वही व्यक्ति सुलसा जैसी दृढ़ता रख सकता है। अन्यथा जिज्ञासा और कुतूहलवश व्यक्ति कहीं भी चला जाता है। ऐसी श्राविकाएं भी सौभाग्यशालिनी होती हैं, जो अपने धर्मगुरुओं के मन में स्थान बना पाती हैं।

2. भगवान महावीर एक बार श्रावस्ती नगरी पधारे। आजीवक मत का प्रवर्तन करने वाला मंखलिपुत्र गोशालक भी वहीं था। उसने लोगों में अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैला दी। भगवान महावीर ने उनका निराकरण किया। इससे गोशालक का आक्रोश बढ़ा। वह भगवान के समवसरण में गया। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामक मुनियों ने गोशालक के कथन का प्रतिवाद किया। गोशालक ने दोनों मुनियों पर तेजोलब्धि का प्रयोग किया। मुनि दिवंगत हो गए। भगवान महावीर ने गोशालक के उस अतीत को उजागर किया, जो उसने भगवान की सन्निधि में जीया था। इससे वह अपना आपा भूल गया। उसने क्रुद्ध होकर भगवान पर तेजोलब्धि का प्रयोग किया। चरमशरीरी होने के कारण उस लब्धिप्रयोग से भगवान का शरीरान्त नहीं हुआ। भगवान के शरीर को झुलसाकर वह शक्ति पुनः गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई।

तेजोलब्धि के प्रभाव से भगवान महावीर के शरीर में पित्तज्वर हो गया। उसके कारण भगवान को छह महीनों तक खून के दस्त लगे। उस समय भगवान श्रावस्ती नगरी से विहार कर 'मींढाग्राम' नाम के नगर में

पधारे। वहां रेवती नाम की श्राविका रहती थी। वह भगवान महावीर के प्रति विशेष श्रद्धा रखती थी। उसके घर में कूष्माण्डपाक और बिजोरापाक बने थे।

भगवान ने सिंह नामक मुनि को बुलाकर कहा–'सिंह! तुम उपासिका रेवती के घर जाओ। उसके घर में दो प्रकार के पाक हैं। उसने कूष्माण्डपाक मेरे लिए बनाया है। वह अकल्प्य है। दूसरा बिजोरापाक उसने अपने घोड़े के लिए बनाया है। वह ले आना।'

सिंह मुनि प्रसन्न होकर रेवती के घर गए। रेवती ने उनके आने का प्रयोजन पूछा। सिंह मुनि ने कूष्माण्डपाक को अकल्प्य बताकर बिजोरापाक लेने की इच्छा प्रकट की। रेवती बोली–'मुनिप्रवर! मेरे मन का रहस्य आपको कैसे ज्ञात हुआ?' सिंह मुनि ने कहा–'श्राविका रेवती! भगवान महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। उन्होंने ही मुझे इस रहस्य से परिचित किया।' यह सुनकर रेवती अत्यधिक प्रसन्न हुई। उसने उत्साह के साथ सिंह मुनि को बिजारोपाक का दान दिया। उस पाक का सेवन करने से पित्तज्वर शांत हुआ। भगवान पूर्णरूप से स्वस्थ हो गए।

भगवान ने अपनी ओर से सिंह मुनि को प्रेरणा देकर श्राविका रेवती के घर भेजा था। इससे रेवती के सौभाग्य का अनुमान लगाया जा सकता है। भाग्य के बिना ऐसा मौका किसी को सुलभ नहीं हो सकता।

**(वंदना आनंद)**

**31. शील-रक्षा के लिए सविवेक प्राणों की बली,**
**सन्न-सा रह गया सारथि 'धारिणी' खिलती कली।**
**परिस्थितियों से बनी बलशालिनी वह 'चंदना',**
**धन्य 'तुलसी' धन्य सौ-सौ बार विधिवत वंदना॥**

चंपानगरी के राजा दधिवाहन की रानी का नाम धारिणी था। वह खिलती हुई कली जैसी कोमल थी। फिर भी उसने शील की रक्षा के लिए विवेकपूर्ण अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। उसके इस साहस को देखकर सारथि स्तब्ध रह गया।

धारिणी की पुत्री चंदना के जीवन में भी विकट परिस्थितियां आईं। उनसे उसका आत्मबल बढ़ता गया। आगे जाकर वह साध्वी बन गई। उस साहसी साध्वी को सौ-सौ बार साधुवाद के साथ सविधि वंदना करता हूं।

# भाष्य

चम्पा नाम की नगरी में राजा दधिवाहन राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम वसुमती था। कौशाम्बी नरेश शतानीक ने अचानक चम्पा पर आक्रमण कर दिया। रातोंरात नगरी शत्रुसेना से घिर गई। दधिवाहन का मन उद्विग्न हो गया। बिना प्रयोजन होने वाले रक्तपात से बचने के लिए वह पलायन कर गया। शतानीक ने नगरी को लूटने की घोषणा कर दी। सैनिक नागरिकों के घरों पर टूट पड़े। लूट-खसोट के उस सिलसिले में एक सैनिक राजमहल में घुस गया। उसने महारानी धारिणी और राजकुमारी वसुमती को अपने अधिकार में ले लिया। उसका लक्ष्य था कि वह महारानी को अपनी पत्नी बनाएगा और राजकुमारी का विक्रय कर धन प्राप्त करेगा।

महारानी धारिणी ने स्थिति की विकटता का अनुमान लगा लिया। उस अधम नर ने ज्योंही धारिणी का शील लूटना चाहा त्योंही धारिणी ने अपनी जीभ खींचकर शील-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग कर दिया। इस घटना ने सैनिक को चिंतित कर दिया। उसने सोचा—राजकुमारी भी अपनी मां की तरह प्राण त्याग देगी तो मुझ पर दोहरी मार होगी। इस चिन्तन के फलस्वरूप सैनिक ने वसुमती के साथ किसी प्रकार की ज्यादती नहीं की। वह उसे दासों के बाजार में ले गया। वहां अनेक लोग दास-दासी खरीद रहे थे। उसी बाजार में श्रेष्ठी धनावह भी खड़ा था। उसने कन्या को देखा। अलंकारों के बिना भी वह अत्यधिक सुंदर दीख रही थी।

धनावह ने अनुभव किया कि वसुमती किसी राजा या सेठ की पुत्री होनी चाहिए। इसे किसी विपत्ति का सामना न करना पड़े, ऐसा सोच उसने ऊंची कीमत पर वसुमती को खरीद लिया। वह उसे अपने घर ले आया। परिचय पाने की दृष्टि से श्रेष्ठी ने पूछा—'देवि! तुम कौन हो?' वसुमती मौन रही। श्रेष्ठी ने उसको पुत्री के रूप में स्वीकार कर लिया। वसुमती वहां सुखपूर्वक रहने लगी। उसने अपने शील और विनय से सबका अपनत्व पा लिया। लोग कहते—'यह स्वभाव से चंदन है।' उसका दूसरा नाम चंदना हो गया।

श्रेष्ठी की पत्नी का नाम मूला था। वह चंदना से ईर्ष्या करने लगी। 'कौन जाने, कब यह श्रेष्ठी इसे अपनी पत्नी बना ले? फिर मैं घर की

स्वामिनी नहीं रहूंगी।' इस चिंतन ने उसको संदिग्ध बना दिया। एक दिन श्रेष्ठी घर आया। चंदना जल का बर्तन लेकर श्रेष्ठी के पास गई। श्रेष्ठी ने उसे रोका। पर वह उसके पांव धोने लगी। उसके केश बहुत लंबे व सुंदर थे। वे जमीन पर फैलने लगे। श्रेष्ठी ने उनको व्यवस्थित कर दिया।

मूला झरोखे में बैठी यह दृश्य देख रही थी। उसका संदेह विश्वास में बदल गया। उसने उस व्याधि का मूल काट डालने का निर्णय ले लिया। दूसरे दिन श्रेष्ठी बाहर गया। मूला ने नाई को बुला चंदना का सिर मुंडा दिया। उसके हाथों-पांवों में हथकड़ी और बेड़ी डालकर उसको तलघर में छोड़ दिया। मूला ने घर के नौकरों को सचेत करते हुए कहा–'किसी ने श्रेष्ठी को इसके बारे में सूचना दी तो उसे इस घर में स्थान नहीं मिलेगा।' नौकर भयभीत हो गए। मूला बाहर चली गई।

समय पर श्रेष्ठी घर आया। उसने चंदना के बारे में पूछताछ की। किसी ने कुछ नहीं कहा। श्रेष्ठी ने सोचा कि वह सो गई होगी। दूसरे दिन भी चंदना दिखाई नहीं दी। तीसरे दिन श्रेष्ठी ने गंभीरता से पूछा। एक बूढ़ी दासी ने बता दिया कि वह तलघर में है। श्रेष्ठी ने तलघर का कपाट खोला। भूख से व्याकुल चंदना को देखा। रसोईघर में कुछ नहीं था, केवल थोड़े-से उबले हुए उड़द पड़े थे। उन्हें छाज के एक कोने में रखकर चंदना को दिए और स्वयं बेड़ियां तुड़वाने के लिए लुहार को बुलाने गया।

देहली के बीच में बेड़ी से बंधी चंदना के आगे उबले हुए उड़द रखे थे। सहसा उसे अपने अपहरण की बात याद आ गई। उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। उसी समय वहां भगवान महावीर आ गए। उसने पूछा–'भंते! आपके लिए ये उड़द कल्पनीय हैं?' महावीर ने हाथ फैलाकर उड़द की भिक्षा ग्रहण की। 'अहो दानं-अहो दानं' की दिव्य ध्वनि के साथ पांच दिव्य प्रकट हुए। बेड़ियां अपने आप टूट गईं। हथकड़ियां हाथ के कंगनों में बदल गईं। चंदना के सिर पर पुनः बाल आ गए।

अपहरण, मां का वियोग, विक्रय, मूला का दुर्व्यवहार आदि प्रतिकूल परिस्थितियों से चंदना विचलित हो सकती थी। नियति का योग, एक राजकुमारी को कितना सहना पड़ा! पर उसका धृतिबल इतना प्रबल था कि वह एक क्षण के लिए भी व्यथित नहीं हुई। उसने हर परिस्थिति को कर्मों का फल मानकर समभाव से सहन किया। उसकी आश्चर्योत्पादक

धृति को देखकर ग्रंथकार ने उसको साधुवाद देकर ही संतोष नहीं किया। उन्होंने उसके साध्वी रूप का स्मरण कर उसे शतशः वंदना की है।

जैन परंपरा में साधु-साध्वियां दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ साधु-साध्वी को वंदना-नमस्कार करें, यह आगमकाल का विधान रहा है। इसमें कब परिवर्तन हुआ? शोध का विषय है। पर विगत हजार से भी अधिक वर्षों से प्रचलित परंपरा के अनुसार हर रत्नाधिक साध्वी एक दिन के दीक्षित साधु को वंदना करती आ रही है। भगवान महावीर के समता दर्शन को आत्मसात करने वाला आचार्यश्री तुलसी का मन इस परंपरा से उद्वेलित हो गया। उन्होंने अपने धर्मसंघ में साधुओं को भी साध्वियों का अभिवादन करने का निर्देश देकर एक नई क्रांति का सूत्रपात कर दिया। कई प्रसंगों में उन्होंने स्वयं बद्धांजलि हो साध्वियों का अभिवादन कर दर्शकों को चौंका दिया। साहित्य अपने युग का आईना होता है। आचार्यश्री ने अपनी कृति श्रावक-संबोध में महावीर-युग की साध्वीप्रमुखा चंदनबाला को वंदना कर एक दृष्टि से अपने चिंतन की क्रियान्विति को स्थायित्व दे दिया।

**32. द्वार चम्पा के खुले विश्रुत 'सुभद्रा'-शील से,**
**चकित-विस्मित लोग उसकी ओजपूर्ण अपील से।**
**मैं निकालूं कूप-जल चालनी कच्चे सूत से,**
**संघ की सुषमा 'सुभद्रा' के सशक्त सबूत से॥**

यह बात प्रसिद्ध है कि सती सुभद्रा ने अपने शील के प्रभाव से चम्पा के बंद द्वार खोल दिए। द्वार खोलने से पहले उसने ओजभरे शब्दों में आह्वान करते हुए कहा—'मैं कच्चे धागे से चलनी बांधकर कुएं से पानी निकाल रही हूं।' उसकी अपील सुनकर लोग विस्मित हो गए। सुभद्रा ने अपने सतीत्व का जो पक्का प्रमाण प्रस्तुत किया, उससे जैनशासन की गरिमा बढ़ी।

## भाष्य

बसंतपुर नगर। जितशत्रु राजा। जिनदास मन्त्री। जिनदास की पत्नी तत्त्वमालिनी। जिनदास की पुत्री सुभद्रा। सुभद्रा बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति की बालिका थी। लोगों में उसके गुणों की चर्चा थी। सुभद्रा ने

यौवन की दहलीज पर पांव रखा। योग्य वर की खोज होने लगी। जिनदास का मानसिक संकल्प था कि वह अपनी पुत्री का विवाह जैन युवक के साथ ही करेगा।

चंपानगर में बुद्धदास नाम का एक युवक था। वह बौद्धधर्म का अनुयायी था। उसने एक बार सुभद्रा को देखा। वह उसके रूप, लावण्य और गुणों पर अनुरक्त हो गया। उसके लिए सुभद्रा की मांग की गई। जिनदास ने उसकी धार्मिक आस्था को देखते हुए उस संबंध को अस्वीकार कर दिया। बुद्धदास ने अस्वीकृति के कारण का पता लगाया। उसने समझ लिया कि सुभद्रा को पाने के लिए जैन श्रावक होना जरूरी है। वह छद्म श्रावक बना। उसके जीवन में धर्म रम गया। उसने साधुओं के सामने सही स्थिति स्पष्ट कर अणुव्रत स्वीकार कर लिए। लोगों की दृष्टि में वह पक्का श्रावक बन गया। जिनदास ने बुद्धदास को धर्मनिष्ठ और जैन श्रावक समझकर उसके साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया।

सुभद्रा ससुराल गई। वहां वह बुद्धदास के साथ अलग घर में रहने लगी। वह बौद्ध भिक्षुओं की भक्ति नहीं करती थी, इस बात को लेकर उसकी सास और ननद दोनों उससे नाराज थीं। एक दिन उन्होंने बुद्धदास से कहा—'सुभद्रा का आचरण ठीक नहीं है। श्वेतवस्त्रधारी जैन मुनियों के साथ उसके गलत संबंध हैं।' बुद्धदास ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया।

एक दिन सुभद्रा के घर एक जिनकल्पी मुनि भिक्षा लेने आए। सुभद्रा ने उनको भक्तिपूर्वक भिक्षा दी। उसने मुनि की ओर देखा तो उनकी आंख में फांस अटक रही थी और उससे पानी बह रहा था। सुभद्रा जानती थी कि जिनकल्पी मुनि किसी भी स्थिति में अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करते। इसलिए उसने अपनी जीभ से मुनि की आंख में अटकी फांस निकाल दी। ऐसा करते समय सुभद्रा के ललाट पर लगी सिंदूर की बिंदी मुनि के भाल पर लग गई।

सुभद्रा की ननद खड़ी-खड़ी सब कुछ देख रही थी। वह ऐसे ही अवसर की टोह में थी। उसने अपनी मां को सूचित किया। मां-बेटी ने बुद्धदास को बुलाकर कहा—'तुम अपनी आंखों से देख लो।' बुद्धदास ने उन पर विश्वास कर लिया। सुभद्रा के प्रति उसका व्यवहार बदल गया।

सुभद्रा पर दुश्चरित्रा होने का कलंक आया। जिनकल्पी मुनि पर कलंक आया और जैनधर्म की छवि धूमिल हो गई। सुभद्रा के लिए वह स्थिति असह्य हो गई। उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक वह कलंकमुक्त नहीं होगी, तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करेगी। इस प्रतिज्ञा के बाद वह कायोत्सर्ग करके बैठ गई। रात्रि में देव प्रकट होकर बोला—'देवि! मैं आपके लिए क्या करूं?' सुभद्रा बोली—'जिनशासन की अवज्ञा से मैं दुःखी हूं।' देव बोला—'मैं चंपा के चारों दरवाजे बंद कर दूंगा। उसके बाद यह घोषणा करूंगा कि जो पतिव्रता होगी, वही इसे खोल सकेगी। उन दरवाजों को तुम्हीं खोलोगी। इससे जिनशासन का अपयश धुल जाएगा।'

सुभद्रा के तीन दिन की तपस्या हो गई। चौथे दिन लोग सोकर उठे तो चम्पा के चारों दरवाजे बन्द थे। द्वारपालों ने बहुत प्रयास किया, पर द्वार नहीं खुले। संवाद राजा तक पहुंचा। राजा के आदेश से मदोन्मत्त हाथियों को छोड़ा गया। दरवाजे नहीं टूटे। नगर से बाहर आने-जाने के सब रास्ते बंद होने से लोग परेशान हो गए।

सहसा आकाशवाणी हुई—'कोई सती कच्चे धागे से चलनी बांधकर कुएं से पानी निकाले और उससे दरवाजों पर छींटे लगाए तो वे खुल सकते हैं।' राजा ने नगर में घोषणा करवा दी कि जो महासती यह महान कार्य करेगी, उसे राजकीय सम्मान दिया जाएगा। पूर्व दिशा के द्वार पर महिलाओं का मेला लग गया। निकटवर्ती कुएं में चलनियों का ढेर हो गया, पर पानी नहीं निकला।

चारों ओर व्याप्त निराशा के बीच सुभद्रा ने अपना सतीत्व प्रमाणित करने के लिए सास से आज्ञा मांगी। सास ने दो-चार खरी-खोटी सुनाई। सुभद्रा ने अपने घर में ही चलनी से पानी निकालकर सास को विश्वास दिलाया। उसके बाद सास की आज्ञा प्राप्त कर वह कुएं पर गई। उसने कच्चे धागे से चलनी को बांधा। चलनी कुएं में डालकर पानी निकाला। उस पानी से पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा के दरवाजों पर पानी के छींटे दिए। दरवाजे अपने आप खुल गए। चौथा दरवाजा उसने यह कहकर बंद ही छोड़ दिया कि कोई अन्य सती इसे खोलना चाहे तो खोल दे।

दरवाजे खुलते ही नगर में उल्लास छा गया। सुभद्रा सती के जयघोषों से आकाश गूंज उठा। राजा ने राजकीय सम्मान के साथ उसे घर पहुंचाया।

सुभद्रा घर पहुंची, उससे पहले ही उसके सतीत्व का संवाद वहां पहुंच गया था। बुद्धदास, उसके माता-पिता और बहन की स्थिति बहुत दयनीय हो गई। अपराधबोध के कारण वे आंख भी ऊपर नहीं उठा पाए। उन्होंने अपनी जघन्य भूल के लिए क्षमायाचना की। उस समय भी सुभद्रा के मन में उनके प्रति किसी प्रकार का रोष नहीं था। उसकी सहिष्णुता, विनम्रता और शालीनता ने परिजनों को इतना प्रभावित किया कि वे सब आस्था और कर्म से जैन बन गए। जैनशासन की अकल्पित प्रभावना हुई।

### श्रावक की चर्या

**(लावणी)**

**33. श्रावक-कुल में ले जन्म जैन कहलाना,**
**क्या बड़ी बात सीधी धार्मिकता पाना।**
**जैनत्व ज्ञान से और कर्म से आए,**
**श्रद्धापूर्वक गुरु-धारण-विधि अपनाएं॥**

**34. अनिवार्य कार्य यह अनुष्ठान के स्तर पर,**
**पीढ़ी-दर-पीढ़ी करें सभी एक स्वर।**
**परिचय-प्रसंग में निर्भय हो मुंह खोलें,**
**श्रमणोपासक की चर्या भी खुद बोले॥**

श्रावक कुल में जन्म लेने वाला जैन कहलाता है। किसी विशिष्ट आचरण के बिना जन्मजात धार्मिकता पाना कोई बड़ी बात नहीं है। समझपूर्वक आचरण में जैनत्व उतरे, यह जीवन की बड़ी उपलब्धि है। इसलिए श्रद्धापूर्वक विधिवत 'गुरु-धारणा' की जाए, यह अपेक्षित है।

'गुरु-धारणा' के कार्य को विशेष अनुष्ठान के स्तर पर किया जाए। सभी श्रावक पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक स्वर से इसकी अनिवार्यता को स्वीकार करें। जहां-कहीं परिचय देने का प्रसंग उपस्थित हो, वहां निर्भय होकर अपने आपको जैन बताएं। श्रमणोपासक की चर्या भी स्वयं बोले–उनके श्रावक होने का साक्ष्य भरे।

## भाष्य

विश्व के प्रसिद्ध बारह धर्मों में एक है 'जैनधर्म'। इसका संबंध भगवान महावीर से है। 'जैनधर्म' यह नाम अर्वाचीन है। इसका प्राचीन नाम

निर्ग्रंथ प्रवचन या श्रमण धर्म रहा है। जैनधर्म ज्ञानियों का धर्म है अथवा राग-द्वेष-विजेताओं का धर्म है। जैनधर्म की आराधना करने वाले दो वर्ग हैं—साधु और श्रावक। साधु बनने वाले के लिए साधना की प्रायोगिक प्रक्रिया निर्धारित है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमों का पालन करने वाला ही साधु बन सकता है।

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए भी बारह प्रकार के श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है। वास्तव में बारहव्रती श्रावक ही श्रावक कहलाने का अधिकारी है, किंतु इस शब्द को इतनी व्यापकता मिल गई कि श्रावक कुल में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति बिना किसी पुरुषार्थ के श्रावक बन जाता है। एक डॉक्टर का पुत्र बिना अध्ययन किए डॉक्टर नहीं बन सकता। इंजीनियर, वैज्ञानिक, न्यायाधीश, वकील आदि सबके लिए यही नियम लागू है। अमुक-अमुक विषय की शिक्षा प्राप्त कर परीक्षा में सफलता का प्रमाण-पत्र पाने वाले व्यक्ति को ही उस विशेषण से सम्बोधित किया जा सकता है, किंतु एक जैन श्रावक का पुत्र श्रावक धर्म को समझे बिना और उसका पालन किए बिना ही जैन कहलाता है। ग्रंथकार ने इसी बिंदु पर एक प्रश्नचिह्न लगाया है।

श्रावक कुल में जन्म लेकर जैन कहलाना कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। जैनत्व के दो आधार हैं—ज्ञान और आचरण। कौन व्यक्ति किस कुल में जन्म लेता है, यह किसी के हाथ की बात नहीं है। महाभारत के कर्ण ने कहा—'दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं, तु पौरुषम्'—किसी कुल में जन्म पाना भाग्य पर निर्भर है। मेरे हाथ में पुरुषार्थ है। मैं पुरुषार्थ करके कुछ बना हूं, इसे नजरअंदाज क्यों किया जा रहा है।' पुरुषार्थ के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही ग्रंथकार ने जैनत्व का संबंध ज्ञान और कर्म के साथ जोड़ा है।

ज्ञान और कर्म से भी पहला स्थान है श्रद्धा का। जब तक श्रद्धा सम्यक नहीं बनती, ज्ञान और आचरण भी सम्यक नहीं बन सकते। इस दृष्टि से श्रद्धा के साथ जैनधर्म को स्वीकार करने की बात कही गई है। इसके लिए पारम्परिक शब्द है—'गुरुधारणा की विधि'। गुरुधारणा का उपक्रम न कोई अन्धविश्वास है और न कोई सामाजिक रूढ़ि है। इसका संबंध मोहकर्म के हलकेपन से है। गुरुधारणा की दो विधियां हैं। प्रथम विधि अधिक प्रचलित न होने पर भी व्यापक है। उसे एक अनुष्ठान के रूप में मान्यता देकर आचार्यश्री तुलसी ने उसका यह स्वरूप निर्धारित किया—

आस्था की अभिव्यक्ति–

- इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं।
- एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।
- तस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।
- अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि।
- अमग्गं परियाणामि, मग्गं उपसंपज्जामि।
- मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि।
- णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।
- अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।
- अरहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
- जिणपण्णत्तं तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं॥

अर्हत मेरे देव हैं। पांच महाव्रतों का पालन करने वाले शुद्ध साधु मेरे गुरु हैं। जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित तत्त्व मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है।

गुरुधारणा करने वाले के लिए संकल्प सूत्र–

1. मैं प्राणी मात्र की समानता में विश्वास करूंगा।
2. मैं मनुष्य जाति की एकता में विश्वास करूंगा।
3. मुझे आत्मा में आस्था है। वह कर्म का कर्ता-हर्ता है, अतः मैं आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न करूंगा।
4. मैं अनेकांत (स्याद्वाद या सापेक्ष दृष्टि) के सिद्धांत में आस्था रखूंगा।
5. मैं आहारशुद्धि का प्रयोग करूंगा, मद्य-मास का सेवन नहीं करूंगा।
6. मैं वर्ष में एक बार मैत्रीपर्व (संवत्सरी) मनाऊंगा, मनुष्य मात्र से क्षमा का विनिमय करूंगा और प्राणीमात्र के प्रति करुणा की भावना रखूंगा।

7. मैं आवेशवश आत्महत्या नहीं करूंगा।

गुरुधारणा की दूसरी विधि संक्षिप्त है। सामान्यतः इसी विधि का उपयोग होता है–

- णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
  णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।
- मेरे देव अर्हत भगवान महावीर स्वामी हैं।
  मेरे गुरु तेरापंथ के वर्तमान आचार्य हैं।
  मेरा धर्म जैनधर्म, तेरापंथ है।
  मैं जैन हूं, तेरापंथी हूं, इसलिए–
- देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्था रखूंगा।
- आवेशवश कोई गलत काम नहीं करूंगा, जैसे–आत्महत्या करना, परहत्या करना, घर से भागना आदि।
- किसी प्रकार का नशा नहीं करूंगा।
- बड़ा वृक्ष जड़मूल से नहीं उखाड़ूंगा।
- संवत्सरी का उपवास करूंगा।
- प्रतिदिन नमस्कार महामंत्र का स्मरण करूंगा।

**35. जप णमोक्कार का प्रतिदिन प्राणायामी,**
**क्रम चले सुखद सामायिक का अविरामी।**
**स्वाध्याय पुष्ट पाथेय बने जीवन का,**
**हो आकर्षण गरिमामय गुरु-दर्शन का॥**

**36. पंचांग-प्रणति जैनों की वंदन-विधि है,**
**मुश्किल से मिलती संतों की सन्निधि है।**
**अवसर पर चरण-स्पर्श करें धीमे से,**
**है सबसे अच्छी भाव-वंदना वैसे।।**

**37. 'परमेष्ठि-वंदना' 'अर्हत्-वंदन' का क्रम,**
**संस्कार-जागरण का है सफल उपक्रम।**
**हो प्रतिक्रमण पाक्षिक श्रावक की चर्या,**
**फिर 'खमत-खामणा' की प्रशस्त उपचर्या॥**

श्रमणोपासक की चर्या के कुछ प्रमुख अंग निम्ननिर्दिष्ट हो सकते हैं–

- प्रातःकाल जागरण के बाद प्रतिदिन श्वासोच्छ्वास के साथ णमोक्कार महामंत्र का जप करना, जैसे–एक श्वासोच्छ्वास लेते समय एक बार मंत्र का मानसिक उच्चारण।
- प्रतिदिन सामायिक–समता की साधना का प्रयोग करना।
- जीवन के लिए स्वाध्याय को पुष्ट पाथेय मानकर निरंतर उसका अभ्यास करना।
- गुरु के गरिमामय दर्शनों के प्रति आकर्षण रखना।

जैन परंपरा में गुरुवंदन की विधि 'पंचांग प्रणति' के रूप में मान्य है। सामान्यतः गुरु का सान्निध्य सहज सुलभ नहीं होता। सौभाग्य से गुरु-सन्निधि प्राप्त होने पर श्रावक अवसर देखें तो उनका चरण-स्पर्श करें। अन्यथा दूर से ही सविधि वंदना कर लें, क्योंकि गुरु-वंदन की सबसे अच्छी विधि भाव-वंदना है।

श्रावक की दैनिक चर्या में 'परमेष्ठी वंदना' और 'अर्हत्-वंदना' का भी क्रम रखा गया है। यह संस्कार-जागरण की सफल योजना है। 'पक्खी' के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करना श्रावक-चर्या का एक अंग बने। प्रतिक्रमण के बाद 'खमतखामणा' किया जाता है। यह मन को निर्मल बनाने का प्रशस्त उपचार है।

## भाष्य

प्रस्तुत ग्रंथ के अपर भाग के चौतीसवें पद्य के अनुसार श्रावक की पहचान के दो प्रकार हैं–शाब्दिक अभिव्यक्ति और आचरण।

1. जहां कहीं धार्मिक दृष्टि से व्यक्ति को अपना परिचय देना हो, वहां वह स्पष्टता से कहे कि मैं जैन, तेरापंथी श्रावक हूं।
2. श्रावक की जीवनचर्या और दिनचर्या ऐसी हो, जिसे देखने से ही ज्ञात हो जाए कि वह जैन, तेरापंथी श्रावक है।

श्रावक अपनी दिनचर्या का प्रारंभ कैसे करे? और धार्मिक दृष्टि से दिनचर्या में किन-किन कार्यों को सम्मिलित करे? यह एक महत्त्वपूर्ण

प्रश्न है। ग्रंथकार ने तीन पद्यों में इस प्रश्न को समाहित किया है। सबसे प्रमुख काम है 'नमस्कार महामंत्र' का स्मरण। जैन परंपरा में इस मंत्र को बहुत शक्तिशाली माना गया है। श्रद्धा के साथ इसका जप किया जाए तो जीवन की जटिल पहेली भी सुलझ जाती है।

आनंद की उपलब्धि में सबसे बड़ी बाधा है–अहंकार। 'नमस्कार महामंत्र' अहंकार-विसर्जन का मंत्र है। यह विनम्रता का बोधपाठ सिखाता है, शक्तिसंवर्धन करता है और प्रतिरोधात्मक क्षमता का विकास करता है।

'नमस्कार महामंत्र' का जप प्राणायाम के साथ हो तो और अधिक उपयोगी बन जाता है। प्राणायाम का अर्थ है श्वाससंयम। श्वाससंयम से एकाग्रता का विकास होता है। एकाग्रता की स्थिति में किया जाने वाला मंत्र जाप व्यक्ति को गहराई में ले जाता है। समुद्र की गहराई में पैठने वाले को जो अमूल्य रत्न हस्तगत हो सकते हैं, वे सतह पर तैरने वाले को कैसे मिलेंगे?

श्रावक की दिनचर्या का एक प्रमुख काम है सामायिक। अपने आप में रहने के लिए या समता का विकास करने के लिए सामायिक एक अमोघ प्रयोग है। बहिर्मुखी चेतना को अंतर्मुखी बनाए बिना जीवन में समता नहीं उतर सकती।

सामायिक में जप, ध्यान, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि जो भी अनुष्ठान किए जाते हैं, वे चेतना को भीतर ले जाते हैं। पूरे दिन में अड़तालीस मिनट भी अपने आपमें रहने का अभ्यास हो जाए तो जीवन की दिशा बदल सकती है।

स्वाध्याय जीवन की बहुत बड़ी खुराक है। शरीर के लिए भोजन जितना जरूरी है, वैचारिक विकास के लिए स्वाध्याय उससे भी अधिक जरूरी है। प्रतिदिन पंद्रह मिनट का नियमित स्वाध्याय भी बहुत बड़ी उपलब्धि का हेतु बन सकता है। स्वाध्याय से ज्ञान चेतना का विकास होता है, एकाग्रता बढ़ती है, तत्त्व को समझने की क्षमता विकसित होती है और चिंतन को नए आयाम मिलते हैं। इस दृष्टि से श्रावक की दिनचर्या में इसका समावेश आवश्यक है।

श्रावक के मन में गुरुदर्शन का आकर्षण भी निरंतर रहना चाहिए। गुरु-दर्शन की परंपरा कोई रूढ़ि नहीं है। यह भोग के सामने त्याग का आदर्श है। श्रावक भोग का जीवन जीता है। वह दिन में एक बार भी त्यागी जीवन का साक्षात्कार कर सके तो उसे सहज रूप में त्याग की प्रेरणा मिल सकती है। उसमें यह विश्वास जाग सकता है कि त्यागमय जीवन भी जीया जा सकता है। दर्शन करते समय साधु-साध्वियों का चेहरा देखना गौण तत्त्व है, मूल बात है त्यागमय वातावरण से संपर्क।

जैन परंपरा में 'पंचांग प्रणति' वंदना की विधि है। इसके अनुसार दोनों हाथ, दोनों घुटने और मस्तक—इन पांच अंगों को एक साथ धरती पर लगाकर गुरु-वंदना की जाती है। इसका वैज्ञानिक महत्त्व है। पंचांग-प्रणिपात से एड्रीनल ग्रंथि पर नियंत्रण होता है। एड्रीनल को संयत करने से वृत्तियों पर नियंत्रण सधता है। इस दृष्टि से विधिवत वंदना का मूल्य है।

गुरु-वंदना में चरण-स्पर्श की भी एक विधि है। सिर से पांव के जिस हिस्से का स्पर्श किया जाता है, उसे ऊर्जा का केंद्र माना गया है। वह ऊर्जा की प्राप्ति का स्रोत है, पर उसे प्राप्त करते समय विवेक और शिष्टता का ध्यान जरूरी है। दिनभर चरण-स्पर्श की स्पर्द्धा से अव्यवस्था हो जाती है। इसलिए अवसर देखकर सावधानी से स्पर्श किया जाए। वंदना में भी रूढ़ता न हो। क्योंकि किसी भी विधि से वंदना की जाए, सर्वाधिक महत्त्व भाव-वंदना का है।

श्रावक की दिनचर्या में 'परमेष्ठी वंदना' और अर्हत-वंदना का विशेष स्थान है। अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि—ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। 'नमस्कार महामंत्र' में इन्हीं का स्मरण किया जाता है। नमस्कार महामंत्र का संक्षिप्त रूप 'असिआउसा नमः' है। इसका विशद रूप 'परमेष्ठी वंदना' है। इसमें अर्हत आदि पांचों पदों के स्वरूप को कुछ विस्तार से अभिव्यक्ति दी गई है।

'अर्हत-वंदना' में वीतराग वाणी के चयनित सुभाषितों का संकलन है। इसमें आत्मकर्तृत्व पर विशेष बल दिया गया है। वज्रासन की मुद्रा, भावक्रिया और लयबद्धता के साथ किया जाने वाला संगान गायक को ही नहीं, श्रोता को भी सहज रूप में प्रभावित कर लेता है। सुभाषितों का उच्चारण करने के बाद सामूहिक संगान किया जा सके, ऐसी सरल रागिनी में एक गीत है। उक्त दोनों वंदनाएं ग्रंथकार की स्वोपज्ञ देन हैं।

श्रावकचर्या का एक और पहलू है—पाक्षिक प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण एक प्रकार से शुद्धि की प्रक्रिया है। इसे आत्मस्नान भी कहा जा सकता है। इसके द्वारा ज्ञात-अज्ञात सब प्रकार की भूलों का शोधन हो जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने प्रतिक्रमण का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

1. न्हायां जिंयां निदाघ में, ह्वै तन में हळकास।
   त्यूं पड़िकमणै स्यूं प्रबल, आत्मशक्ति आभास॥
2. अभिनव कायाकल्प स्यूं, यौवन रो उल्लास।
   त्यूं पड़िकमणै स्यूं हुवै, आत्मशक्ति आभास॥
3. पांथ श्रांत निश्रांत ह्वै, पुनि पहुंच्या घरवास।
   त्यूं पड़िकमणै स्यूं प्रबल, आत्मशक्ति आभास॥
4. सुविहित विधि पड़िकमण स्यूं, पुण्य-बंध उत्कृष्ट।
   तीर्थंकर रो गोत्र है, अप्पाणं व्युत्सृष्ट॥

प्रतिक्रमण से ही जुड़ा हुआ उपक्रम है—'खमतखामणा' का प्रयोग। इस प्रयोग के अनुसार प्रतिक्रमण के बाद आत्मालोचनपूर्वक सब व्यक्तियों के साथ क्षमा के आदान-प्रदान की व्यवस्था की गई है। आग्रही मानसिकता को स्वस्थ बनाने के लिए यह एक अनुभूत प्रयोग है।

**38. जैनी संस्कृति-संरक्षण पर जो बल है,**
**निशिभोजन-विरमण क्यों स्मृति से ओझल है?**
**अति मुखर घोष यह 'संयम ही जीवन है',**
**संयम श्रमणोपासक का जीवन-धन है॥**

जैन संस्कृति का एक अनुष्ठान है रात्रिभोजन-विरमण। इस संस्कृति की सुरक्षा पर बल देना हो तो रात्रिभोजन-विरमण की बात स्मृति से ओझल नहीं होनी चाहिए। श्रमणोपासक के लिए संयम ही जीवन का धन है। इसलिए 'संयम ही जीवन है'—यह घोष जन-जन की जुबान पर रहना चाहिए।

## भाष्य

जैन आगमों में साधुओं की तरह श्रावकों की भी कई भूमिकाओं का वर्णन है। श्रावक धर्म का निरूपण करते हुए बारह व्रतों की चर्चा

की गई है। उनमें स्वतंत्र रूप से रात्रिभोजन-विरमण जैसा कोई व्रत नहीं है। दशाश्रुतस्कंध सूत्र में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन है। वहां पांचवीं प्रतिमा में अन्य नियमों के साथ रात्रिभोजन का परित्याग भी विहित है। इसके आधार पर यह प्रतीत होता है कि आगमयुग में प्रतिमाधारी श्रावकों के लिए निर्धारित रात्रिभोजन-विरमण व्रत मध्ययुग में प्रत्येक जैन के लिए मान्य हो गया। इस सदी की बदलती हुई परिस्थितियों में यह धारणा बदलती जा रही है। शहरों की दौड़धूप और अव्यवस्थित जीवनशैली के कारण रात्रिभोजन का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। जैन संस्कृति की सुरक्षा का लक्ष्य सामने रहे तो सहज ही रात्रिभोजन का संयम किया जा सकता है।

धार्मिक या सांस्कृतिक दृष्टिकोण को सामने रखने वाले संयम या संस्कृति की अवधारणा के आधार पर रात्रिभोजन के त्याग की बात करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिंतन करने वाले स्वास्थ्य की दृष्टि से रात्रिभोजन को अच्छा नहीं मानते। दिन में सूर्य की किरणों के प्रभाव से पाचनतंत्र सक्रिय रहता है। रात्रि में वह निष्क्रिय हो जाता है। पाचनतंत्र की निष्क्रियता के कारण भोजन ठीक तरह से नहीं पचता। रात्रि में बहुत देर से खाने वाले न तो पूरा पानी पी सकते हैं और न किसी अन्य कार्य में संलग्न रह पाते हैं। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर श्रावक रात्रिभोजन का परिहार करें, यह उनके लिए श्रेयस्कर है।

**(दोहा)**

**39. उपासना उपसंपदा, योगासन ध्रुवयोग।**
**कम-से-कम प्रेक्षा शिविर का हो एक प्रयोग॥**

- उपासना—जप, स्वाध्याय, सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान।
- उपसंपदा—शिविर-साधना की दीक्षा स्वीकार करना। उसमें भावक्रिया आदि पांच बातें होती हैं।
- योगासन—शरीर को साधने के लिए नियमित आसन करना।
- ध्रुवयोग—प्रतिदिन निश्चित रूप से की जाने वाली धार्मिक क्रियाएं।
- कम-से-कम एक प्रेक्षाध्यान शिविर का प्रयोग।

प्रत्येक श्रावक की जीवन-चर्या में ऊपर निर्दिष्ट साधना-क्रम का अभ्यास होना चाहिए।

## भाष्य

1. **उपासना—**श्रावक की जीवनचर्या व्यवस्थित रहे, इस दृष्टि से कुछ धार्मिक अनुष्ठानों की अनिवार्यता है। उनमें से पांच बिंदुओं का उल्लेख प्रस्तुत पद्य में हुआ है। प्रथम बिंदु है उपासना। उपासना का अर्थ है निकट बैठना। यहां श्रमणों की निकटता विवक्षित है। श्रमणों के उपपात में बैठने से वहां के आध्यात्मिक विकिरण मनुष्य के मन को प्रभावित करते हैं। उनके जीवन को देखकर त्याग की चेतना जागती है। उनके पास शास्त्रों का श्रवण करने से तत्त्व को समझने की क्षमता विकसित होती है।

- धर्म के दो प्रकार हैं—आचार और उपासना। आचार का संबंध आंतरिक आचरण के साथ है और उपासना का संबंध बाह्य अनुष्ठानों के साथ है। समझ और विवेक के साथ किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों को भी उपादेय माना गया है। उपासना में जप, सामायिक आदि धार्मिक उपक्रमों का ग्रहण स्वतः प्राप्त है।

2. **उपसंपदा—**प्रेक्षाध्यान की साधना का प्रारंभ करने से पहले साधक को उसकी उपसंपदा स्वीकार करनी होती है। सुखासन या पद्मासन में बैठकर बद्धांजलि होकर साधक निम्नलिखित सूत्रों का उच्चारण करे—

- **अब्भुट्ठिओमि आराहणाए—**मैं प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए उपस्थित हुआ हूं।
- **मग्गं उवसपंज्जामि—**मैं अध्यात्म साधना के मार्ग को स्वीकार करता हूं।
- **सम्मत्तं उवसंपज्जामि—**मैं अन्तर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।
- **संजमं उवसंपज्जामि—**मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।

उपसंपदा की चर्या के पांच संकल्प सूत्र हैं–

1. **भावक्रिया–**हर क्रिया में मन का योग हो। वर्तमान में जीना, जानते हुए कर्म करना एवं सतत अप्रमत्त रहना।
2. **प्रतिक्रियाविरति–**प्रतिक्रिया से बचने का अभ्यास करना।
3. **मैत्रीभाव–**सबके प्रति मित्रता के भाव का विकास।
4. **मिताहार–**भोजन में मात्रा और द्रव्यों की सीमा रखना।
5. **मितभाषण–**अनावश्यक बातचीत से बचना, मौन का अभ्यास करना।

**3. योगासन–**बारह प्रकार की तपस्या में एक तप है कायक्लेश। इसके द्वारा शरीर को साधा जाता है। कायक्लेश आगमिक शब्द है। योग के ग्रंथों में इसके लिए योगासन शब्द प्रयुक्त होता है। वज्रासन, पद्मासन, शलभासन, शशांकासन, ताड़ासन, पवनमुक्तासन, मयूरासन आदि आसनों का अभ्यास करना।

**4. ध्रुवयोग–**ध्रुव का अर्थ है निश्चित। प्रतिदिन निश्चित रूप से करणीय आध्यात्मिक कार्यों का समावेश ध्रुवयोग में होता है। नमस्कार महामंत्र का जप, सामायिक, स्वाध्याय, गुरु-वंदना, योगासन, परमेष्ठि-वंदना, अर्हत-वंदना, पाक्षिक प्रतिक्रमण, यथासंभव रात्रिभोजन-विरमण, प्रेक्षाध्यान आदि श्रावक के ध्रुवयोग हैं।

**5. प्रेक्षाशिविर–**प्रेक्षाध्यान का अभ्यास एक ध्रुवयोग है। ध्यान का विधिवत प्रशिक्षण ध्यान-शिविरों में दिया जाता है। श्रावक के लिए जरूरी है कि वह ध्यान की विधियों को सम्यक प्रकार से सीखने के लिए कम-से-कम एक बार प्रेक्षाध्यान के शिविर में प्रशिक्षण प्राप्त करे।

**(लावणी)**

**40. खाना-पीना सोना-जगना संयत हो,**
**अणुव्रत-आचार-संहिता जीवन-व्रत हो।**
**प्रेक्षा-प्रयोग के झूले में नित झूलें,**
**अनुप्रेक्षा सहिष्णुता की कभी न भूलें॥**

श्रावक का खान-पान और शयन-जागरण संयत रहे। अणुव्रत की आचार-संहिता उनका जीवन-व्रत बने। वे निरंतर प्रेक्षाध्यान के झूले में झूलते रहें और सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा को कभी भूलें नहीं।

## भाष्य

'आयारो' का एक सूक्त है–**अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा**। इसका भावार्थ है–द्रष्टा का हर व्यवहार आम आदमी से भिन्न हो, विशिष्ट हो। श्रावक एक मनुष्य है, पर अन्य मनुष्यों की तुलना में उसका जीवन कुछ विलक्षण हो, यह आवश्यक है। यह विलक्षणता उसकी आध्यात्मिक चर्या में तो प्रतिबिंबित रहे ही, लौकिक चर्या में भी उसका आभास मिले, यह लक्ष्य रहना चाहिए। खाना-पीना, सोना-जागना, पहनना-ओढ़ना, घूमना-फिरना आदि मनुष्य की दैनिक चर्या के मुख्य अंग हैं। बढ़ती हुई आकांक्षाओं, विलासिताओं और सुविधावादी मनोवृत्ति ने मनुष्य को वस्तु का मुक्त भोग करने का अवसर दिया है। ग्रंथकार की दृष्टि से स्वस्थ जीवन के लिए उन्मुक्त भोग का मार्ग प्रशस्त नहीं है। व्यक्ति की छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति पर संयम का अंकुश हो, यह एक उदात्त दृष्टिकोण है। इसी के आधार पर खान-पान आदि के साथ संयम की बात जोड़ी गई है।

संयम अणुव्रत की बुनियाद है। **संयमः खलु जीवनम्**–यह अणुव्रत का घोष है। **निज पर शासन : फिर अनुशासन**–यह अणुव्रत का तंत्र है। अणुबम का युग है। अणु का मुकाबला कोई विराट नहीं कर सकता। अणु ही अणु का विखण्डन कर सकता है। अणुव्रत की आचार-संहिता युगीन समस्याओं का अमोघ समाधान है। श्रावक महाव्रती नहीं बन सकता। भगवान महावीर ने उसके लिए अणुव्रत या अगारधर्म की व्यवस्था दी। वह एक मॉडल है। उसके अनुसार जीवन बने, यह श्रावक का निश्चित उद्देश्य हो।

अणुव्रत की आचार-संहिता सामने आ गई। अणुव्रत स्वीकार कर लिए। फिर भी मनुष्य का जीवन नहीं बदला, व्यवहार नहीं बदला। क्यों? आदमी भोजन करे और भूख न मिटे, यह भी संभव है क्या? इस विषय में गंभीर चिन्तन के बाद आचार्यश्री तुलसी ने प्रेक्षाध्यान की बात कही।

अणुव्रती बनने के बाद व्यक्ति का जीवन कैसे बदले? इस प्रश्न का उत्तर है प्रेक्षाध्यान। ध्यान की पूरी प्रक्रिया समझने के बाद उसका नियमित प्रयोग किया जाए तो अंतःस्रावी ग्रंथितंत्र का स्राव बदल जाता है। व्यवहार में बदलाव का क्रम यहीं से शुरू होता है।

अनुप्रेक्षा का अर्थ है भावना–पुनः-पुनः अभ्यास। अभय, मैत्री, सामंजस्य, सहिष्णुता आदि की अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग से संस्कार-परिवर्तन का काम आसानी से हो सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा पर बल दिया गया है। सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने वाला एक सूत्र है सामंजस्य। सामंजस्य के लिए सहिष्णुता जरूरी है। सहिष्णुता का विकास करने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है। उसका स्वरूप इस प्रकार है–

1. महाप्राण ध्वनि–दो मिनट।

2. कायोत्सर्ग–पांच मिनट।

3. नीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें–प्रत्येक श्वास के साथ नीले रंग के परमाणु भीतर प्रवेश कर रहे हैं–तीन मिनट।

4. विशुद्धि केंद्र पर नीले रंग का ध्यान करें–तीन मिनट।

5. ज्योतिकेंद्र पर ध्यान केंद्रित कर अनुप्रेक्षा करें–'सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है।' 'मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।'

इस शब्दावली का नौ बार उच्चारण करें। फिर उसका नौ बार मानसिक जप करें–पांच मिनट।

6. अनुचिंतन करें–

शारीरिक संवेदन–ऋतुजनित संवेदन, रोगजनित संवेदन।

मानसिक संवेदन–सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता।

भावात्मक संवेदन–विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रुचि। ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किंतु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो मेरी शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित होऊंगा, उतनी ही मेरी शक्तियां बढ़ेंगी, इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है–दस मिनट।

7. महाप्राण ध्वनि के साथ प्रयोग संपन्न करें–दो मिनट।

**(मुक्त छंद)**

**41. सहिष्णुता हो सहिष्णुता हो केवल रट से,**
**सहनशील सहसा कोई कैसे बन पाए?**
**हो प्रयोग 'तुलसी' प्रेक्षा-प्रयोगशाला में,**
**परमाधामी पति भी परमात्मा बन जाए॥**

सहिष्णुता-सहिष्णुता की रट लगाने मात्र से कोई भी व्यक्ति कभी सहनशील नहीं बन पाता। यदि प्रेक्षाध्यान की प्रयोगशाला में नियमित रूप से प्रयोग किया जाए तो सहिष्णुता जीवन में उतर आती है। उससे परमाधामी–यमदूत लगने वाला पति परमात्मा बन जाता है।

## भाष्य

सहिष्णुता रटने का नहीं, आचरण में लाने का तत्त्व है। जो व्यक्ति सहन करना सीख लेता है, वह अपने जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन ला सकता है। इस सचाई को प्रमाणित करने वाली एक घटना यहां दी जा रही है–

लंबी प्रतीक्षा के बाद सेठ के घर में कन्या का जन्म हुआ है। उसका नाम रखा गया समता। अत्यधिक प्यार-दुलार के कारण वह उच्छृंखल हो गई। विवाह योग्य अवस्था होने पर वर की खोज की गई। गांव में कोई भी उसके साथ संबंध करने के लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर दूर-दराज के किसी गांव में उसका रिश्ता तय हुआ। निश्चित समय पर विवाह हो गया। संपन्न घर और सुंदर लड़की पाकर समता के ससुराल वाले प्रसन्न थे।

समता ससुराल गई। एक सप्ताह में ससुराल वाले परेशान हो गए। नई बहू में न विनय, न विवेक और न कामकाज की दक्षता। सास, जिठानी और ननद, किसी के साथ उसकी नहीं पटी। कुछ समय बाद समता का भाई बहन को लेने आया। सास ने बहू को तैयार कर भाई के साथ भेज दिया। समता पिता के घर पहुंची तो फूट-फूटकर रोने लगी। कारण पूछने पर वह बोली–'आपने मेरे लिए कैसा घर व वर खोजा?' इस विषय में पिता-पुत्री के बीच छोटा-सा संवाद हो गया–

पिता–पुत्री! क्या बात है? ससुराल कैसा लगा?

समता–नरक से भी बदतर।

पिता–तेरी सास कैसी है?

समता–साक्षात डायन है।

पिता–जिठानी कैसी है?

समता–वह तो बनी-बनाई चुड़ैल है।

पिता–ननद का क्या हाल है?

समता–वह शिकोतरी है।

पिता–मेरा जामाता कैसा है?

समता–उसके बारे में क्या बताऊं, वह तो परमाधामी है।

सेठ समझ गया कि गलती समता की है। अन्यथा घर के सब सदस्य बुरे कैसे हो जाते? उसने पत्नी से परामर्श कर एक दिन समता को चामत्कारिक मंत्रों के बारे में जानकारी दी। उसे यह भी बताया कि मंत्र को साधने से संसार वश में हो जाता है। समता ने मंत्र-साधना के बारे में उत्सुकता दिखाई। सेठ बोला–'बेटी! मंत्र तो छोटा-सा है, पर उसकी साधना कठिन है। साधनाकाल में पूरी तरह से शांत रहना जरूरी है और साधना भी उन लोगों के बीच में रहकर करनी होगी, जिनको वश में करना है। तुम्हें उनकी हर हरकत सहन करनी पड़ेगी।'

समता मंत्र की साधना करने के लिए तैयार थी, पर वह अपने पिता के घर में रहकर ही साधना करना चाहती थी। ससुराल के नाम से ही वह अधीर हो उठी। सेठ ने उसको समझाया और छह महीने वहां रहने के लिए राजी कर लिया। ससुराल से बुलावा न आने पर भी सेठ ने भाई के साथ उसको पहुंचा दिया। बिना किसी सूचना के अचानक बहू को घर में देखकर सास की त्यौरियां चढ़ गई। भाई ने सेठ के हाथ से लिखा पत्र अपने समधी को सौंपा और कुछ समय बाद वहां से विदाई ली। भाई के जाते ही सास, ननद आदि ने समता को खरी-खोटी सुनानी शुरू कर दी, पर वह शांत रही और मंत्र का जाप करती रही। उसे मौन देखकर सास को आश्चर्य हुआ। एक सप्ताह तक बहुत कुछ सुनकर भी उसने न किसी बात का जवाब दिया और न आवेश किया। इससे सास के मन में सहानुभूति पैदा हुई। उसने बहू की प्रशंसा की। समता के लिए वह क्षण परम आनंद

का था। छह महीने कहां हुए, एक सप्ताह में ही जादू हो गया। सेठजी के मंत्र का प्रभाव सामने आने लगा।

चार महीनों में ससुराल का वातावरण बदल गया। समता ने अपने सौम्य व्यवहार से सबका दिल जीत लिया। अब तो उसका एक दिन भी घर से बाहर रहना सास के लिए असह्य हो गया। छह महीने होने पर भाई आया। उसी दिन पुनः पहुंचाने का वादा कर सास ने उसको पिता के घर भेजा। सेठ उसका चेहरा देखते ही समझ गया कि समता सफल होकर आई है। उसने ससुराल के बारे में पूछा तो वह बोली—'पिताजी! मेरी ससुराल क्या है, साक्षात स्वर्ग है। मेरी सास देवी है। जिठानी और ननद मेरी सहोदरी बहनें हैं। पति मेरे लिए परमात्मा है। वह तो मेरा ही दोष था कि मैंने उनको गलत समझा।' सेठ ने संतोष की सांस ली। 'ॐ अर्हम्' इस छोटे-से मंत्र की साधना के साथ रखी गई सहिष्णुता ने समता के परमाधामी पति को परमात्मा बना दिया।

**(सहनाणी)**

**42. युग-युग तक चली फली-फूली,**
**व्यापक संयुत-परिवार-प्रथा।**
**वह छिन्न-भिन्न हो गई आज,**
**कैसी है उसकी करुण कथा!**
**जो टूट-फूट हो गई, गई**
**जो बची सुरक्षित रहे वही,**
**परिवर्तन-परिष्कार से भी**
**मिलते जाएं संस्कार सही॥**

संयुक्त परिवार की परंपरा बहुत प्राचीन है। वह व्यापक रूप में प्रचलित रही है। वह युग-युग तक चली और फलती-फूलती रही। आज वह परंपरा छिन्न-भिन्न हो गई। उसकी कहानी सुनकर मन में करुणा के भाव उमड़ते हैं।

संयुक्त परिवार की प्रथा में जो टूट-फूट हो गई, उसे एक बार छोड़ भी दिया जाए। पर वह जितने अंशों में बची है, उसकी सुरक्षा आवश्यक है। उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन और परिष्कार हो जाए तो भी सही संस्कार उपलब्ध हो सकते हैं।

# भाष्य

समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज की प्रारंभिक इकाई परिवार है। इसे सामुदायिक जीवन का प्रथम प्रयोग माना जा सकता है। परिवार का इतिहास बहुत प्राचीन है। परिवार के साथ संयुक्त शब्द का प्रयोग अधुनाकालिक है। इसको सापेक्ष दृष्टि से समझना आवश्यक है। इसका विकास उदात्त चेतना के आधार पर संभव है। जिस चेतना में स्वार्थ-विसर्जन, सहिष्णुता, सामंजस्य, समविभाग की भावना, सेवा या सहयोग की भावना, विनम्रता, वात्सल्य आदि गुणों का विकास होता है, संयुक्त परिवार की परंपरा वहीं आगे बढ़ सकती है। यह व्यावहारिक अहिंसा का एक विशिष्ट प्रयोग है और बड़े संगठनों के लिए आधारभित्ति है। इसके द्वारा सामुदायिक चेतना का विकास किया जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में परिवार-प्रथा में परिवर्तन का दौर शुरू हो गया। वैयक्तिक चेतना की प्रखरता, स्वार्थी मनोवृत्ति, असहिष्णुता, सामंजस्य की कमी, सेवाभावना का ह्रास आदि कारणों ने सामूहिक जीवनशैली की रीढ़ पर प्रहार किया। व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा, बड़े शहरों में आवास की समस्या, बच्चों की शिक्षा आदि तत्त्व भी पारिवारिक विघटन के निमित्त बने। उसका प्रभाव हर संगठन पर पड़ा। क्योंकि बड़े परिवार में जो शिक्षण मिल सकता था, वह एकल परिवार में नहीं मिल पाता। उसके अभाव में धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक संगठनों में भी सामुदायिक भावना में कमी रहती है।

संयुक्त परिवार में रहने वालों के सामने कुछ कठिनाइयां हो सकती हैं, पर उससे कई सुविधाएं भी मिलती हैं। वहां एक के लिए दस व्यक्ति तैयार रहते हैं। एकल परिवार में वह स्थिति नहीं बन सकती। संयुक्त परिवार में अपाहिज, रुग्ण और वृद्ध कभी भारभूत नहीं बनते। अब इस स्थिति में भी अंतर आ गया है। छोटे परिवार में सब लोग व्यस्त रहते हैं। वहां बच्चों को संस्कार देने के लिए किसी के पास समय नहीं होता। परिवार जितना छोटा होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक बंध जाता है। परंपराओं की विरासत को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखने में संयुक्त परिवार की अहम भूमिका रहती है। और भी ऐसी अनेक बातें हैं, जो संयुक्त परिवार की वापसी को आवश्यक मान रही हैं।

**(वंदना आनंद)**

**43. पारिवारिक गोष्ठियां साप्ताहिकी या पाक्षिकी,**
**मासिकी जब-तब यथोचित धर्मशिक्षण-साक्षिकी।**
**परस्पर संवादिता से ग्रंथियां मन की खुलें,**
**वंदना विज्ञप्ति-वाचन, प्रेममय इमरत घुले॥**

परिवार में साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक गोष्ठियां जैसे भी संभव हों, उचित रूप में चलती रहें। वे धार्मिक शिक्षण की साक्षी बनें। परिवार के सदस्यों में परस्पर वार्तालाप के प्रसंग से सबके मन की गांठें खुलती रहें। गुरु-वंदना, विज्ञप्ति का वाचन आदि कार्यक्रमों द्वारा उनके जीवन में प्रेममय अमृत का संचार होता रहे।

## भाष्य

वर्तमान युग प्रशिक्षण का युग है। हर क्षेत्र में प्रशिक्षण के नए-नए केंद्र खुल रहे हैं। वस्तु-निर्माण का प्रशिक्षण पारंपरिक रूप में पहले भी मिलता था, पर अब तो व्यक्तित्व-निर्माण के लिए भी प्रशिक्षण की व्यवस्था है। प्रबंधन के बारे में प्रशिक्षुओं को सघन प्रशिक्षण दिया जा रहा है। इतना सब कुछ होने पर भी परिवार के साथ समायोजित होने के लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण की चर्चा नहीं है। श्रावकों के लिए आवश्यक है कि वे अपने परिवार में सामंजस्य, सहअस्तित्व और संस्कार-जागरण के लिए कोई उपक्रम करें। ऐसे उपक्रमों में एक उपयोगी उपक्रम है पारिवारिक गोष्ठियों का आयोजन।

प्राचीनकाल में नई बहू बहुत वर्षों तक सास से बातचीत नहीं करती थी। जेठ, ससुर आदि से बोलने का तो प्रश्न ही नहीं था। उस समय भी कुछ बड़े-बुजुर्ग यदा-कदा परिवार को इकट्ठा कर धार्मिक या पारिवारिक दृष्टि से प्रशिक्षण देते थे। उसका प्रभाव भी होता था। वर्तमान में परिवार-व्यवस्था में काफी खुलापन है। बहू भी बेटी की तरह सास-ससुर से अपने सुख-दुःख की बात कर सकती है। मीडिया और उपभोक्ता मूल्यों का भी बोलबाला है। ऐसे समय में संस्कृति के क्षरण को रोकने में पारिवारिक गोष्ठियों की अच्छी भूमिका हो सकती है।

कुछ दशक पहले कठिन-से-कठिन स्थिति को सहने की मानसिकता थी। आज की परिस्थितियों में सहना दब्बूपन का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार के मानदंडों में जीने वाले व्यक्तियों को थोड़ा भी सहना पड़ता है तो वे कुंठित हो जाते हैं। पारिवारिक गोष्ठियों में परिवार के सदस्य आमने-सामने बैठकर संवाद स्थापित करते हैं तो सकारण या अकारण लगी हुई मन की गांठें खुलने की संभावना रहती है। बहुत-सी गांठें भ्रांति के कारण लगती हैं। बातचीत करने से भ्रांतियों का निराकरण होने से सहज ही ग्रंथिमोचन हो जाता है। उन गोष्ठियों में गुरु-वंदना, अर्हत-वंदना, विज्ञप्ति (धर्मसंघ का साप्ताहिक बुलेटिन) का वाचन आदि धार्मिक अनुष्ठान करने से एक स्वस्थ परंपरा को बद्धमूल होने का अवसर भी मिल सकता है।

## जैन-संस्कार विधि

**44. शिष्टता संयम अहिंसा साधना संस्कार हो,**
**और जयणा सजगता से धर्म का व्यवहार हो।**
**'सेवं भंते! 'तहत्ति गुरुवर!' सिर झुकाकर विनय से,**
**बड़ों के, गुरु के वचन स्वीकार हों स्थिर हृदय से।**
**की कृपा करुणा, अनुग्रह किया, करते ही रहें,**
**सदा आभारी रहूं, सद्भाव भरते ही रहें॥**

श्रावक अपने जीवन में शिष्टता, संयम और अहिंसा के संस्कारों को पुष्ट करें। वे धर्म के हर व्यवहार में यतना-संयम और सजगता का परिचय दें। गुरु आदि महान व्यक्तियों के शिक्षावचनों को शांत मन से सिर झुकाकर विनयपूर्वक स्वीकार करें। वे 'सेवं भंते!' 'तहत्ति गुरुवर!' जैसे सांस्कृतिक शब्दों का प्रयोग करते हुए कहें–'आपने मुझ पर बड़ी कृपा की, करुणा की, अनुग्रह किया। भविष्य में भी आप इसी तरह अनुग्रह करते रहें और मेरे जीवन में सद्गुण भरते रहें। मैं सदा आपका आभारी रहूंगा।'

## भाष्य

साधु और श्रावक का आपस में संबंध है। श्रावक के बिना साधु का काम नहीं चलता और साधु के बिना श्रावक को आध्यात्मिक पथदर्शन नहीं मिलता। साधु खुले मुंह नहीं बोलता, मुख पर मुखवस्त्रिका रखता है। इससे तीन बातें फलित होती हैं–(1) अहिंसा साधु का व्रत है। बोलते

समय वायुकायिक जीवों की हिंसा से बचने में मुखवस्त्रिका उपयोगी बनती है। (2) मुखवस्त्रिका वाणी-संयम का प्रतीक है। वह साधक को यह स्मरण दिलाती है कि उसे अनावश्यक नहीं बोलना है। (3) प्रवचन या बातचीत करते समय मुंह से थूक न उछले, इस दृष्टि से मुखवस्त्रिका का उपयोग है। इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर श्रावक भी सामायिक की साधना, साधुओं के साथ वार्तालाप और धर्मचर्चा करते समय मुखवस्त्रिका या मुखवस्त्र का उपयोग करें तो सहज रूप में यतना और सजगता रखी जा सकती है।

श्रावक आपस में बातचीत करते हैं तो 'हां', 'जी' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। आचार्य या साधु-साध्वियों के साथ बात करते समय भी कुछ लोग इन्हीं शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। ये शब्द गलत नहीं हैं, पर संस्कृति के सूचक भी नहीं हैं। जैन परंपरा में दो वाक्य विशेष रूप से प्रचलित हैं–'सेवं भंते!' और 'तहत्ति गुरुवर!' ये प्राकृत भाषा के वाक्य हैं। साधारण भाषा में कहा जाता है–'तहत गुरुदेव!'

अनुग्रह और निग्रह–ये दोनों काम गुरु के हैं। उचित काम करने पर गुरु का अनुग्रह (कृपा) उपलब्ध होता है और गलत काम होने पर निग्रह (उपालम्भ, दण्ड) मिलता है। शिष्य के लिए आवश्यक है कि वह दोनों स्थितियों में संतुलित रहे और गुरु के प्रति आभार प्रकट करता हुआ कहे–'गुरुदेव! आपने बहुत कृपा की, करुणा की, अनुग्रह किया। आप मुझ पर इसी प्रकार अनुग्रह करते रहें, मेरे जीवन में सद्गुण भरते रहें, मुझे अमृत के प्याले पिलाते रहें और दिशादर्शन देते रहें। मैं आपके इस आभार को कभी नहीं भूलूंगा।' गुरु के प्रति शिष्टाचार की यह विधि मुख्यतः साधु-साध्वियों के लिए है। श्रावक-श्राविकाएं भी इसको काम में लें, यह आवश्यक है, क्योंकि यह लोकोपचार विनय है। विनय के सात प्रकारों में लोकोपचार विनय का भी महत्त्व है और उसे शिष्ट समाज का लक्षण माना गया है।

**(लावणी)**

**45. सुत-जन्म विवाह भवन की नींव लगाएं,**
**लौकिक-लोकोत्तर जो भी पर्व मनाएं।**
**श्री वीरजयंती चरम-दिवस दीवाली,**
**निज वर्षगांठ या अक्षय तीज सुंहाली।।**

**(सहनाणी)**

**46. हर प्रसंग में जो उपयोगी,**
**उपलब्ध जैन संस्कार-विधि।**
**सम्यगदर्शन में सहयोगी,**
**भावी पीढ़ी की नई निधि।**
**क्यों छोड़ इसे अंधानुकरणमय-**
**भेड़चाल की ढाल बनें।**
**कर समय शक्ति का दुरुपयोग,**
**बेमतलब ही बेहाल बनें॥ (युग्मम्)**

**47. श्री णमोक्कार मंगल-पाटी,**
**लोगस्स मंत्र उच्चारण हो।**
**श्री वीतराग की वाणी से,**
**सब बाधा-विघ्न निवारण हो।**
**देखादेखी की वृत्ति छोड़,**
**अपने विवेक को ही बल दें।**
**पुत्रों पौत्रों मित्रों सबको,**
**सम्यक संस्कृति का संबल दें॥**

श्रावक अनेक प्रकार के लौकिक और लोकोत्तर–धार्मिक पर्व मनाते हैं। उनमें कुछ प्रमुख पर्व ये हैं–पुत्र-जन्म, विवाह, भवन की नींव रखना, महावीर-जयंती, चरम दिन (भिक्षु चरमोत्सव आदि), दीपावली (महावीर-निर्वाण दिवस), वर्षगांठ, अक्षय तृतीया इत्यादि-इत्यादि।

उक्त सब प्रसंगों में उपयोगी 'जैन संस्कार विधि' उपलब्ध है। उसका उपयोग सम्यक दृष्टिकोण को पुष्ट करने वाला है। भावी पीढ़ी के लिए वह नया खजाना है। उसे छोड़कर अंधानुकरण वाली भेड़चाल को संरक्षण और बढ़ावा क्यों दिया जाए? उसे बढ़ावा देने से समय और शक्ति का दुरुपयोग होता है तथा व्यक्ति बिना मतलब ही बेहाल हो जाता है।

णमुक्कार महामंत्र, मंगलपाठ, लोगस्स पाठ आदि का मंत्र के रूप में उच्चारण किया जाए। यह वीतराग की वाणी है। इससे सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं का निवारण हो सकता है। इसलिए देखादेखी करने की

वृत्ति को छोड़कर अपने विवेक को महत्त्व दिया जाए। श्रावक स्वयं जैन संस्कारों को पुष्ट करते हुए अपने पुत्र-पौत्रों, मित्रों आदि सबको सम्यक संस्कृति का पाथेय देते रहें।

## भाष्य

श्रावक सामाजिक जीवन जीता है। हर समाज की अपनी परंपराएं होती हैं। परंपराओं की पृष्ठभूमि में दो बातें होती हैं–अनुकरण और विवेकपूर्ण आचरण। अनुकरण में उचित-अनुचित पर ध्यान नहीं जाता। अन्य लोग जो काम करते हैं, जिस विधि का उपयोग करते हैं, उसी क्रम का अनुवर्तन होता रहता है। विवेकपूर्ण आचरण में भी अनुकरण हो सकता है, पर वहां भेड़चाल नहीं होती। केवल देखादेखी नहीं होती। वहां सामाजिक और धार्मिक परंपराओं में भी अपनी संस्कृति को महत्त्व दिया जाता है।

पर्व, उत्सव, त्योहार आदि मनाने की परंपरा नई नहीं है। कुछ पर्व या उत्सव ऐसे होते हैं, जिनका संबंध आम आदमी से है। उन्हें मनाने के तरीके सबके अपने-अपने होते हैं। उनके पीछे कुछ कारण भी होते हैं। जैन समाज की भी कुछ अपनी परंपराएं रही हैं। पर एक समय ऐसा भी आया, जब जैनों के अस्तित्व पर संकट के बादल मंडराए। उस समय श्रमण संस्कृति ने वैदिक संस्कृति की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाकर अपने अस्तित्व की सुरक्षा की। जब भी दो संस्कृतियों का मिलन होता है, एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर प्रभाव हुए बिना नहीं रहता। जैनों के लौकिक और धार्मिक अनुष्ठानों पर वैदिक संस्कृति का प्रभाव पड़ा, इसका एक कारण यह भी था। उन अनुष्ठानों को विधिवत संपन्न कराने के लिए वैदिक विद्वानों का सहयोग लिया गया। इससे प्रायः सभी व्यवहारों में वैदिक संस्कारों की पुट लग गई।

संस्कृतियों का मिश्रण उनके विकास का आधार बनता है। हर विकास के साथ कुछ खतरों की भी संभावना रहती है। जिन सांस्कृतिक विधियों में व्यक्ति की आस्थाओं और मौलिकताओं पर प्रश्नचिह्न लगता हो, उनके बारे में सावधान रहना अपेक्षित है। इसी दृष्टि से 'जैन संस्कार विधि' का अपना महत्त्व है। इसमें मुख्यतः तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है–आस्था, संयम और अहिंसा। जिन मंत्रों पर व्यक्ति की

आस्था होती है, उनका उच्चारण करने से आस्था पुष्ट होती है। नमस्कार महामंत्र, मंगल पाठ, लोगस्स, उवसग्गहरं आदि ऐसे मंत्र और स्तोत्र हैं, जिनके प्रति सहज रूप में आस्था है। अर्हतों की वाणी भी आस्था का सशक्त आलंबन है। इसके द्वारा विघ्न-बाधा का निवारण संभव है, यह विश्वास ही हर अनुष्ठान को जीवंत बना देता है।

जन्म, विवाह, मृत्यु आदि प्रसंगों पर तथा जन्मदिन, दीपावली आदि मनाने की विधियों में संयम को महत्त्व मिले और अनावश्यक हिंसा से बचने का लक्ष्य रहे, यह जैन संस्कृति की अपनी पहचान है। आम आदमी ऐसे अवसरों पर संयम और अहिंसा की बात नहीं सोचता, पर जैन श्रावक की जीवनशैली में संयम और अहिंसा का प्रभाव आवश्यक है। इस आधार पर लौकिक एवं धार्मिक–दोनों प्रकार के पर्व-उत्सव आदि मनाने की एक स्वतंत्र विधि निर्धारित है। संस्कारों की विशिष्टता के लिए समाज के चिंतनशील व्यक्तियों ने जिन विधियों का निर्धारण किया है, उनका उपयोग करके जैन संस्कृति को नया जीवन दिया जा सकता है तथा आडंबर, अपव्यय, रूढ़ता और अनावश्यक हिंसा से बचाव किया जा सकता है।

**(वंदना आनन्द)**

**48. परस्पर व्यवहार शिष्टाचार पत्राचार में,**
**जैन-गौरव 'जयजिनेंद्र' कहें लिखें हर बार में।**
**शब्द श्रद्धासिक्त संस्कृतिपरक और यथार्थ हों,**
**'पाय लागूं पांडिया' क्यों कहानी चरितार्थ हो?**

पारस्परिक मिलन, शिष्टाचार, पत्राचार आदि व्यवहार में बोलने और लिखने का प्रसंग आता ही रहता है। ऐसे प्रसंग में हर बार जैनत्व के गौरव 'जयजिनेंद्र' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। अन्य शब्दों के प्रयोग का प्रसंग आने पर चिंतनपूर्वक उन्हीं शब्दों को काम में लिया जाए, जिनके साथ श्रद्धा जुड़ी हो, जो संस्कृति के प्रतीक हों और सार्थक हों।

जिस किसी संस्कृति को मानने वाले व्यक्तियों से वास्ता पड़ने पर वैसा ही व्यवहार करने वाला कहता है–

पाय लागूं पांडिया! सिलाम मियांजी!
राम-राम चौधरयां! डंडोत बाबाजी!॥

उक्त दोहे से संबंधित कहानी को चरितार्थ क्यों किया जाए?

# भाष्य

आस्था अमूर्त होती है। उसे रूपायित करने का माध्यम होता है व्यक्ति का व्यवहार। व्यवहार का संबंध समूह के साथ रहता है। व्यक्ति क्या करता है? क्या कहता है? और कैसे करता है? ये प्रश्न सामूहिक जीवनशैली से जुड़े हुए हैं। जहां व्यक्ति अकेला हो, वहां ये प्रश्न पैदा ही नहीं होते। कोई व्यक्ति किसी परिचित व्यक्ति से मिलता है, नए व्यक्ति के साथ परिचय करता है, संगोष्ठी में संभागी बनता है या किसी उत्सव में सम्मिलित होता है तो प्रारंभिक शिष्टाचार के कुछ नियम होते हैं। इसी प्रकार पत्र-व्यवहार आदि में भी कुछ निर्धारित क्रम होते हैं। उनके माध्यम से यह पहचान की जा सकती है कि व्यक्ति के आस्थाकेंद्र कौन हैं?

जैन श्रावक वीतराग को अपना आराध्य या आदर्श मानते हैं। वीतराग बनना उनका लक्ष्य है। लक्ष्य की सतत स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि उनके मुंह पर बार-बार वीतराग का नाम आता रहे। वीतराग के लिए जिन या जिनेंद्र शब्द का भी प्रयोग होता है। लक्ष्य को सामने रखने की दृष्टि से एक प्रतीकात्मक शब्द है 'जय जिनेंद्र'। जिनेंद्र अर्थात वीतराग का जयकार करके व्यक्ति अपनी आस्था को पुष्ट करता है और यह सूचना भी देता है कि वह जैन संस्कृति में विश्वास रखता है। इसलिए पत्राचार एवं शिष्टाचार में 'जयजिनेंद्र' इस वाक्य-प्रयोग का महत्त्व है।

जो लोग अवसरवादी होते हैं, वे अवसर देखकर बात करते हैं। उनके सामने जैसे व्यक्ति होते हैं, वे उसी परंपरा एवं संस्कृति के शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। इस प्रसंग में आचार्यश्री तुलसी एक कहानी सुनाया करते थे–

एक युवक अपने गांव से दूसरे गांव जा रहा था। मार्ग में एक पंडित से उसकी मुलाकात हुई। पंडित को देखते ही वह बोला–'पंडितजी! नमस्कार।' युवक कुछ आगे बढ़ा तो सामने से एक मुसलमान आ रहा था। उसने आगंतुक को संबोधित करके कहा–'मियांजी! सलाम।' चलते-चलते युवक थक गया। विश्राम करने के लिए वह एक छायादार वृक्ष देखकर ठहर गया। सामने खेत में एक जाट काम कर रहा था। उसके अभिमुख होकर वह बोला–'चौधरी! ओ चौधरी! राम-राम।' अपनी मंजिल की ओर

अग्रसर युवक को गांव के बाहर एक संन्यासी मिला। अष्टांग प्रणाम की मुद्रा में धरती पर लेटकर वह बोला–'बाबाजी! डंडोत।'

सामान्यतः व्यक्ति जिस संस्कृति में विश्वास करता है या जिन संस्कारों में पलता है, अभिवादन के प्रसंग में उसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग करता है, किंतु जिसे अपनी संस्कृति का गौरव नहीं होता, वह मुंह देखकर तिलक करता रहता है। कुछ लोगों की दृष्टि में यह समन्वयवादी दृष्टिकोण हो सकता है, पर सांस्कृतिक गरिमा का भी अपना मूल्य होता है। उसे गौण नहीं करना चाहिए।

### पर्युषण महापर्व

**(सहनाणी)**

**49. जो महापर्व पज्जोसवणा,**
**सब जैन मनाएं एक साथ।**
**तो हो आनन्द अनिर्वचनी,**
**वह आएगा स्वर्णिम प्रभात।**
**था आदि दिवस संवत्सर का,**
**उसको अतिमात्र महत्त्व मिला।**
**भाद्रव की शुक्ल पंचमी को,**
**आखिर सबका अपनत्व मिला॥**

**50. उस दिन उपवास और पौषध,**
**प्रवचन सामूहिक प्रतिक्रमण।**
**आदान-प्रदान क्षमा का हो,**
**अज्ञात ज्ञात यदि अतिक्रमण।**
**मिल बाल वृद्ध अहमहमिकया,**
**उपवास करेंगे सभी कहें।**
**पज्जोसवणा की परंपरा**
**निर्बाध सुरक्षित रही, रहे॥ (युग्मम्)**

जैन-धर्म में पर्युषण पर्व को महापर्व माना गया है। जैन सम्प्रदायों के अनुगामी इसे अपनी-अपनी परंपरा के अनुसार अलग-अलग दिन में मनाते हैं। कभी वह स्वर्णिम प्रभात आएगा, जब सब जैन इस महापर्व को एक दिन, एक साथ मनाएंगे। जिस दिन ऐसा होगा, मुझे अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव होगा।

पर्युषण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिन है संवत्सरी। जैन पंचांग के अनुसार संवत्सर–वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा एकम से होता है। वर्ष का प्रथम दिन होने के कारण उसे विशेष महत्त्व मिला। एकम से प्रारंभ होने वाला संवत्सर विशेष स्थिति में भाद्रपद शुक्ला पंचमी तक पहुंच गया। आखिर 'पंचमी' तिथि को सबने संवत्सरी के रूप में मान्य कर लिया।

उस दिन उपवास और पौषध किया जाता है। प्रवचन लम्बे समय तक होता है। सामूहिक रूप में प्रतिक्रमण करने की विधि है। प्रतिक्रमण के बाद ज्ञात-अज्ञात भूलों के लिए क्षमा का आदान-प्रदान किया जाता है।

अन्य अनुष्ठानों की सुविधा न होने पर भी संवत्सरी के दिन उपवास का संकल्प अनिवार्य रहना चाहिए। बालक हों या वृद्ध, हम उपवास करेंगे, हम उपवास करेंगे–इस प्रकार की भावना प्रकट करें। पर्युषण की परंपरा भगवान महावीर के युग से आज तक निर्बाध रूप में सुरक्षित रही है। भविष्य में भी यह इसी प्रकार चलती रहे, यही अपेक्षा है।

## भाष्य

जैनशासन का एक महत्त्वपूर्ण पर्व है 'पर्युषण।' आठ दिनों के इस पर्व का आखिरी दिन 'पर्युषण' का दिन है। यह शब्द प्राचीन है। उत्तरकाल में इसके लिए 'संवत्सरी' शब्द प्रयोग में आने लगा। संवत्सर का अर्थ है वर्ष। वर्ष में एक बार होने से यह संवत्सरी कहलाता है। निशीथ भाष्य में 'पर्युषण' शब्द के पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या दी गई है। उनमें एक शब्द है 'पर्यवसन।' इसका संबंध साधुओं के प्रवास काल से है। काल की दो मर्यादाएं हैं–ऋतुबद्ध और वर्षावास। दोनों में चर्या का अन्तर है। वर्षावास के अनुरूप द्रव्य, क्षेत्र आदि का चुनाव होने से वर्षावास की चर्या निर्बाध रूप से चल सकती है।

जैन ज्योतिष के अनुसार श्रावणी प्रतिपदा से वर्ष का प्रारंभ होता है। जिस प्रकार आर्थिक वर्ष का प्रारंभ एक अप्रैल से होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक वर्ष का प्रारंभ सावन महीने की प्रथम तिथि से होता है। उसी दिन से वर्षावास का प्रारंभ किया जाता है। उस समय वर्षावास के अनुरूप क्षेत्र उपलब्ध न हो तो पांचवें दिन वर्षावास शुरू करने की परंपरा रही है। उस दिन भी उपयुक्त स्थान न मिले तो पांच-पांच दिन के क्रम से पचासवें

दिन तक यथास्थान पहुंचना आवश्यक है। यह अंतिम दिन है। इसका अतिक्रमण विहित नहीं है। उस दिन की आचारसंहिता के अनुसार साधु के लिए उपवास करने की अनिवार्यता है। साधुओं के लिए निर्धारित यह क्रम आगे चलकर श्रावक समाज में भी प्रतिष्ठित हो गया। प्रस्तुत पद्य में उसी का उल्लेख है। संवत्सरी की दृष्टि से श्रावक की आचार-संहिता में उपवास, पौषध, प्रवचन-श्रवण, सामूहिक प्रतिक्रमण, खमतखामणा आदि का समावेश किया गया है।

भगवान महावीर के साधनाकाल में भाद्रपद शुक्ला पंचमी को वर्षावास की स्थापना का कोई नियम नहीं था। फिर भी भगवान ने एक बार ऐसा प्रयोग किया। कालांतर में उसे सामान्य मान लिया गया। कभी-कभी चतुर्थी को भी संवत्सरी मनाई जाती है, पर सामान्यतः उसके लिए पंचमी का ही दिन है। जैनशासन का इतना बड़ा पर्व होने पर भी इसमें एकरूपता नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरा में तो स्पष्ट रूप में भेद है ही। दिगम्बर दस लक्षण पर्व मनाते हैं। उनके पर्व का प्रारंभ पंचमी से होता है और अनंत चतुर्दशी को वे संवत्सरी का रूप देते हैं। श्वेताम्बर संप्रदायों में चतुर्थी और पंचमी तिथि को लेकर परंपरा भेद चलता है।

आचार्यश्री तुलसी जैन एकता के पृष्ठपोषक थे। जैन संप्रदायों में समन्वय के लिए उन्होंने जो प्रयास किए, वे जैन परंपरा के इतिहास की अमूल्य धरोहर बन गए। जैन एकता के प्रतीक रूप में आचार्यश्री ने संवत्सरी को एक दिन मनाने का सुझाव दिया। सन् 1985 में आचार्यश्री का उदयपुर में प्रवास था। वहां प्रमुख जैन संप्रदायों के प्रतिनिधियों की एक संगोष्ठी हुई। सौहार्दपूर्ण वातावरण में संपन्न उस संगोष्ठी में 'भारत जैन महामंडल' को यह दायित्व सौंपा गया कि वह सब आचार्यों को सहमत करके संवत्सरी के लिए चतुर्थी या पंचमी कोई एक दिन निर्णीत करा ले। महामंडल ने प्रयत्न किया। सबके साथ संपर्क साधा। बम्बई में आयोजित एक विराट समारोह में उसके पदाधिकारियों ने सर्वमान्य दिन के रूप में भाद्रपद शुक्ला पंचमी की घोषणा भी कर दी। किंतु उसकी सम्यक क्रियान्विति नहीं होने से जैन एकता के विशिष्ट अध्याय का वह पृष्ठ खाली रह गया। इसी कारण आचार्यश्री ने उस स्वर्णिम प्रभात की प्रतीक्षा की, जब सब जैन एक दिन एक साथ मिलकर संवत्सरी महापर्व को मनाएंगे।

(रामायण)

51. इस युग के अंतिम तीर्थंकर,
वर्द्धमान श्री जिन देवार्य।
किया प्रवर्तन धर्मचक्र का,
जिसका होना था अनिवार्य॥

52. श्रमणी-श्रमण श्राविका-श्रावक,
तीर्थ-चतुष्टय की धारा।
अनेकांत सिद्धांत बना है,
जग की आंखों का तारा॥

53. पटधर प्रथम सुधर्मा स्वामी,
जम्बू प्रभव आदि अभिधान।
ऐक्य रहा शासन में, जब तक
था सक्षम नेतृत्व महान॥

54. शताब्दियों के बाद संघ का,
हुआ विभाजन अनचाहा।
विघटन-वृत्ति-रसिक लोगों का,
फला मनोरथ मनचाहा॥

55. श्वेत-वस्त्रधारक मुनियों का,
व्यापक श्वेताम्बर आम्नाय।
वस्त्र-विरागी बने दिगम्बर,
अपना चिंतन अपनी राय॥

56. गच्छों पंथों आम्नायों का,
फिर बढ़ता ही गया प्रवाह।
प्रतिमा-पूजा के प्रतिपंथी,
लूंका मूंथा की नव राह॥

भगवान महावीर को वर्धमान, जिन, देवार्य आदि शब्दों से भी संबोधित किया गया है। वे इस युग के अंतिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर के लिए धर्मचक्र के प्रवर्तन की अनिवार्यता होती है, इसलिए महावीर ने भी धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ की स्थापना की। उसके चार अंग हैं–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। महावीर ने अनेकांत सिद्धांत का निरूपण किया। वह सबकी आंखों का तारा है।

भगवान महावीर के उत्तराधिकारी बने गणधर सुधर्मा। उनके बाद आचार्य जम्बू, आचार्य प्रभव आदि के नाम हैं। आचार्य-परंपरा में जब तक नेतृत्व करने वाले सक्षम और महान आचार्य थे, तब तक जैनशासन में एकत्व बना रहा।

किंवदंती के अनुसार महावीर-परिनिर्वाण के छह सौ वर्षों बाद न चाहने पर भी जैनशासन का विभाजन हो गया। विघटन में रस लेने वाले लोगों का मनचाहा मनोरथ फल गया।

सबसे पहले जैनशासन दो भागों में विभक्त हुआ–श्वेताम्बर और दिगम्बर। जो साधु सफेद वस्त्र धारण करते थे, उनका संप्रदाय श्वेताम्बर कहलाया। यह संप्रदाय बहुत व्यापक है। जो साधु वस्त्र नहीं पहनते थे, उनका संप्रदाय दिगम्बर कहलाया। व्यक्ति का अपना चिंतन है और अपना अभिमत है। जिसे जो संप्रदाय अच्छा लगा, वह उसी में सम्मिलित हो गया।

उसके बाद नए-नए गच्छों, पंथों और संप्रदायों का प्रवाह बढ़ता ही गया। प्रतिमा पूजा की परंपरा को अस्वीकार करने वाले श्रावक लोंकाशाह मूंथा ने विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में एक नए संप्रदाय का प्रवर्तन किया, जो आज 'स्थानकवासी' या 'बाईस टोला' नाम से पहचाना जाता है।

## भाष्य

विचारों की भिन्नता मानवीय प्रकृति का शाश्वत नियम है। विचारभेद का इतिहास वहां तक पहुंच जाता है, जहां से विचारों के उद्‌भव का इतिहास शुरू होता है। हर व्यक्ति के लिए वैचारिक स्वतन्त्रता आवश्यक भी है। व्यक्ति का विचार समूह के लिए उपयोगी होता है तो वह सामूहिक बन जाता है। व्यक्ति के विचार में स्वार्थ या आग्रह का भाव प्रबल होता है तो वह समूह को तोड़ देता है। जैन संप्रदायों के विस्तार में अन्यान्य परिस्थितियों के साथ विचारभेद का भी प्रमुख हाथ रहा है।

वर्तमान जैनशासन के संस्थापक भगवान महावीर थे। उनकी उपस्थिति में विचारभेद नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। विचारभेद होने पर भी उनका तत्त्वनिरूपण सबको मान्य था। क्योंकि उनकी वाणी में कहीं विसंवाद नहीं था। उनके युग में कुछ साधु वस्त्र पहनते थे और कुछ निर्वस्त्र रहते थे, पर इस भेद का कोई महत्त्व नहीं था। आगे चलकर इसी भेद को एक मुद्दा बना लिया गया। उसके आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर–ये दो परंपराएं हो गईं।

इस विषय में गंभीरता से विमर्श करने पर निष्कर्ष निकलता है कि वस्त्र पहनना या न पहनना बहुत छोटी बात है। केवल इसके आधार पर इतनी बड़ी घटना घटित हो जाए, यह समझ में नहीं आता। हो सकता है, कुछ साधुओं के विचार-बिंदुओं में सामंजस्य नहीं रहा हो। वही आगे जाकर भेद का निमित्त बन गया। कुछ सैद्धांतिक मतभेद भी उभर गए थे। आगम-संकलन को लेकर भी सबमें मतैक्य नहीं था। कुछ साधुओं की दृष्टि में संकलित आगम तीर्थंकर वाणी के रूप में मान्य थे। कुछ साधु संकलित होने के कारण उनके प्रामाण्य को अस्वीकार करने लगे। विचारभेद के साथ आचारभेद की बातें भी जुड़ती गईं और सांप्रदायिक विभेद के लिए जमीन तैयार होती गई।

किसी भी संगठन में जब तक नेतृत्व सक्षम होता है, विचारभेद होने पर भी टूटन नहीं होती। नेता का वर्चस्व कम हो तो विघटन को रोकना कठिन हो जाता है। कुछ व्यक्तियों का अहंकार भी संगठन में दरारें डाल देता है। जैनशासन का यह सौभाग्य है कि वह कई शताब्दियों तक अखंड रहा। किंतु जब से विभाजन का दौर शुरू हुआ, वह अनेक संप्रदायों में विभक्त होता चला गया। सचेलता और अचेलता के आधार पर एक मूल से दो शाखाएं निकल गईं। यह समय वीर-निर्वाण की छठी-सातवीं सदी माना जाता है। उसके बाद वीर-निर्वाण की नौवीं शताब्दी (850) में चैत्यवास की स्थापना हुई। इसके साथ आचार की शिथिलता भी बढ़ने लगी। चैत्यवासी परंपरा का उद्‌भव हुआ तो उसके समानांतर दूसरा पक्ष संविग्न या सुविहितमार्गी नाम से अस्तित्व में आ गया। मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक परंपराओं का सूत्रपात लगभग उसी समयावधि में हो गया। भेद का क्रम शुरू हो जाता है तो उसे रोकना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर तो एक-एक संप्रदाय में अनेक गच्छ, उपगच्छ और पंथ बनते गए।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में लोंकाशाह मूंथा ने मूर्तिपूजा के विरोध में एक अभियान चलाया। गृहस्थ होकर भी उन्होंने साध्वाचार में पनप रही शिथिलता के प्रतिपक्ष में आचार की कठोरता का पक्ष प्रस्तुत किया। उनकी प्रेरणा से कुछ लोग दीक्षित हुए। स्थानकवासी संप्रदाय का उद्‌भव लोंकाशाह के उन्हीं अनुयायियों से हुआ।

## तेरापंथ

**(दोहा)**

**57. श्री जिनशासन का गगन, अद्‌भुत अतुल अनंत।**
**उसमें अभिनव उदित है, तारक तेरापंथ॥**

**58. अठारह सतरह समा, शनि पूनम आषाढ़।**
**सन सतरह सौ साठ शुभ, प्रकटित पुण्य प्रगाढ़॥ (युग्मम्)**

**(वंदना आनंद)**

**59. संत भीखण स्वयं तेरापंथ पथ के प्राण हैं,**
**सही संयम की कसौटी, क्षमा की खरशाण है।**
**विलक्षण चिंतन विशद वैराग्य का वर योग है,**
**वीर-वाणी पर समर्पण का सुरम्य प्रयोग है॥**

जिनशासन के अद्‌भुत, अतुल और अनंत आकाश में एक अभिनव तारा उगा। उसका नाम है तेरापंथ। इसके सहारे से व्यक्ति संसार-समुद्र को तर जाता है, इस दृष्टि से भी तेरापंथ को तारक कहा गया है। वि.सं. 1817, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, शनिवार को तेरापंथ का उदय हुआ। उस समय ईस्वी सन् 1760 चल रहा था। तेरापंथ में हो रहे विकास को देखकर ऐसा लगता है मानो संघ में प्रगाढ़ पुण्यवत्ता का प्रकटीकरण हुआ है।

संत भीखणजी (आचार्य भिक्षु) तेरापंथ धर्मसंघ के प्राण हैं। उन्होंने अपने आपको संयम की कसौटी पर कसा। वे क्षमा की तीखी शान पर चढ़े। उनका चिन्तन विलक्षण था, विशद था। उनका वैराग्य पुष्ट था। चिंतन और वैराग्य के श्रेष्ठ संयोग से उन्होंने महावीर-वाणी के प्रति समर्पण का सुंदर प्रयोग किया।

# भाष्य

जैनशासन का नवीनतम संप्रदाय है तेरापंथ। इस संप्रदाय के सूत्रधार पुरुष थे आचार्य भिक्षु। वे स्थानकवासी संप्रदाय में आचार्य रघुनाथजी के पास वि.सं. 1808 में दीक्षित हुए। आठ वर्ष तक वे अपने दीक्षा गुरु के साथ रहे। उनकी मेधा बड़ी विलक्षण थी। उन्होंने आगमों का अध्ययन किया। आगम पढ़ते-पढ़ते उन्हें नया प्रकाश मिला। भगवान महावीर और उनकी वाणी के प्रति उनकी श्रद्धा अद्‌भुत थी। जिनवाणी के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित हो गए। भगवान महावीर का अहिंसा दर्शन उनके मन को गहराई तक छू गया। उस सन्दर्भ में उन्होंने अनेक आचार्यों और साधुओं के साथ चर्चा की। उनका मन समाहित नहीं हुआ। समाधान की नई दिशा खोजने के लिए उन्होंने वि.सं. 1817, चैत्र शुक्ला नवमी के दिन बगड़ीनगर में अभिनिष्क्रमण कर दिया। उनके अभिनिष्क्रमण से जैन समाज में तीव्र हलचल हुई। वे अपने विचारों का आलोक जन-जन तक पहुंचाते हुए मारवाड़ से मेवाड़ संभाग में गए। वहां वि.सं. 1817, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन केलवा की अंधेरी ओरी में उन्होंने पुनः साधुत्व का संकल्प स्वीकार किया। उसी क्षण तेरापंथ धर्मसंघ की नींव लग गई। दर्शन की भाषा में यह स्वीकार किया जा सकता है कि तेरापंथ का उद्‌भव अहिंसा के विकास का उद्‌भव है।

कुछ लोगों का अभिमत है कि तेरापंथ का उद्‌भव आचार-क्रांति की फलश्रुति है। यह चिंतन सही प्रतीत नहीं होता। मूलतः आचार्य भिक्षु ने विचार-क्रांति की थी। उन्होंने वैचारिक संदर्भ में नया दृष्टिकोण दिया और आचार के क्षेत्र में पुनर्जागरण किया। उन्होंने अहिंसा, दान, दया और उपकार की जो व्याख्या की, वह उनका एक नया प्रस्थान था। उन्होंने लौकिक और लोकोत्तर धर्म के बीच एक भेदरेखा स्पष्ट की, यह नया विकास था। उन्होंने अपनी बात मनवाने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया। उन्होंने तत्त्व की परीक्षा के मानदंड प्रस्तुत कर दिए। कर्तव्य और धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा—'धर्म का हर व्यवहार कर्तव्य की सीमा में आ सकता है, किंतु प्रत्येक कर्तव्य धर्म नहीं हो सकता।' आचार्य भिक्षु जानते थे कि विचार की भूमिका परिपक्व न हो तो आचार लंबा नहीं चल सकता। वैचारिक दृढ़ता के लिए उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे और अपनी मौलिक धारणाओं को व्यवस्थित प्रस्तुति दी।

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के प्राण थे, सर्वस्व थे। संघ के सर्वेसर्वा होने पर भी उन्होंने अपना चिंतन किसी पर थोपा नहीं। उन्होंने तत्त्व को समझने के लिए कुछ कसौटियां प्रस्तुत कर दीं। उनके द्वारा दी गई कसौटियों में सबसे बड़ी कसौटी थी 'संयम'। उन्होंने स्वयं को उस कसौटी पर कसा। लौकिक और लोकोत्तर धर्म के बीच भेदरेखा खींचते समय उन्होंने कहा–'जहां संयम है, व्रत है, त्याग है, अहिंसा है, वहीं लोकोत्तर धर्म है। असंयम, अव्रत, भोग और हिंसा के साथ इसका कोई संबंध नहीं है।' यह अवधारणा उस समय प्रचलित धर्म की परिभाषाओं से भिन्न थी। इससे लोगों के निहित स्वार्थ विघटित हुए। इस कारण आचार्य भिक्षु का तीव्र विरोध हुआ। उस विरोधी वातावरण में वे क्षमा की शाण पर खरे उतरे।

**(दोहा)**

**60. पांच घटक इस संघ के, हैं स्वाभाविक सेट।**
**समझें सब श्रावक इन्हें, गहरे पानी पैठ॥**

**(रामायण)**

**61. स्थिर श्रद्धा[1] आचार-उच्चता[2]**
**और व्यवस्था[3] नूतन भोर।**
**सर्वमान्य अनुशासन-शैली[4]**
**एक हाथ में गण की डोर[5]॥**

तेरापंथ धर्मसंघ के पांच घटक तत्त्व हैं। वे पांचों स्वाभाविक रूप में व्यवस्थित हैं। श्रावकों का दायित्व है कि वे गहरे पानी में उतरकर उन्हें समझने का प्रयत्न करें।

तेरापंथ के पांच घटक तत्त्व–

(1) स्थिर श्रद्धा, (2) उन्नत आचार, (3) व्यवस्था, (4) सर्वमान्य अनुशासन शैली, (5) एक आचार्य का नेतृत्व।

## भाष्य

संगठन बनाना एक बात है, पर उसे शक्तिशाली बनाना दूसरी बात है। शक्ति के अभाव में संगठन बनते हैं और बिखर जाते हैं। आचार्य भिक्षु

ने संगठन बनाने से पहले अनेक दृष्टियों से उसके बारे में विचार किया। संगठन बनाने के बाद पंद्रह वर्षों तक गम्भीरता से उसका अध्ययन किया। भविष्य की संभावनाओं के बारे में सोचा। आने वाली समस्याओं के संबंध में ध्यान दिया और एक संविधान का निर्माण किया। उन्होंने अपने संगठन को शक्तिशाली और चिरजीवी बनाने के लिए उसके निर्माण में पांच बातों पर विशेष ध्यान दिया–

## श्रद्धा

श्रद्धा, आस्था, विश्वास–ये समानार्थक शब्द हैं। प्रश्न होगा–श्रद्धा किसके प्रति? लक्ष्य के प्रति, लक्ष्य प्राप्ति के साधनों के प्रति, अपने प्रति, अपने सहयोगियों के प्रति और अपने नेता के प्रति।

## उन्नत आचार

साधु का सबसे बड़ा धन है उसका आचार। संघ में जो आचार मान्य हो, उसका दृढ़ता के साथ अनुशीलन होने से ही आचार की निर्मलता रह सकती है। आचारहीन साधुवेष विडंबना है, धोखा है।

## व्यवस्था

व्यवस्था के अभाव में कोई भी संगठन चल नहीं सकता। संगठन छोटा हो या बड़ा, धार्मिक हो या सामाजिक, अव्यवस्था उसकी जड़ों को हिला देती है। न्याय, समविभाग और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए व्यवस्था-तंत्र की सबलता आवश्यक है।

## अनुशासन

अनुशासन दमन का नहीं, प्रशिक्षण का सूत्र है। जो किसी में हीनता पैदा करे और किसी का अहंकार पुष्ट करे, वह अनुशासन नहीं होता। जिस अनुशासन से सहयोगियों में हीनता या अहंता का भाव आए, उसे अच्छा नहीं माना जाता। हीनता से कुंठा बनती है और अहंकार से उच्छृंखलता आती है। कुंठा के द्वारा विकास को रोकना अभीष्ट नहीं है और अहंकार के द्वारा उच्छृंखलता को प्रोत्साहन देना भी अभीष्ट नहीं है। तेरापंथ की अनुशासनशैली में इन दोनों बातों पर ध्यान रखा गया है।

### एक नेतृत्व

उपर्युक्त चारों तत्त्व एक नेतृत्त्व की स्थिति में ही विकसित हो सकते हैं। एक नेतृत्व के अभाव में श्रद्धा किस आधार पर टिके? आचार की सीमारेखा कौन खींचे? व्यवस्था का संचालन कौन करे? और अनुशासन कौन दे? धर्मसंघ में एक आचार्य का नेतृत्व आचार्य भिक्षु की मौलिक देन है। तेरापंथ के विकास और विस्तार में इसका बहुत बड़ा योग है।

**62. आर्य भिक्षु की शाश्वत वाणी, लिखत हाजरी वरदायी।**
**श्रावक-निष्ठा-पत्र सुघड़, है शासन-मर्यादा स्थायी॥**

आचार्य भिक्षु की वाणी शाश्वत सत्य के रूप में हमारे सामने है। उसके आधार पर ही लिखत, हाजरी आदि संघ के लिए वरदान बन रहे हैं। श्रावक निष्ठापत्र भी अपने आपमें सुघड़ है। धर्मशासन की मौलिक मर्यादाएं स्थायी–अपरिवर्तनीय हैं।

## भाष्य

आचार्य भिक्षु सत्य के सन्धित्सु थे। सत्य की खोज करने के लिए उन्होंने साधना का पथ स्वीकार किया। सत्य की खोज के बाद उसका अनुशीलन और प्रतिपादन भी उनका लक्ष्य था। लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ते समय उपस्थित अवरोध ने उनको नया पथ खोजने के लिए विवश कर दिया। उसी विवशता की निष्पत्ति है तेरापंथ। नए पथ के लिए अभिनिष्क्रमण करते समय नया संघ बनाना उनका उद्देश्य नहीं था। किंतु जब संघ बन गया और उसका नामकरण भी स्वतः हो गया तो उन्होंने संगठन को सुदृढ़ बनाने पर ध्यान केंद्रित किया। वि.सं. 1832 में उन्होंने एक 'लिखत' लिखा। उसके बाद समय-समय पर कुछ 'लिखत' फिर लिखे गए। वि.सं. 1859 माघ शुक्ला सप्तमी, शनिवार को उनके द्वारा अंतिम लिखत लिखा गया। उसमें प्रथम लिखत की कुछ धाराओं का भी समावेश था। वही लिखत तेरापंथ धर्मसंघ का संविधान या मर्यादा-पत्र है।

आचार्य भिक्षु के समय में धर्मसंघ का स्वरूप स्थिर हो गया। उसे व्यावहारिक रूप देने अथवा उसके अनुरूप संस्कार-निर्माण करने का काम किया चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने। उन्होंने अनेक 'हाजरियों' की रचना की और प्रतिदिन एक-एक हाजरी के वाचन का क्रम चालू किया।

अंतिम लिखत के आधार पर उन्होंने 'मर्यादा-महोत्सव' की स्थापना की। महोत्सव के अवसर पर चतुर्विध धर्मसंघ की उपस्थिति में मर्यादा-पत्र का वाचन होने लगा। प्रतिदिन पढ़ी जाने वाली हाजरी के क्रम में आगे चलकर कुछ परिवर्तन होता रहा। आचार्यश्री तुलसी ने उन सबके आधार पर एक नई हाजरी, नई मर्यादावलि और नए लेखपत्र का निर्माण कर दिया। पक्ष में एक बार हाजरी का वाचन परिषद में, प्रत्येक चौमासी पाक्षिक दिन से पहले मर्यादावलि का वाचन और प्रतिदिन प्रातःकाल प्रतिक्रमण से पहले लेख-पत्र बोलने की व्यवस्था की गई। यह संस्कार-निर्माण की सुंदर प्रक्रिया है। एक बात को बार-बार दोहराने से संस्कार पुष्ट होते हैं।

आचार्य भिक्षु ने धर्मसंघ के लिए जो मर्यादाएं बनाईं, उनमें कुछ मर्यादाएं मौलिक हैं। उत्तरवर्ती आचार्य उन्हीं के आधार पर शासन का संचालन कर रहे हैं। आज की भाषा में उन मर्यादाओं का स्वरूप इस प्रकार है–

1. सर्व साधु-साध्वियां एक आचार्य की आज्ञा में रहें।
2. विहार-चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
3. अपने शिष्य न बनाएं।
4. आचार्य योग्य व्यक्ति को ही दीक्षित करें। दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दें।
5. आचार्य अपने गुरुभाई या शिष्य को उत्तराधिकारी चुनें तो सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।

साधु-साध्वियां संघ के अंग हैं, वैसे ही श्रावक-श्राविकाएं भी संघ से अभिन्न हैं। संघ की अखण्डता और विकास में श्रावक समाज का भी पूरा योग रहता है। आचार्यश्री तुलसी ने श्रावकों के लिए भी एक निष्ठा-पत्र का निर्माण किया, उसका स्वरूप इस प्रकार है–

मैं तेरापंथ धर्मशासन का अनुयायी श्रावक हूं/श्राविका हूं। इसका मुझे गौरव है। मैं इसे जीवन-विकास का तथा समस्याओं के समाधान में सबसे बड़ा आलंबन मानता हूं। अतः अपने दायित्व-निर्वाह तथा आस्था की पुष्टि के लिए मैं संकल्प स्वीकार करता हूं–

1. मैं आचार्य भिक्षु की मर्यादा, तेरापंथ धर्मशासन तथा शासनपति के प्रति समर्पित रहूंगा।

2. मैं शासन की अखण्डता के लिए सतत जागरूक रहूंगा। दलबंदी को प्रोत्साहन नहीं दूंगा।
3. मैं शासन से बहिर्भूत व्यक्ति (टालोकर) को प्रश्रय नहीं दूंगा।
4. मैं आचार्य की आज्ञा के प्रतिकूल प्रवृत्ति को समर्थन नहीं दूंगा।
5. शासन के किसी साधु-साध्वी में दोष जान पड़े तो स्वयं उसे या आचार्य को जताऊंगा। प्रचारित नहीं करूंगा।
6. मैं अपने खान-पान की शुद्धि बनाए रखूंगा।
7. मैं प्रतिदिन एक सामायिक या कम-से-कम बीस मिनट धर्मोपासना करूंगा।

**तेरापंथी श्रावक**

**63. बेड़ी-मुक्त 'शोभजी' श्रावक,**
**लिखी प्रभावक 'पूजगुणी'।**
**पत्नी-प्रतिबोधक 'महेशजी',**
**'अै गुरु म्हांरा' ढाळ चुनी॥**

आचार्य भिक्षु के नाम-स्मरण से शोभजी–शोभाचंदजी श्रावक की बेड़ी टूट गई। उन्होंने शासन की प्रभावना करने वाला 'पूजगुणी' नाम का ग्रंथ लिखा। महेशजी–महेशदासजी ने तत्त्व समझकर आचार्य भिक्षु की श्रद्धा स्वीकार की। उन्होंने अपनी पत्नी को प्रतिबोध देने के लिए 'अै गुरु म्हांरा'–इस गीत का निर्माण किया।

## भाष्य

**श्रावक शोभाचन्दजी**

आचार्य भिक्षु के प्रमुख श्रावकों में एक नाम 'शोभजी' का है। वे केलवा (मेवाड़) के कोठारी (चोरड़िया) परिवार से थे। उनके पिता नेतसीजी ने वि.सं. 1817 में आचार्य भिक्षु के प्रथम चातुर्मास्य में ही उनकी श्रद्धा स्वीकार कर ली। शोभजी उस समय गर्भ में थे। श्रद्धालु परिवार में जन्म लेने के कारण वे प्रारंभ से ही धर्म में रुचि लेने लगे। आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी आस्था प्रगाढ़ थी। वे काव्यरसिक और कुशल कवि थे। उन्होंने बहुत गीत लिखे। कहा जाता है कि उनका यह निर्णय था कि आचार्य भिक्षु

जितने पद्य बनाएंगे, उनका दशमांश वे भी बनाएंगे। इस निर्णय के आधार पर वे रचना करने लगे। आचार्य भिक्षु ने अड़तीस हजार पद्य परिमित साहित्य की रचना की थी। शोभजी ने सौ-सौ पद्यों के पीछे दस-दस पद्य लिखे। इस क्रम से उन्होंने अड़तीस सौ पद्यों की रचना की। उनके द्वारा लिखित एक कृति का नाम है–'पूजगुणी'। उसमें तीस गीत हैं। उन गीतों में श्रद्धेय के प्रति समर्पित श्रद्धा मूर्त हो रही है। उनके कुछ प्रसिद्ध गीत हैं–

1. पूज भीखणजी रो समरण कीजे
2. हूं बलिहारी हो भीखणजी रा नाम री
3. स्वामीजी रा दरसण किण विध होय?

शोभजी धार्मिक दृष्टि से जितने जागरूक थे, सांसारिक कामों में भी उतने ही दक्ष थे। पारिवारिक दायित्व संभालने के साथ वे केलवा ठिकाने (राजपरिवार) के भी प्रधान थे। वर्षों तक उन्होंने अच्छे ढंग से काम किया। एक बार किसी बात को लेकर तत्कालीन ठाकुर साहब से उनका मतभेद हो गया। राजपरिवार की प्रतिकूलता होने से वहां रहना कठिन हो गया। उन्होंने अपनी दूसरी व्यवस्था की और वे गुप्त रूप में परिवार के साथ नाथद्वारा चले गए। केलवा के ठाकुर पहले से ही रुष्ट थे। इस घटना ने आग में घी का काम किया। उन्होंने नाथद्वारा के बड़े जागीरदार गुसांईजी के साथ साठ-गांठ की और शोभजी पर कल्पित अभियोग लगाकर उन्हें कारावास में कैद करवा दिया।

आचार्य भिक्षु उन दिनों नाथद्वारा के निकटवर्ती गांवों में विहरण कर रहे थे। शोभजी पांच-चार दिनों के अंतराल से उनके दर्शन कर लेते थे। कारावास में जाने से वह सिलसिला टूट गया। कुछ समय बाद आचार्य भिक्षु नाथद्वारा पधारे। उन्होंने शोभजी के बारे में पूछताछ की। स्थिति की सम्यक जानकारी पाकर वे अविलंब उन्हें दर्शन देने गए। अधिकारी से पूछकर वे शोभजी की कोठरी के पास गए। वे उस समय आंख बंद किए तन्मय होकर गा रहे थे–

**'मोटो फंद इण जीव रै रे, कनक कामणी दोय।**
**उळझ रह्यो निकळ सकूं नहीं रे, दरसण रो पड़ियो बिछोय॥**
**स्वामीजी रा दरसण किणविध होय?**
**भाऊं इणविध भावना मैं, पण जोर न चालै कोय।**
**स्वामीजी सूं मिलणो किण दिन होय?'॥**

आचार्य भिक्षु उनके भक्तिभरे गीत के बोल सुनकर बोले–'दरसण इणविध होय। लो, हम तुम्हें दर्शन देने आ गए हैं।' ये शब्द सुनते ही शोभजी ने आंखें खोलीं। आचार्य भिक्षु को देखते ही वे भावविह्वल हो दर्शन करने के लिए उठे और आगे बढ़े तो उनके पैरों की बेड़ियां टूट गईं। जेल के अधिकारी और आरक्षक इस घटना से स्तब्ध रह गए। उनके लिए वह एक दिव्य चमत्कार था। बात गुसांईजी के पास पहुंची। एक बार तो वे असमंजस में पड़ गए। आखिर शोभजी को जेल में रखना उचित न समझकर उन्होंने उनको मुक्त कर दिया।

शोभजी जितने श्रद्धालु थे, उतने ही तत्त्व के जानकार थे। वे जहां भी जाते, संपर्क में आने वाले लोगों को तेरापंथ का तत्त्वदर्शन समझाते थे। उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक केसरजी भंडारी को उन्होंने ही समझाया था।

## श्रावक महेशदासजी

महेशदासजी मूंथा मूलतः किशनगढ़ के रहने वाले थे। बाद में वे जयपुर जाकर बस गए। एक बार आचार्य भारीमालजी किशनगढ़ पधारे। उस समय वहां उनका बहुत विरोध हुआ। विरोधी गतिविधियों में महेशजी अग्रणी थे। उसी वर्ष मुनि हेमराजजी को किशनगढ़ चतुर्मास करना पड़ा। चातुर्मास्य के प्रारंभ में वहां की स्थिति अनुकूल नहीं थी। संवत्सरी को एक भी पौषध नहीं हुआ। धीरे-धीरे कुछ लोग समझे। उन्होंने तेरापंथ की गुरुधारणा की। उनमें महेशजी भी एक थे।

महेशजी स्वयं तेरापंथी बन गए। उनकी पत्नी ने तेरापंथ की श्रद्धा स्वीकार नहीं की। उन्होंने उस पर अपनी श्रद्धा थोपी नहीं, किंतु परिश्रमपूर्वक समझाने का प्रयास किया। पत्नी को समझाने के लिए उन्होंने अनेक उपाय काम में लिए। उनमें एक उपाय था उनके द्वारा बनाया गया गीत। 'गुरु-ओलखाण' के रूप में प्रसिद्ध उस गीत की कुछ पंक्तियां हैं–

**अै गुरु मांहरा**
**अै गुरु मांहरा, थे करल्यो नीं**
**थांहरा**
**अै गुरु मांहरा**

**1. थांनै खोटै मारग घालूं नहीं, म्हारी राखो अंतरंग परतीत।**
**लिया व्रत चोखा पालज्यो, थे तो जास्यो जमारो जीत॥**

**2. आपां नाता आगै अनंत कऱ्या, बले भोगव्या अनंती बार भोग।**
**पुण्य तणां संजोग थी, अबकै मिलियो एहवो संजोग॥**

उक्त गीत में तेरापंथ की वेशभूषा, आचार-विचार आदि को विस्तार से बताया गया है। महेशदासजी कवि थे। उनके द्वारा रचित गीतों में 'दिहाड़ो, अै गुरु मांहरा, भेंट भवि चरण लै शरण' आदि गीत काफी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने पचासों व्यक्तियों को समझाकर तेरापंथी बनाया, उनमें एक उनकी पत्नी भी थी। इसी कारण वे पत्नी-प्रतिबोधक कहलाए।

**64. 'गुमानजी-लूणावत' ने, स्वामीजी का साहित्य लिखा।**
**है क्षायिक सम्यक्त्व बानगी, 'पटवाजी' की स्वस्थ शिखा॥**

गुमानजी लूणावत ने आचार्य भिक्षु का समग्र साहित्य लिपिबद्ध किया। विजयचंदजी पटवा की अविचल आस्था देखकर आचार्य भिक्षु ने कहा–'पटवाजी में क्षायिक सम्यक्त्व का नमूना देखा जा सकता है।' स्वामीजी के ये शब्द शिरोभूषण की तरह पटवाजी की शोभा बढ़ाने वाले हैं।

## भाष्य

### गुमानजी लूणावत

गुमानजी लूणावत पीपाड़ के रहने वाले थे। वे धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। श्रद्धालु होने के साथ वे तत्त्वजिज्ञासु भी थे। आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी। वे उनके ग्रंथों का पारायण करते रहते थे। इससे उनका तात्त्विक ज्ञान और अधिक गंभीर हो गया। एक बार उनके मन में विचार आया कि स्वामीजी के सब ग्रंथों का संग्रह कर लिया जाए तो उनके पास स्वाध्याय की पर्याप्त सामग्री हो जाएगी। यह काम साधारण होने पर भी कठिन था। क्योंकि आचार्य भिक्षु प्रतिलिपि करने के लिए अपनी कोई भी कृति देते नहीं थे। गुमानजी के सामने एक ही मार्ग था–सब रचनाओं को कंठस्थ करके लिपिबद्ध करना। उन्होंने अपना काम शुरू किया। वे थोड़ा-थोड़ा कंठस्थ करते और बाहर जाकर तत्काल उसे लिख लेते। इस क्रम से उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखे गए सब ग्रंथों की प्रतिलिपि कर एक महाग्रंथ तैयार कर लिया। 'गुमानजी का पोथा' नाम से प्रसिद्ध वह हस्तलिखित महाग्रंथ संघीय ग्रंथागार में आज भी सुरक्षित है।

गुमानजी आचार्य भिक्षु के विश्वस्त श्रावकों में से एक थे। वे गुरु-दृष्टि के आराधक और संघ-हितैषी श्रावक थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को तीन बार पुकारा। वे सामने ही दुकान में बैठे थे, पर उन्हें सुनाई नहीं दिया। आचार्य भिक्षु ने सोचा कि वे सुना-अनसुना कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने निकट बैठे श्रावक गुमानजी से कहा–'क्या बात है, वेणा संघ में रहना नहीं चाहता है क्या?' गुमानजी मुनि वेणीरामजी के पास गए और उन्हें सजग किया। वे तत्काल आचार्य भिक्षु के पास आए। उनकी आवाज नहीं सुनने से हुए अविनय के लिए क्षमा मांगी और भविष्य में सावधानी रखने का विश्वास दिलाया। आचार्य भिक्षु जानते थे कि गुमानजी के सामने कही गई बात से संघ का हित ही सधेगा, यही सोचकर उन्होंने उनके समक्ष उक्त चर्चा की।

## विजयचंदजी पटवा

विजयचंदजी पटवा पाली (मारवाड़) के रहने वाले थे। वे प्रारंभ से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वे स्थानकवासी संप्रदाय के अग्रणी श्रावक थे। एक बार पाली में आचार्य भिक्षु प्रवास कर रहे थे। उनकी प्रवचन-शैली और विद्वत्ता की शहर में चर्चा थी, पर पटवाजी समाज के भय से दिन में उनके पास जाने का साहस नहीं कर पाए। एक रात को वे व्याख्यान संपन्न होने के बाद अपने मित्र वर्धमानजी श्रीश्रीमाल (मंदिरमार्गी) के साथ वहां गए। उस समय आचार्य भिक्षु सोने की तैयारी कर रहे थे। दो नवागंतुक व्यक्तियों को देख वे साधुओं से बोले–'तुम लोग सो जाओ। मैं अभी इनके साथ बात करूंगा।' कुछ साधु सो गए। कुछ धर्मचर्चा सुनने के लिए वहीं बैठ गए। आचार्य भिक्षु अपने आसन पर बैठ गए। दोनों आगंतुक चबूतरे के नीचे खड़े हो गए। वे प्रश्न करते रहे और आचार्य भिक्षु उत्तर देते रहे। लगभग पूरी रात तत्त्वचर्चा चली। दोनों व्यक्ति समझ गए। उन्होंने 'सम्यक्त्व दीक्षा' ग्रहण की। रात्रि-जागरण का श्रम सफल हो गया।

विजयचंदजी तत्त्व को समझकर श्रावक बने थे। तेरापंथ या आचार्य भिक्षु के प्रति उनकी आस्था इतनी गहरी थी कि किसी भी प्रसंग में वह कमजोर नहीं हुई। एक बार मुनि चंद्रभाणजी (संघ से बहिर्भूत साधु) पाली आए। वे पटवाजी से मिले। उन्होंने अनेक प्रकार की निंदात्मक बातें कीं। पटवाजी मौन रहे। उनके निकट खड़े व्यक्तियों ने मौन का गलत अर्थ

लगाया। उन्होंने सोच लिया कि पटवाजी मुनि चंद्रभाणजी के विचारों से सहमत हैं। कालांतर में आचार्य भिक्षु वहां आए। उन लोगों ने पटवाजी की शिकायत की। आचार्य भिक्षु ने सोचा—पटवाजी के मन में शंका होगी तो वे स्वयं पूछ लेंगे। पर पटवाजी ने कभी कुछ नहीं पूछा। विहार से एक दिन पूर्व आचार्य भिक्षु बोले—'पटवाजी! मैंने सुना है कि चंद्रभाणजी ने तुम्हारे सामने बहुत-सी निंदात्मक बातें कही थीं। क्या तुम्हें कुछ पूछना है?' पटवाजी बोले—'स्वामीजी! मेरे मन में कोई शंका नहीं है। मैं जानता हूं कि जो व्यक्ति अनंत सिद्धों की साक्षी से किए अपने त्याग तोड़कर आया है, वह झूठ बोलने में संकोच क्यों करेगा? मैं उनकी बातों का प्रतिवाद करता तो मेरा समय नष्ट होता।'

एक बार आसकरणजी दांती ने पटवाजी से कहा—'स्वामीजी औरों को तो किंवाड़ खोलने में दोष बताते हैं, किंतु स्वयं अमुक गांव में किंवाड़ खोलकर ठहरे थे।' पटवाजी बोले—'वे ऐसा नहीं कर सकते।' दांतीजी ने कहा—'तुम मेरा विश्वास करो। उन्होंने ऐसा किया है।' पटवाजी बोले—'मुझे तुम पर विश्वास है कि तुम इस विषय में कभी सत्य नहीं बोल सकते।' आचार्य भिक्षु ने यह घटना सुनी। उन्होंने पटवाजी की अप्रतिम निष्ठा की प्रशंसा करते हुए कहा—'कुछ लोग विजयचंदजी पटवा को विमुख करने के लिए साधुओं में अनेक दोष बतलाते हैं, पर वे उन दोषों के बारे में साधुओं से पूछते तक नहीं। ऐसा लगता है मानो वे क्षायक सम्यक्त्व के धनी हैं।' किसी भी श्रावक के बारे में आचार्य भिक्षु के मुंह से ऐसे शब्दों का प्रयोग उसकी दृढ़धर्मिता को सिद्ध करता है।

**(वंदना आनन्द)**

**65. संघ ऐक्य अखण्डता के परम पोषक जो रहे,**
**संघ-सेवा-वाहिनी में प्राणपण से जो बहे।**
**केसरी-सा वीर 'केसर' सर्वदा स्मरणीय है,**
**दक्षता 'बादर' 'दुलह' की सतत अनुकरणीय है॥**

तेरापंथ में ऐसे श्रावक हुए हैं, जिन्होंने संघ की एकता और अखंडता को उत्कृष्ट पोषण दिया, जो अपने प्राणों की कीमत पर संघसेवा की सरिता में बहते रहे। उनमें केशरीसिंह जैसे वीर केसरजी भंडारी का नाम सदा स्मरणीय है। बादरमलजी भंडारी और दुलीचंदजी दूगड़ का कौशल भी सबके लिए सतत अनुकरणीय है।

# भाष्य

## केसरसिंहजी भंडारी

प्रसिद्ध श्रावक केसरजी का जन्म कपासन निवासी देवराजजी भंडारी के घर में हुआ। वे 'कपासन' को छोड़ उदयपुर जाकर बस गए। वे तत्कालीन महाराणा भीमसिंह के विशेष कृपापात्र तथा विश्वसनीय व्यक्तियों में एक थे। महाराणा ने उनको समय-समय पर अनेक कार्यों में नियुक्त किया। अनेक वर्षों तक उन्होंने राज्य के कर-अधिकारी के रूप में काम किया। उनकी प्रामाणिकता और श्रमशीलता से प्रसन्न होकर महाराणा ने उनको जागीर के रूप में जवासिया, आकल्या, अलसीपुरा और लोडियाना—ये चार गांव दे दिए। उसके बाद वे अनेक वर्षों तक अंतःपुर के कार्याधिकारी बनकर रहे। कालांतर में उनको राज्य के सर्वोच्च न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया गया। इन सब कार्यों में उन्हें महाराणा की निकटता प्राप्त हुई। वे उनको अपने पारिवारिकजनों की तरह मानने लगे।

केसरजी आचार्य भिक्षु के समय में ही तेरापंथ के अनुयायी बन गए थे। उनको इस पथ पर लाने का श्रेय शोभजी श्रावक को है। श्रद्धा और आचार की हर बात को गहराई से समझकर उन्होंने 'गुरुधारणा' की थी। फिर भी वे बहुत वर्षों तक प्रच्छन्न श्रावक रहे। उस समय तेरापंथी बनने वाले को अनेक सामाजिक कठिनाइयों से गुजरना पड़ता था। वे उन झंझटों से दूर रहना चाहते थे, इसलिए अपने श्रावकत्व की बात उन्होंने प्रकट नहीं की।

वि.सं. 1875 में आचार्य भारीमालजी उदयपुर पधारे। वहां उनका प्रभाव बढ़ने लगा। विरोधी लोगों के लिए वह असह्य हो गया। उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से महाराणा भीमसिंहजी को भ्रांत करने का प्रयास किया। उन्होंने कहा—'जहां तेरापंथी साधु रहते हैं, वहां दुष्काल पड़ जाता है। ये दया-दान के घोर विरोधी हैं। ऐसे साधुओं का नगर में रहना ही ठीक नहीं है।' महाराणा उनकी छद्मनीति को समझ नहीं पाए। उन्होंने सन्तों को नगर छोड़ने का आदेश दे दिया। आचार्य भारीमालजी वहां से विहार कर राजनगर चले गए। विरोधियों का हौसला बढ़ा। वे उनको मेवाड़ से बाहर निकलवाने की योजना बनाने लगे। केसरजी को इस बात की जानकारी मिली तो वे महाराणा के पास जाकर बोले—'अन्नदाता! आपको यह क्या सूझा है? जो संत चींटी

को भी नहीं सताते, उनको आपने नगर से निकलवा दिया। अब सुना है कि उन्हें मेवाड़ से भी निकाल देने का विचार किया जा रहा है। आपकी आज्ञा होगी तो वे देश छोड़कर चले जाएंगे। पर आप इस बात को याद रखना कि संतों को सताने का परिणाम अच्छा नहीं होता। इन दिनों नगर पर प्रकृति का प्रकोप है। शहर में भुखमरी फैल रही है। लोग असमय ही मर रहे हैं। महाराजा के जामाता अचानक चल बसे। राजकुमार जवानसिंह बीमार हैं। अब आप उन्हें देश से निकाल देंगे तो क्या होगा, कहना कठिन है।'

महाराणा का मन पूरी तरह से भ्रांत था। वे बोले–'केसर! तू कुछ जानता नहीं। वे साधु नगर में रहने के योग्य नहीं हैं। वे वर्षा को रोक लेते हैं। उनके यहां रहने से दुष्काल की संभावना थी। इसीलिए मैंने उनको विदा कराया।' यह बात सुन केसरजी ने तेरापंथ के बारे में जानकारी दी और विरोधियों के गलत मंसूबे के बारे में बताया। महाराणा बोले–'तू उन्हें जानता है क्या?' केसरजी ने सोचा–अब मुझे स्वयं को प्रकट कर देना चाहिए। वे बोले–'आचार्य भारीमालजी मेरे गुरु हैं।' महाराणा ने तेरापंथ के उद्भव और विरोध का पूरा इतिहास सुना। अपने निर्णय के प्रति उन्हें पश्चात्ताप हुआ। केसरजी से परामर्श कर उन्होंने दो बार अपने हाथ से पत्र लिखकर आचार्य भारीमालजी को एक बार उदयपुर पधारने की प्रार्थना की। वृद्धावस्था के कारण वे पुनः उदयपुर नहीं जा सके। उन्होंने संघ के प्रभावशाली मुनि हेमराजजी को वहां भेजा। इससे वहां तेरापंथ की अच्छी प्रभावना हुई। केसरजी भंडारी ने उस कठिन समय में अपनी सूझबूझ से संघ की उल्लेखनीय सेवा की।

## बहादुरमलजी भण्डारी

जोधपुर के विशिष्ट व्यक्तियों में एक नाम बहादुरमलजी भंडारी का है। वे सूझबूझ और विवेकसम्पन्न व्यक्ति थे। धार्मिक क्षेत्र में उनकी जितनी रुचि थी, प्रशासनिक क्षेत्र में भी उतनी ही दक्षता थी। वे एक सफल श्रावक थे तो सफल राज्यकर्मचारी भी थे। कुछ समय के लिए वे जोधपुर के दीवान बनकर भी रहे थे। उन्हें जिस किसी कार्य में नियोजित किया गया, उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ उसे संपन्न किया। उन्होंने समय-समय पर धर्मसंघ की भी उल्लेखनीय सेवा की। सेवा की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक घटना का यहां उल्लेख किया जा रहा है।

बात वि.सं. 1920 की है। जयाचार्य ने चूरू में मुनिपतजी को दीक्षा प्रदान की। उनकी दीक्षा के छह महीने बाद उनकी माता ने भी दीक्षा स्वीकार कर ली। उनके पिता का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था। जयपुरवासी थानजी चोपड़ा के घर उनके पिता गोद गए थे, पर आपस में सामंजस्य न बैठने से वह संबंध टूट गया। उसके बाद वे जल्दी ही दिवंगत हो गए। मुनिपतजी और उनकी मां का मन विरक्त हो गया। वे दोनों दीक्षित हो गए। इधर थानजी ने जोधपुर नरेश तख्तसिंहजी से दीक्षा के बारे में शिकायत कर अपने पौत्र को लौटाने की मांग की। नरेश ने मामले की जांच किए बिना ही गुरु और शिष्य को पकड़ने का आदेश दे दिया। दस घुड़सवार उक्त आदेश लेकर लाडनूं के लिए चल पड़े। जयाचार्य उन दिनों लाडनूं में प्रवास कर रहे थे।

उक्त षड्यंत्र की जानकारी बहादुरमलजी को मिल गई। उन्होंने रातोंरात नरेश से सम्पर्क करना चाहा। नरेश अंतःपुर में जा चुके थे। फिर भी भंडारीजी से मिले। भंडारीजी बोले–'आपने जयाचार्य को पकड़ने का आदेश किसी गलत सूचना पर दिया है। वे मेरे गुरु हैं। मैं उनके बारे में निश्चित रूप से कह सकता हूं कि वे बिना आज्ञा किसी को दीक्षा नहीं देते। पहले आपको स्थिति की जांच करनी चाहिए थी। जयाचार्य के लाखों भक्त हैं। वे अपने गुरु के लिए प्राण देने में भी नहीं हिचकिचाएंगे। इससे एक पूरा समाज राज्यविरोधी हो जाएगा।'

नरेश भंडारीजी की बात सुनकर चिंतित हुए। उन्होंने उलझी हुई स्थिति को सुलझाने के लिए भंडारीजी से परामर्श मांगा। भंडारीजी बोले– 'आप पहला आदेशपत्र निरस्त करते हुए दूसरा आदेशपत्र लिख दें। मैं अपने ज्येष्ठपुत्र किशनमल को भेज देता हूं। आप उसके नेतृत्व में कुछ घुड़सवार भेज दीजिए। उन्हें आदेश दीजिए कि वे जल्दी-से-जल्दी जाएं और पहले गए हुए घुड़सवारों को लौटा दें।' नरेश ने भंडारीजी के परामर्श को स्वीकार कर तत्काल उसकी क्रियान्विति कर दी। किशनमलजी वह आदेश-पत्र लेकर चले। मार्ग में ही उनकी घुड़सवारों से भेंट हो गई। नरेश का आदेश दिखाकर उन्हें लौटा दिया गया। किशनमलजी ने अपने दल के साथ लाडनूं जाकर जयाचार्य के दर्शन किए और उन्हें पूरी स्थिति से अवगत किया।

कुछ समय बाद बहादुरमलजी ने जयाचार्य के दर्शन किए। जयाचार्य ने उनकी दूरदर्शितापूर्ण सूझबूझ की प्रशंसा की और उस विशिष्ट सेवा के लिए उन्हें पुरस्कृत करना चाहा। उन्होंने प्रसन्न मुद्रा में कहा–'इस सेवा का तुम्हें क्या पारितोषिक दिया जाए? यदि तुम साधु जीवन में होते तो इसके लिए युवाचार्य पद देना भी कम होता।' भंडारीजी ने विनम्रता के साथ कहा–'साधु बनने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। आप इस साधारण-सी सेवा के लिए इतने भारी शब्द फरमा रहे हैं, यह आपकी कृपा है।' इस पर भी जयाचार्य ने उनको कुछ देना चाहा तो उन्होंने आगामी चातुर्मास जोधपुर में करने की प्रार्थना की। जयाचार्य ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर वि.सं. 1921 का चातुर्मास्य जोधपुर में किया। इसी प्रकार वि.सं. 1924 के लाडनूं चातुर्मास्य में साध्वी भूरांजी की दीक्षा में उपस्थित व्यवधान को दूर करके उन्होंने जयाचार्य की विशेष कृपा प्राप्त की। इस सेवा के प्रतिदान में भी वि.सं. 1925 का चातुर्मास जोधपुर को मिला।

## दुलीचंदजी दूगड़

लाडनूं के विशिष्ट श्रावकों में एक थे दुलीचंदजी दूगड़। वे दूलजी दूगड़ के नाम से प्रसिद्ध थे। वे मगनीरामजी दूगड़ के पुत्र थे और अपने चाचा शिवजीरामजी के गोद गए थे। उनके परिवार ने आचार्य ऋषिराय के पास सम्यक्त्व दीक्षा स्वीकार की थी। दूलजी को आचार्य ऋषिराय से लेकर कालूगणी तक छह आचार्यों की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी माता साध्वी गुलाबांजी जयाचार्य के पास दीक्षित हुई थीं। दूलजी की प्रकृति कुछ विचित्र थी। पर उन्होंने समय पर संघ की जो सेवा की, वह इतिहास का पृष्ठ बन गई।

मुनिपतजी की दीक्षा के प्रसंग में उनके दादा थानजी चोपड़ा की ओर से जोधपुर-नरेश के पास एक आवेदन-पत्र गया। उसमें एक 'मोडे' द्वारा उनके पौत्र को मूंडने का आरोप था। उसके आधार पर छानबीन किए बिना ही जोधपुर-नरेश ने जयाचार्य को गिरफ्तार करने के लिए दस घुड़सवारों को लाडनूं भेजने का आदेश दे दिया। उस समय जयाचार्य लाडनूं में प्रवास कर रहे थे। उनको इस प्रकार के किसी षड्यंत्र की जानकारी नहीं थी।

उधर जोधपुर निवासी बहादुरमलजी भण्डारी ने उक्त संवाद लाडनूं के श्रावकों के पास अविलंब पहुंचा दिया और यह सूचना भी भिजवा दी कि वे नरेश के आदेश को निरस्त करवाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

लाडनूं के श्रावकों में हलचल मच गई। वे संघ पर आई उस मुसीबत को टालने का प्रयास सोचने लगे। उनके चिंतन से कुछ बिंदु सामने आए–

- जोधपुर से आने वाले घुड़सवारों को रोकना।
- घुड़सवारों को रोकने के लिए जोधपुर-नरेश से संपर्क करना।
- घुड़सवार पहले ही यहां पहुंच जाए तो स्थिति का सामना करना।
- लाडनूं के ठाकुर साहब का सहयोग लेने का प्रयास करना।

लंबे विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय लिया गया कि कदाचित घुड़सवार आकस्मिक रूप से आकर जयाचार्य को परेशान करें, इसलिए सबसे पहले जयाचार्य का स्थान-परिवर्तन करा देना चाहिए। इसके साथ ही श्रावकों ने अपने बलिदान की मानसिकता बना ली। उनका चिंतन था कि दुर्भाग्य से घुड़सवार यहां पहुंच जाएं तो भी वे जयाचार्य के हाथ नहीं लगा पाएं। दुलीचंदजी दूगड़ इस काम में अग्रणी थे। उन्होंने जयाचार्य से निवेदन किया–'इस खुले मकान में रहना उचित नहीं है। सुरक्षा की दृष्टि से आप मेरी हवेली में पधारें।'

जयाचार्य स्थान बदलना नहीं चाहते थे। किंतु श्रावकों ने प्रार्थना की–'गुरुदेव! आप सुरक्षित स्थान में रहेंगे तो हम निश्चिन्त होकर आने वालों को समझा सकेंगे। संभव है, हमारी पूरी बात समझकर वे नरेश के आदेश की क्रियान्विति में कुछ समय लगा दें। तब तक जोधपुर से भंडारीजी के प्रयास से कोई दूसरा आदेश आ जाए।' श्रावकों की इस प्रार्थना पर जयाचार्य दूगड़जी की हवेली में पधार गए। वहां उन्होंने पूरी व्यवस्था कर ली। पहली व्यवस्था आदेश लेकर आने वालों को समझाने की थी। दूसरी व्यवस्था में श्रावकों द्वारा सशक्त मानव-दीवार बनाने की थी। दूगड़जी किसी भी मूल्य पर जयाचार्य पर आंच नहीं आने देना चाहते थे। वे अपना सब कुछ दांव पर लगाकर भी जयाचार्य की सुरक्षा करना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने तीसरी व्यवस्था में कुछ चुने हुए स्थानीय 'मोहिल' राजपूतों को तैयार किया, जो मरने और मारने में माहिर थे।

धार्मिक दृष्टि से इस तैयारी का औचित्य नहीं था। किंतु समय पर जो कुछ किया गया, वह उनकी दृष्टि से आवश्यक और अंतिम प्रतिकार था।

सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था के बाद वे संभावित खतरे का मुकाबला करने के लिए कटिबद्ध होकर घुड़सवारों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। किंतु उधर जोधपुर में भंडारीजी की सूझबूझ से नरेश ने अपने पूर्व आदेश को निरस्त कर नया आदेश-पत्र लिखकर दे दिया। भंडारीजी के पुत्र किशनमलजी वह आदेश-पत्र लेकर कुछ घुड़सवारों के साथ लाडनूं आए। उन्होंने अपना परिचय देकर श्रावकों को आश्वस्त किया और जयाचार्य के दर्शन कर सारी घटना सुनाई। उस प्रसंग में बहादुरमलजी भंडारी का कर्तृत्व तो था ही, पर संभावित विकट स्थिति का मुकाबला करने के लिए लाडनूं के श्रावकों ने जो तैयारी की, उससे दुलीचंदजी की संघनिष्ठा और गुरुभक्ति को भी उजागर होने का मौका मिला।

**66. 'चैन' है बेचैन सुन आश्रव अजीव, नहीं-नहीं,**
**स्पष्ट यतिवर ने सभा में कहा, चैन सही कही।**
**क्या कभी भी भूल पाएं नाम 'गेरु-व्यास' का,**
**प्रथम परिचय दिया तेरापंथ के विश्वास का॥**

लोटोती गांव में खरतरगच्छ के श्रीपूज जिनचन्द सूरि आए। वे उपाश्रय में प्रवचन देते थे। एक दिन प्रवचन में उन्होंने आश्रव को अजीव बताया। वह बात सुन तेरापंथी श्रावक चैनजी श्रीमाल बेचैन हो उठे। उन्होंने सभा में खड़े होकर कहा—'महाराज! आश्रव अजीव नहीं, जीव होता है।' श्रीपूजजी ने उस विषय की जानकारी की। चैनजी का कथन सही पाकर उन्होंने सभा में स्पष्ट कहा कि चैनजी की बात ठीक है।

गेरूलालजी व्यास आचार्य भिक्षु के प्रथम श्रावक थे। उन्होंने सबसे पहले तेरापंथ के प्रति अपने विश्वास का परिचय दिया। उनके नाम को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

## भाष्य

### चैनरूपजी श्रीमाल

चैनजी श्रीमाल लोटोती गांव के रहने वाले थे। वे श्रद्धालु और तत्त्वज्ञ श्रावक थे। उन्हें आचार्य भारीमालजी और आचार्य ऋषिरायजी की

उपासना का अवसर मिला। एक बार लोटोती में खरतरगच्छ के श्रीपूज जिनचंद्र सूरि आए। वे उपाश्रय में व्याख्यान देते थे। एक दिन उन्होंने व्याख्यान में नवतत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा–'आश्रव अजीव है।' चैनजी तत्त्व के जानकार थे। वे खड़े होकर बोले–'महाराज! आश्रव तो जीव है। आप उसे अजीव कैसे बतला रहे हैं?' सूरिजी ने उनके कथन का प्रतिवाद किया, किंतु चैनजी अपनी बात पर अडिग थे। सूरिजी ने कहा–'इस विषय में व्याख्यान के पश्चात बात करेंगे।' व्याख्यान सम्पन्न हुआ। बात आगे बढ़ी, पर कोई निष्कर्ष नहीं निकला। आखिर आगम देखकर निर्णय करने की बात कही गई।

सूरिजी ने चर्चावादी यतियों को बुलाकर आगम देखने का निर्देश दिया। विद्वान यतियों ने गंभीरता से आगमों का निरीक्षण कर कहा–'सूत्र-न्याय के अनुसार आश्रव जीव ही ठहरता है।' सूरिजी आत्मार्थी थे। उन्होंने तत्काल चैनजी को बुलवाया। उनके सामने स्वीकार किया कि आश्रव जीव है। अपने द्वारा किए गए असत्य प्रतिपादन के लिए उन्होंने 'मिच्छामि दुक्कडं' स्वीकार किया। इतना ही नहीं, चैनजी की बात को गलत कहा, उसके लिए उन्होंने 'खमतखामणा' भी किया।

श्रावक चैनजी सूरिजी की आत्मार्थिता और उदारता से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने भी चालू व्याख्यान में प्रश्न पूछने से हुए अविनय के लिए क्षमायाचना की। उसके बाद वे जाने के लिए उद्यत हुए तो सूरिजी बोले–'अभी तो औपचारिक बात हुई है, इस विषय का सारा स्पष्टीकरण तो कल व्याख्यान में ही करूंगा।' दूसरे दिन प्रातःकालीन परिषद में सूरिजी ने सारी बात का खुलासा करते हुए अपनी धारणा को गलत बताया और चैनजी की धारणा को सही स्वीकार किया। उन्होंने जनता के सामने पुनः चैनजी से 'खमतखामणा' किया। इस घटना से सूरिजी और चैनजी–दोनों का महत्त्व बढ़ा। सूरिजी का अनाग्रह लोगों की चर्चा का विषय था तो चैनजी का पुष्ट तत्त्वज्ञान सबको आश्चर्य में डालने वाला था।

## गेरूलालजी (गोरूलालजी) व्यास

गेरूलालजी व्यास जोधपुर के पुष्करणा ब्राह्मण थे। वे प्रारंभ से ही संत-समागम के रसिक थे। समय-समय पर वे जैन संतों के सान्निध्य से भी लाभ उठाते थे। बार-बार निकट सम्पर्क के कारण वे जैन तत्त्वज्ञान में

भी रुचि लेने लगे। आचार्य भिक्षु ने धर्मक्रांति से पहले वि. सं. 1816 का चातुर्मास जोधपुर में किया। गेरूलालजी सर्वप्रथम उसी चातुर्मास्य में उनके संपर्क में आए। उनकी क्रांतिकारी अवधारणाओं से वे बहुत प्रभावित हुए। कुछ महीनों बाद आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी संप्रदाय से अभिनिष्क्रमण कर दिया। उसके बाद वे जोधपुर आए तो व्यासजी आदि कुछ लोगों ने उनका बहुत सहयोग किया। व्यासजी पर उनका इतना रंग चढ़ा कि परंपरा से ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने विधिवत जैनधर्म स्वीकार कर लिया। उस समय जोधपुर के तेरह व्यक्ति आचार्य भिक्षु के भक्त बने, उनमें प्रथम पंक्ति में व्यासजी का नाम था। उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा निरूपित श्रद्धा और आचार को इतनी गहराई से समझ लिया कि उसके बारे में लोग उनसे जानकारी लेने लगे।

तेरापंथ का नामकरण जोधपुर में हुआ। उस समय आचार्य भिक्षु वहां नहीं थे। उनसे समझे हुए श्रावक दुकानों में सामायिक आदि धार्मिक अनुष्ठान करने लगे। एक दिन सायंकाल जोधपुर राज्य के दीवान फतेहमलजी सिंघी बाजार से होकर कहीं जा रहे थे। उन्होंने श्रावकों को वहां देखा तो मन में जिज्ञासा उभरी। उन्होंने श्रावकों से वहां सामायिक करने का कारण पूछा। उस समय व्यासजी ने ही उनको आचार्य भिक्षु की धर्मक्रांति का पूरा विवरण सुनाया था।

मांडवी (कच्छ) के एक सनातनी मठ के महंत की संपत्ति पाली और जोधपुर में भी थी। उन दोनों स्थानों की देखरेख के लिए महंतजी ने गेरूलालजी को नियुक्त किया था। वहां की आय और व्यवस्था संबंधी कार्यों की सूचना देने के लिए उन्हें कई बार मांडवी जाना पड़ता था। आते-जाते समय वे अपना रात्रिकालीन प्रवास किसी जैन उपाश्रय या स्थानक में करते थे। वे वहां सामायिक करते और आचार्य भिक्षु द्वारा रचित श्रद्धा एवं आचार संबंधी गीतिकाओं का संगान करते। वहां जो लोग धर्मोपासना करते, उनके साथ तात्त्विक चर्चा शुरू कर देते। इस क्रम से उन्होंने अनेक गांवों व शहरों में आचार्य भिक्षु का संदेश पहुंचा दिया। उनसे तत्त्व समझकर अनेक व्यक्ति सुलभबोधि और सम्यक्त्वी बने। उनके इस कर्तृत्व के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यासजी तेरापंथ के प्रथम श्रावक थे और सुदूर प्रदेशों में तेरापंथ का परिचय देने वाले श्रावकों में भी प्रथम थे।

**67. 'सेठिया संतोक' रीड़ी को चतुरता से चुनें,**
**ध्यान से संवाद 'बोरदिया जवाहर' का सुनें।**
**लाजवाबी विमुख-सम्मुख 'लाजपत की मां' कही,**
**लाल-पत्नी लालजी से क्या कमाल जबां कही॥**

धर्मसंघ के प्रति समर्पण का बोधपाठ सीखने के लिए रीड़ी के संतोकचंदजी सेठिया की घटना को चतुरता से चुना जाए। आचार्य के निर्देश की क्रियान्विति की कला का प्रशिक्षण पाने के लिए देवरिया (मेवाड़) के जवाहरलालजी बोरदिया का साधुओं के साथ हुआ संवाद ध्यान से सुना जाए। संघीय आस्था का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लाला लाजपत की माता भूरीदेवी को सामने रखा जाए। उसने संघविमुख साधुओं से जो बात कही, उनके पास उसका कोई जवाब नहीं था। लालचंदजी कोठारी (छापर) की धर्मपत्नी झमकूदेवी ने अपने पति से जो कुछ कहा, वह भी बहुत विलक्षण था।

## भाष्य

### संतोकचंदजी सेठिया

बीदासर और श्रीडूंगरगढ़ के बीच में एक गांव है रीड़ी। किसी समय वहां ओसवालों की अच्छी बस्ती थी। वे लोग तेरापंथी थे। उनमें संतोकचंदजी सेठिया बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीमज्जयाचार्य के पास गुरुधारणा की थी। वे शासनभक्त, श्रद्धाशील और धर्मसंघ की रीति-नीति के जानकार थे। अपने करणीय के प्रति उनकी पूरी जागरूकता थी। प्रसंग वि. सं. 1937 का है। उस समय मुनि छोगजी आदि कुछ साधु संघ से अलग हो गए थे। हरखूजी आदि कुछ साध्वियां भी उनके साथ थीं। एक बार वे लोग रीड़ी आए। मुनि छोगजी से पहले वहां साध्वी हरखूजी पहुंचीं। वे श्रावक संतोकचंदजी के घर जाकर बोलीं–'श्रावकजी! आज आपके गांव में पूजी महाराज पधार रहे हैं।' यह बात सुन सेठियाजी चौंके। उन्होंने साश्चर्य कहा–'पूजी महाराज तो इस समय जयपुर में विराज रहे हैं। उनके इधर आने का तो कोई संवाद ही नहीं है। आप क्या कह रही हैं?' साध्वीजी बोलीं–'वे नहीं, छोगजी पूजी महाराज पधार रहे हैं।'

संतोकचंदजी को यह जानकारी थी कि मुनि छोगजी आदि संघ से अलग हैं। फिर भी उन्होंने अनजान बनते हुए पूछा–'साध्वीजी! तेरापंथ में आचार्य एक ही होते हैं। फिर ये पूजी महाराज कैसे हुए?' इस प्रश्न ने साध्वीजी को सहमा दिया। दो क्षण संभलकर वे बोलीं–'आपको पता नहीं है क्या, उन्होंने अपना अलग संघ बना लिया है।' सेठियाजी ने कहा–'साध्वीजी! आप तो जानती है कि मर्यादा-पत्र का वाचन करते समय वे हर बार यह त्याग करते थे कि जब तक खोली (शरीर) में सांस रहेगा तब तक मर्यादाओं को भंग करने का त्याग है। मैं आपसे जानना चाहता हूं कि वे उसी खोली में आए हैं या उसे बदलकर आए हैं?' साध्वी हरखूजी इस बार सहमी ही नहीं, घबरा भी गईं। वे प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाईं। उनकी आशा धूमिल हो गई। वे मौन होकर वहां से लौट गईं।

उक्त घटना प्रमाणित करती है कि श्रावक संतोकचंदजी संघ की मर्यादाओं को जानते थे और समय पर गहरी सूझबूझ से काम करते थे।

## जवाहरलालजी बोरदिया

बात वि. सं. 1967 की है। उस वर्ष आचार्यश्री कालूगणी ने मुनि नथराजजी (गंगापुर) को 'मोखणुंदा' चातुर्मास्य करने का निर्देश दिया। चातुर्मास्य से पूर्व शेषकाल में वे शारीरिक अस्वस्थता के कारण 'देवरिया' (मोखणुंदा के निकट) में प्रवास कर रहे थे। वहां मोखणुंदा की अपेक्षा भोजन, पानी, स्थान आदि की अच्छी सुविधा थी। वे प्राप्त सुविधा को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। फलतः स्वस्थ होने के बाद भी उन्होंने वहां से विहार नहीं किया। इससे श्रावकों में ऊहापोह हुआ। कुछ श्रावक मुनि नथराजजी के पास गए। उन्होंने विहार के बारे में पूछा तो वे बोले–'अभी शक्ति कम है। कुछ समय बाद विहार करने का विचार है।' कुछ समय बाद भी विहार नहीं हुआ तो श्रावकों ने उनको पुनः विहार के बारे में निवेदन किया।

श्रावकों की ओर से दबाव पड़ने पर मुनि नथराजजी ने विहार किया, पर उनकी मंशा 'देवरिया' गांव छोड़ने की नहीं थी। बिना मन चले तो पांव लड़खड़ाने लगे। उनके अभिप्राय को समझकर देवरिया के प्रमुख श्रावक जुहारमलजी बोरदिया बोले–'महाराज! मोखणुंदा पधारो तो हम आपकी

सेवा करेंगे। यदि आपकी इच्छा वहां चातुर्मास्य करने की नहीं है तो संघीय पुस्तकें हमें दो। उसके बाद आपकी जहां इच्छा हो, चले जाओ।' (पोथी-पाना रखद्यो अठै, जाओ मन आवै जठै।) बोरदियाजी की बात सुन वे सीधे मोखणुंदा चले गए।

जुहारमलजी ने जब कालूगणी के दर्शन कर उक्त घटना सुनाई तो उन्होंने परिषद के बीच बोरदियाजी की प्रशंसा करते हुए कहा–'हमारे श्रावक बहुत जागरूक हैं। ये गलत रास्ते जाने वाले साधुओं को सही रास्ता दिखाने में संकोच नहीं करते और संघ की गतिविधि की भी पूरी जानकारी रखते हैं।'

## लाजपत की मां

टुहाना के श्रावक लाला रणजीतसिंह जैन का पूरा परिवार श्रद्धाशील है। उनके परिवार में लाजपतराय, मदनलाल, ओमप्रकाश और कमल–ये चार पुत्र तथा रखी, शांति, शकुन्तला और इलायची–ये चार पुत्रियां हैं। इन सबको धार्मिक संस्कार देने में लाला की पत्नी भूरीदेवी का विशेष योग रहा है। भूरीदेवी की श्रद्धाभक्ति देखकर आचार्यश्री तुलसी ने उनको 'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति' इस सार्थक संबोधन से संबोधित किया। भूरीदेवी के जीवन के संध्याकाल का एक प्रसंग उनकी प्रगाढ़ आस्था का सूचक है।

बात वि. सं. 2038 की है। उस वर्ष तेरापंथ धर्मसंघ से अलग हुए कुछ साधु धनमुनि, चंदनमुनि आदि टुहाना गए। उन्होंने ठहरने के लिए लालाजी का मकान मांगा। मकान उन्हें मिल गया। ऊपर की मंजिल में साधु ठहरे। नीचे लालाजी की पत्नी श्राविका भूरी देवी रहती थी। वे वहां सात दिन रहे। श्राविकाजी एक बार भी उनके पास नहीं गईं। एक दिन धनमुनि स्वयं चलकर उनके पास गए और बोले–'माताजी! हम आपके मकान में सात दिन रहे और आप एक बार भी ऊपर नहीं आईं। यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है कि आप हमारे पास आए बिना रहीं कैसे? आपको याद होगा, हम पहले यहां एक महीना रहे थे। उस समय आपको कितना तत्त्वज्ञान सिखाया और आपने हमारी कितनी भक्ति की थी।'

धनमुनि की बात सुन श्राविका भूरीदेवी बोलीं–'महाराज! एक बात मेरी समझ में भी नहीं आ रही है कि आप जैसे संत संघ से अलग क्यों हो

गए? मुझे आपका प्रवास और आपके पास सीखा हुआ तत्त्वज्ञान याद है। पर आप जानते हैं कि हम तो संघ के भक्त हैं। आपने संघ की मर्यादा तोड़ दी। अब हम आपके पास क्यों आएं? आप संघ की मर्यादा में चलो और फिर देखो हम आपके पास आते हैं या नहीं?' श्राविकाजी से सीधा उत्तर सुनकर मुनिजी मौन हो गए।

**लालपत्नी**

बीदासर के मुनि चंपालालजी (चांचिया) की दीक्षा वि. सं. 1979 में आचार्यश्री कालूगणी के करकमलों से हुई थी। सं. 1991 में उनको अग्रगण्य बनाया गया। वे एक परिश्रमी मुनि थे। उन्होंने दूर-निकट के क्षेत्रों में अच्छा धर्म-प्रचार किया। सं. 2010 में उनका चातुर्मास्य दौलतगढ़ (मेवाड़) था। वहां उन्होंने श्रावकों के सामने संघ-संघपति की निंदा की। विश्वस्त श्रावकों द्वारा वह बात आचार्यश्री तुलसी के पास पहुंची। चातुर्मास्य के बाद उन्होंने दर्शन किए। उक्त गलती के कारण उनकी अग्रगामिता समाप्त कर दी गई। उन्होंने अग्रगण्य बने रहने के लिए काफी प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिली। फलतः वे उसी वर्ष राणावास में संघ से अलग हो गए।

संघ से अलग होकर मुनि चंपालालजी ने कुछ लोगों को भ्रांत बनाकर अपने निकट कर लिया। उनमें छापर निवासी लालचंदजी कोठारी भी एक थे। मुनि चंपालालजी छापर में कुछ समय तक रहे। लालचंदजी आदि कुछ व्यक्ति उनका व्याख्यान सुनने जाते थे। किंतु उनके घरों की महिलाएं वहां कभी नहीं गईं। मुनिजी ने भाइयों को प्रेरणा दी कि वे व्याख्यान में बहनों को भी साथ लेकर आएं तो व्याख्यान का रंग अच्छा जमे। मुनिजी से प्रेरणा पाकर लालचंदजी ने अपनी पत्नी झमकूदेवी से कहा–'महाराज इतना अच्छा व्याख्यान देते हैं फिर भी तुम लोग लाभ नहीं उठातीं। महिलाओं के बिना परिषद फीकी लगती है। उस स्थिति में महाराज का भी व्याख्यान करने का मन कम हो जाता है। इसलिए तुम आग्रह छोड़कर व्याख्यान में जाना शुरू कर दो।'

भारतीय महिलाएं अपने पति के प्रति बहुत आदर और सम्मान के भाव रखती हैं, किंतु धर्म के मामले में वे उन्हें भी दो टूक जवाब दे देती हैं। झमकूदेवी अपने पति की बात सुनकर बोली–'मैं चांचियाजी के

व्याख्यान में जाऊंगी, यह आशा आप छोड़ ही दें। आपके महाराज को परिषद में महिलाओं की उपस्थिति इतनी आवश्यक लगे तो घर में 'घाघरे-ओढ़ने' बहुत रखे हैं। आप उन्हें पहनकर जाओ, महाराज की इच्छा पूरी हो जाएगी।' लालचन्दजी को कल्पना भी नहीं थी कि उनकी पत्नी इतनी कड़ी बात कह सकती है। उस दिन के बाद उन्होंने झमकूदेवी को कभी उधर जाने के लिए नहीं कहा। बिना पढ़ी-लिखी साधारण गृहिणी की धार्मिक दृढ़ता ने एक इतिहास बना दिया।

**68. श्रावकों की अटल आस्था के अनोखे उद्धरण,**
**तत्त्वविद् 'जैचंद-कोठारी' स्वयं हैं संस्मरण।**
**धार्मिकों की सुप्त अंतश्चेतना की चालिका,**
**प्राथमिक अध्ययन की यह तत्त्वविद्या-तालिका॥**

आस्था के क्षेत्र में श्रावकों की दृढ़ता के अनोखे उदाहरण मिलते हैं। तत्त्वज्ञ श्रावकों में जयचन्दलालजी कोठारी (लाडनूं) अपने आपमें एक संस्मरण हैं। धार्मिक व्यक्तियों की अन्तश्चेतना का जागरण तत्त्वज्ञान से ही संभव है। तत्त्वज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत पद्य से आगे के दो पद्यों में कुछ ग्रंथों, पुस्तकों और गीतों की सूचना दी गई है।

## भाष्य

### जयचंदलालजी कोठारी

आचार्यश्री तुलसी ने सन 1949 में अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। उस समय समाज-निर्माण के कार्य में संलग्न होने वाले अणुव्रती कार्यकर्ताओं में एक नाम है जयचंदलालजी कोठारी (लाडनूं) का। वे एक निष्ठाशील श्रावक, संघर्षशील कार्यकर्ता, नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पित और जागरूक व्यक्ति थे। लाडनूं में अनेक सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं में उनकी सक्रिय संभागिता थी। 'आदर्श साहित्य संघ' संस्थान में भी उनकी स्मरणीय सेवाएं रही हैं। एक पत्रकार के रूप में उन्होंने कुछ वर्षों तक 'जैन भारती' को भी अपनी सेवा दी। संयम और सादगी के प्रति आस्थावान कोठारीजी अपने धर्मगुरु आचार्यश्री तुलसी के एक इंगित पर कठिन-से-कठिन काम करने के लिए तत्पर रहते थे।

कोठारीजी जैनतत्त्वविद्या के मर्मज्ञ थे। यद्यपि वे पढ़े-लिखे विद्वान नहीं थे, पर दैविक वरदान के रूप में उनके ज्ञानचक्षु खुल गए थे। अपने

अकाट्य तर्कों से तेरापंथ की मान्यताओं का विरोध करने वाले लोगों को निरुत्तर कर देते थे। विरोध करने वाले व्यक्ति प्रायः विरोधी भाषा का ही उपयोग करते हैं। कोठारीजी विरोधी तर्कों का उत्तर विरोध प्रदर्शित करने वाली भाषा में नहीं देते थे। अपनी तार्किक क्षमता के आधार पर वे सहज भाषा में ऐसी बात कह देते कि सामने वाले व्यक्ति को मौन का आलंबन लेना पड़ता। कभी-कभी तो वे तत्त्वविद्या में निष्णात साधु-साध्वियों को भी घुमा-फिराकर ऐसे 'बोल' पूछते कि उन्हें भी सोचने के लिए विवश कर देते। संघ के अच्छे-अच्छे साधु-साध्वियां उनके पास आगम पढ़ते और 'थोकड़ों' के रहस्य समझते थे। लाडनूं सेवाकेंद्र में सेवा देने वाली साध्वियां प्रायः उनसे तात्त्विक चर्चा के 'गुर' समझा करती थीं। वे तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में कोई विशेष काम करना चाहते थे। प्राचीन थोकड़ों का सरलीकरण करना और उनमें अपेक्षित संशोधन करना भी उनका लक्ष्य था। किंतु वे असमय में चले गए। तत्त्वज्ञ श्रावकों की सूची में वे सदा स्मरणीय बने रहेंगे।

## तात्त्विक ज्ञान

**69. 'जैनतत्त्वप्रवेश' और 'पचीस बोल' मुखस्थ हों,**
**'अमृत कलश' किताब घर-घर में पढ़ें विश्वस्त हों।**
**ज्ञानशाला चले हर पुर तत्त्व-बोध-विकास में,**
**तेरापंथ-प्रबोध का संगान हर्षोल्लास में॥**

**(लावणी)**

**70. गंभीर ज्ञान हित निश्चित 'पुस्तक-पंचक',**
**तात्त्विक गीतों के गूंजे स्वर रोमांचक।**
**'संबोध' और 'श्रावक-संबोध' स्वयंभू,**
**पढ़ते स्मृति-पथ में रहें सुधर्मा जंबू॥**

'जैनतत्त्वप्रवेश' और 'पचीस बोल'—कम-से-कम ये दो थोकड़े सब श्रावक कंठस्थ करें। 'अमृत कलश' पुस्तक के तीनों भाग विश्वस्त होकर घर-घर में बार-बार पढ़े जाएं। बालकों के तत्त्वज्ञान को विकसित करने के लिए प्रत्येक गांव और नगर में ज्ञानशालाओं का व्यवस्थित संचालन हो। 'तेरापंथ-प्रबोध' एक विशिष्ट ग्रंथ है। समय-समय पर हर्षोल्लास के साथ उसका संगान होता रहे।

जैन सिद्धांत का गंभीर ज्ञान करने के लिए पांच पुस्तकें निर्धारित की गई हैं, उनका गहरा अध्ययन किया जाए। इसी प्रकार तात्त्विक गीतों के रोमांचक स्वर घर-घर में गूंजते रहें। 'संबोध' और 'श्रावक-संबोध'—ये दो पुस्तकें अपने आपमें बोधवर्धक और पथदर्शक हैं। इनको पढ़ते समय आर्य सुधर्मा और आर्य जंबू की स्मृति सहज ताजा हो जाती है, क्योंकि इनमें निहित ज्ञानराशि का मूल-स्रोत आर्य सुधर्मा और जंबू हैं।

## भाष्य

कम्प्यूटर और केल्क्यूलेटर के युग में जन्म लेने वाली पीढ़ी कंठस्थ ज्ञान की परंपरा को भार मान रही है। उसके स्मृति-प्रकोष्ठ इतने संकुचित हो गए हैं कि हर बात कम्प्यूटर में भरकर रखने की भावना सुदृढ़ होती जा रही है। कुछ भी सीखने का प्रसंग उपस्थित होता है तो इस पीढ़ी के सदस्यों की प्रतिक्रिया होती है—रट्टा मारने से क्या होना है? कंठस्थ करना तो सिर-दर्द मोल लेना है, याद तो कुछ रहेगा नहीं, फिर कंठस्थ करने में समय क्यों लगाएं? उक्त विचार एक-दूसरे में संक्रांत होते हुए इस युग की पूरी पीढ़ी को प्रभावित कर लेंगे तो मनुष्य पूरी तरह से यंत्रों पर निर्भर हो जाएगा।

आचार्यश्री तुलसी हर समस्या का समाधान खोजते रहे हैं। स्मरण-शक्ति के ह्रास से उपजने वाली समस्या का निराकरण करने के लिए उन्होंने कंठस्थ ज्ञान की प्रणाली को सुरक्षित रखने का निर्देश देते हुए कम-से-कम 'पचीस बोल' और 'जैनतत्त्वप्रवेश' नामक दो ग्रंथों को मुखस्थ करने की बात कही। इस क्रम में कालूतत्त्वशतक, तत्त्वचर्चा, कर्मप्रकृति, लघुदंडक, इक्कीस द्वार, बावन बोल आदि अनेक ग्रंथों को जोड़ा जा सकता है। बिना पढ़े-लिखे बहनें एक-एक शब्द सुन-सुनकर अपने ज्ञानभंडार को बहुत समृद्ध बना लेती थीं तो क्या पढ़े-लिखे लोग दो-चार ग्रंथों को याद नहीं रख सकते?

'अमृत कलश' पुस्तक के तीन भागों में पठनीय, स्मरणीय और कंठीकरणीय विविध सामग्री का संकलन है। उपयोगिता और तथ्यों की प्रामाणिकता दोनों दृष्टियों से इनका स्वाध्याय आवश्यक है।

'ज्ञानशाला' बच्चों के संस्कार-निर्माण का एक प्रयोग है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के कारण संस्करों पर हो रहे हमले से बच्चों को

बचाने में ऐसे प्रयोग ही सफल हो सकते हैं। इनमें प्रशिक्षण की प्रक्रिया और प्रशिक्षक की अर्हता के आधार पर 'ज्ञानशाला' की उपयोगिता प्रमाणित हो सकती है।

'तेरापंथ प्रबोध' आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित एक विशिष्ट ग्रंथ है। उसमें आचार्य भिक्षु का जीवनदर्शन तथा तेरापंथ का इतिहास बहुत व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किया गया है। इसका निर्माण मूलतः 'धम्म-जागरणा' के लक्ष्य को सामने रखकर हुआ था। किंतु यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिसका हर घर में समय-समय पर संगान होता रहे तो आने वाली शताब्दियों में इसे लोकगीत की तरह जन-जन के मुंह पर सुना जा सकेगा।

जैनविद्या के जिज्ञासु लोगों के लिए हिंदी, संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक प्रौढ़ ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनका गहरा अध्ययन होना चाहिए। प्राथमिक रूप में यहां पांच पुस्तकों का निर्धारण किया गया है–

1. भगवान महावीर 2. भिक्षुविचारदर्शन 3. जैनतत्त्वविद्या 4. जैन परंपरा का इतिहास 5. जैन सिद्धान्तदीपिका

हमारे आचार्यों ने पद्य साहित्य का भी प्रचुर मात्रा में निर्माण किया है। उनमें कुछ तात्त्विक और संघीय गीतों को कंठस्थ कर उनका स्वाध्याय करना चाहिए। प्राथमिक रूप में निर्धारित पांच गीत हैं–

• तीन गुणठाणा अमर कह्या छै • जिन भाख्या पाप अठार ए • किरपण दीन अनाथ ए • सिरियारी रो सन्त • शासन कल्पतरु

इसी शृंखला में संबोध और श्रावक-संबोध (प्रस्तुत ग्रंथ) पुस्तकों का भी विशेष अध्ययन अपेक्षित है। संबोध पुस्तक में आचार-बोध, संस्कार-बोध और व्यवहार-बोध–ये तीन ग्रंथ हैं, जो साधना, संस्कार-निर्माण तथा जीवन-व्यवहार का प्रशिक्षण देने वाले हैं। 'श्रावक संबोध' में श्रावक धर्म के उद्गम के इतिहास को उजागर करते हुए विविध दृष्टियों से श्रावकाचार का निरूपण किया गया है।

वर्तमान में हमारे पास ज्ञान की जो परंपरा है, वह आर्य सुधर्मा और जंबू के संवाद से प्राप्त है। इस दृष्टि से अध्ययन-अध्यापन के प्रसंग में उनको स्मृति में रखना आवश्यक है।

## उपसंहार

**71. जिनमत-मणि श्रीमद राजचन्द्र से श्रावक,**
**पूरे आध्यात्मिक पथ के परम प्रभावक।**
**श्री रूप-सेठिया जैसे श्रावक-भूषण,**
**जिनकी चर्या जीवंत बोलती क्षण-क्षण॥**

**72. तत्त्वज्ञ श्रावकों का यह विमल युगल है,**
**आस्था आचार ज्ञान का अविरल बल है।**
**'श्रावक-संबोध' संघ में मंगलमय हो,**
**श्री जिनशासन की 'तुलसी' सदा विजय हो॥ (युग्मम्)**

जैनशासन के रत्न श्रीमद राजचन्द्र जैसे श्रावक आध्यात्मिक क्षेत्र में परम प्रभावक हुए हैं। श्रावकभूषण रूपचन्दजी सेठिया (सुजानगढ़) की चर्या जीवंत रही है। वह आज भी हर क्षण मुखर है। यह तत्त्वज्ञ श्रावकों की एक बेदाग जोड़ी है। उनके पास आस्था, आचरण और ज्ञान का ठोस बल था।

उक्त दोनों विशिष्ट श्रावकों की स्मृति के साथ मैं 'श्रावक-संबोध' की रचना संपन्न कर रहा हूं। श्रावक-संबोध हमारे संघ में मंगलस्वरूप बने और जैनशासन की सदा जय-विजय हो।

### श्रीमद् राजचंद्र

सौराष्ट्र के ववाणिया बंदर नामक गांव में श्रीमद राजचंद्र का जन्म हुआ। ईस्वी की उन्नीसवीं सदी (सन् 1867) में उन्होंने एक वणिक परिवार में जन्म लिया। उनका नाम था लक्ष्मीनंदन। बाद में उसका नाम बदलकर रायचंद किया गया, पर उनकी प्रसिद्धि श्रीमद राजचंद्र के नाम से हुई। उनके पिता कृष्णभक्त थे। माता में जैनधर्म के संस्कार थे। श्रीमद राजचंद्र में उन सब संस्कारों का मिश्रण था। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। वे 21 वर्ष की अवस्था में ववाणिया से बंबई चले गए और जवाहरात का व्यापार करने लगे।

एक बार एक व्यापारी के साथ श्रीमद् राजचंद्र ने हीरों का सौदा किया। अमुक समय में निश्चित भाव से उस व्यापारी को अमुक हीरे देने थे। व्यापार संबंधी बातचीत का दस्तावेज बन गया। कुछ समय बाद हीरों के भाव बहुत बढ़ गए। श्रीमद् स्वयं उस व्यापारी के घर गए। व्यापारी

चिंतित था। श्रीमद् ने उस दस्तावेज को फाड़ डाला और कहा—'भाई! इस दस्तावेज के कारण तुम प्रतिबद्ध हो। बाजार में भाव बढ़ जाने से तुममें मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये निकलते हैं। परंतु तुम्हारी स्थिति मेरे ध्यान में है। इतना अधिक रुपया देना तुम्हारे वश की बात नहीं है। राजचंद्र दूध पी सकता है, खून नहीं। तुम निश्चिंत रहो।' श्रीमद् के इस सौहार्दपूर्ण व्यवहार ने व्यापारी को सदा-सदा के लिए उनका कृतज्ञ बना दिया।

श्रीमद् राजचंद्र का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। उनकी अंतर्मुखता उत्तरोत्तर बढ़ती रही। वे अच्छे लेखक और कवि थे। वे अपने विचारों को सहजता से छंदबद्ध कर लेते थे। आत्मसिद्धि शास्त्र, पुष्पमाला, मोक्षमाला आदि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। उन्होंने आचार्य कुंदकुंद के पंचास्तिकाय ग्रंथ का गुजराती में अनुवाद किया। महात्मा गांधी के साथ उनका अच्छा संपर्क था। महात्मा गांधी धर्म के मामले में उन्हें अपना गुरु मानते थे। गांधीजी ने लिखा—'मुझ पर तीन पुरुषों ने गहरा प्रभाव डाला है—टॉलस्टाय, रस्किन और रायचंद भाई। जब मुझे हिंदू धर्म में शंका हुई तो उस समय उसका निवारण करने वाले रायचंद भाई थे।'

अहिंसा के बारे में गांधीजी को जो दृष्टि उपलब्ध हुई, उसमें श्रीमद राजचंद्र की प्रमुख भूमिका रही है। उनकी व्यवहारकुशलता और कर्तव्यपरायणता का गांधीजी के मन पर प्रभाव था। उन्होंने 'श्रीमद् राजचंद्र जयंती' के प्रसंग पर एक बार लिखा—'मैंने अपने जीवन में बहुतों से पाया है। उनमें सबसे अधिक श्रीमद्जी के जीवन से पाया है। दया धर्म (अहिंसा धर्म) मैंने उनसे सीखा है।' वास्तव में श्रीमद् राजचंद्र अध्यात्म जगत के उज्ज्वल नक्षत्र थे। उन्होंने अपने जीवन और जीवन-व्यवहार से अध्यात्मपथ को आलोकमय बना दिया। अनेक लोगों ने उनके जीवन और ग्रंथों से अध्यात्म की प्रेरणा प्राप्त की।

## रूपचंदजी सेठिया

सुजानगढ़ निवासी सुश्रावक रूपचंदजी सेठिया दृष्टिसंपन्न व्यक्ति थे। वे दृढ़धर्मी और विवेकसंपन्न थे। उन्होंने धर्म को प्रायोगिक रूप में जीने का प्रयास किया। अहिंसा उनके जीवन का एक विशेष प्रयोग था। जीवन के हर कार्य में अहिंसा का ध्यान रखना उनका लक्ष्य था। वे मानसिक हिंसा से भी बचने का प्रयास करते थे। आर्थिक संपन्नता के बावजूद वे

त्यागमय और सादा जीवन जीते थे। उनकी संयम-साधना को देखकर लोग कहते थे कि वे गृहस्थ जीवन में भी साधु जैसा आचरण करते हैं। उनका जीवन त्याग और वैराग्य की जीवंत कहानी है। बत्तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने (पति-पत्नी दोनों ने) लक्ष्यपूर्वक ब्रह्मचर्य की साधना शुरू कर दी। पांच वर्ष तक साधना करने के बाद वे जीवनभर के लिए ब्रह्मचारी बन गए।

रूपचंदजी का वैराग्यभाव बहुत प्रबल था। स्नान करने के लिए बहुत कम पानी का उपयोग करते थे। प्रारंभ के कुछ वर्षों तक वे स्नान के लिए पांच सेर पानी काम में लेते। धीरे-धीरे उसे घटाकर वे पैंतालीस तोले तक पहुंच गए। वे पहनने, ओढ़ने या बिछाने के लिए रूई भरे वस्त्र काम में नहीं लेते थे। सर्दी के समय रात को तेबीस हाथ से अधिक कपड़े का उपयोग नहीं करते थे। प्रतिदिन सामायिक, दोनों समय प्रतिक्रमण, रात्रि को चौविहार, सचित्त पानी का त्याग आदि नियमों का वे जागरूकता से पालन करते थे।

रूपचंदजी सत्यनिष्ठ व्यक्ति थे। व्यापार में वे पूरी प्रामाणिकता रखते थे। अपने मुनीम-गुमाश्तों को भी उनका निर्देश था कि वे ग्राहकों के साथ धोखाधड़ी न करें। एक बार उनकी दुकान पर कोई ग्राहक आया। मुनीम ने उसको कपड़ा दे दिया और पैसे ले लिए। जिस भाव में उसे कपड़ा बेचा गया था, वह दुकान की निर्धारित दरों से कम था। रूपचंदजी ने मुनीम से इसके बारे में पूछताछ की तो वह बोला–'मैंने उसको बहुत समझाया, पर वह सही भाव में कपड़ा खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ। इस कारण मैंने उसके कहे हुए भाव पर कपड़ा दे दिया, किंतु मापने में दो गज कपड़ा बचा लिया।' रूपचंदजी को यह धोखे का व्यवहार अच्छा नहीं लगा। उन्होंने तत्काल आदमी भेजकर ग्राहक को वापस बुलाया। उसे दो गज कपड़ा और दिया तथा भूल के लिए क्षमायाचना की। ग्राहक के जाते ही उन्होंने मुनीम का भी हिसाब कर उसे नौकरी से छुट्टी दे दी।

रूपचंदजी विद्याप्रेमी और तत्त्वज्ञ श्रावक थे। उन्हें अनेक थोकड़े कंठस्थ थे। थोकड़ों को गहराई से समझकर उन्होंने जैन तत्त्व के जानकार श्रावकों में अपना स्थान बना लिया। उन्हें अनेक स्तवन और तात्त्विक गीत याद थे। वे अपने जीवन में जैन संस्कारों को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए लौकिक क्रियाकांडों या देववाद में उनकी कोई रुचि नहीं थी। वे श्रद्धानिष्ठ और धर्मसंघ के हितैषी थे। उन्होंने पांच आचार्यों का शासनकाल

देखा। सातवें आचार्य डालगणी की उन पर विशेष कृपा थी। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के समय रूपचन्दजी से परामर्श किया था। जीवन के आखिरी समय में उनको आठवें आचार्य कालूगणी के दर्शनों का सौभाग्य उपलब्ध हुआ। अपने साठ वर्ष के जीवनकाल में उन्होंने एक आदर्श श्रावक का उदाहरण उपस्थित किया। उनकी आस्था, उनका ज्ञान, उनका विवेक और उनका उदात्त चरित्र उनके गौरवपूर्ण जीवन की कहानी कह रहा है।

**(रामायण)**

**73. संवत तिरपन शरद-पूर्णिमा, भव्य जै. वि. भा. भिक्षुविहार।**
**यह 'श्रावक-संबोध' संघ को 'तुलसी' का सादर उपहार॥**

भव्यता से परिपूर्ण 'जैनविश्वभारती' का भिक्षुविहार। वि.सं. 2053 शरद पूर्णिमा का दिन। आज मैं 'श्रावक-संबोध' नाम की यह कृति धर्मसंघ को सादर समर्पित कर रहा हूं।

## भाष्य

आचार्यश्री तुलसी ने तेरापंथ धर्मसंघ की साहित्य-संपदा के संरक्षण, विकास और विस्तार का जो काम किया है, वह अतीत में नहीं हुआ। 'तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह' का प्रसंग सामने आया, आचार्य भिक्षु का काफी साहित्य प्रकाश में आ गया। 'जय निर्वाण शताब्दी' मनाई गई तो जयाचार्य का साहित्य सामने आने लगा। उनके 'भगवती-जोड़' जैसे विशालकाय ग्रंथ को संपादित करके जनता तक पहुंचा देना वास्तव में ही बहुत महत्त्वपूर्ण काम हुआ है।

आचार्यश्री स्वयं एक ख्यातनामा साहित्यकार रहे हैं। जयाचार्य की तरह उनका साहित्य भी बहुआयामी है। उनकी कुछ कृतियां तो चतुर्विध धर्मसंघ को विशेष प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से ही निर्मित की गई हैं। 'श्रावक-संबोध' को भी इसी कोटि का ग्रंथ माना जा सकता है। आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रंथ की आदि में इसे धर्मसंघ को समर्पित करने का संकल्प व्यक्त किया और इसके समापन में अपने उसी संकल्प को पूर्णता देते हुए संघ के नाम इसका समर्पण किया है। श्रावक समाज के लिए तो यह ग्रंथ पठनीय, मननीय और स्मरणीय है ही, साधु समाज भी इसके माध्यम से श्रावक संघ की चेतना को जगाने में सफल हो सकता है।

https://books.jvbharati.org

जैन विश्व भारती

₹ 150

0040205121092

Sambodhi App
E-book Available